3.5

वेदान्तदर्शनस्य

वैदिकभाष्यम्

परमहंसपरिव्राजक-
स्वामिश्रीभगवदाचार्यस्य

प्रकाशक–
महान्त श्रीकृष्णदास
व्यवस्थापक –
श्रीरामानन्द-साहित्य-मन्दिर
अलवर (राजपूताना)

मूल्य ५)

मुद्रक–
वसन्त प्रिन्टिंग प्रेस
जयन्ती घेलाभाई दलाल
घीकांटा रोड, अहमदाबाद

श्रीरामगलोला मन्दिर, लहरीपुरा, वडोदेके परलोकवासी, स्वनामधन्य महान्त श्रीरामदासजीकी प्रसन्नताकेलिये ।

प्राथमिक वक्तव्य

वेदान्तप्रिय पण्डितमहानुभावो,

श्री व्यासजीके वेदान्तदर्शन को बने आज ५ सहस्र वर्ष हो चुके हैं। इस दर्शनपर, उपलब्ध किंवा अनुपलब्ध अनेक भाष्य, वृत्ति, व्याख्यानादि हो चुके हैं। मैंने इस दर्शनपर इस वैदिकभाष्यके निर्माणकी क्या आवश्यकता समझी, इसका उत्तर तो इस भाष्यके आद्योपान्त पठनसे ही मिल सकेगा।

आज सबसे प्राचीन जो भाष्य उपलब्ध है वह स्वामीश्रीशङ्कराचार्यजीका ही है। आज उसीका सर्वत्र प्रचुर प्रचार भी है। इसका कारण केवल यह है कि आजका वैज्ञानिक जगत् अभेदवादी बना है। वह अन्तमें कभी न कभी अपनेको परिपूर्ण ब्रह्म बना हुआ देखना चाहता है। इस अभेदवादका मूल ईश्वरवादमें–ब्रह्मवादमें समाया हुआ है। यदि ईश्वर और ब्रह्मको स्वीकार न किया जाय तो अभेदवाद स्वतः ही उड़ जाता है। परन्तु वेदान्तने ब्रह्मका स्वीकार किया है अतः उसे जीवके साथ ब्रह्मके भेद किंवा अभेदका विचार अवश्य करना ही पड़ता है।

यहां सभी भाष्यकारोंने उपनिषदोंका ही आश्रय लिया है। श्रीशङ्करस्वामीने जिन जिन श्रुतियों का उल्लेख अपने भाष्यमें किया, उनके अनुगामी भाष्यकारोंने भी उन्हीं श्रुतियोंका आश्रय लेना उचित समझा। वस्तुतः बात तो यह थी कि जिन श्रुतियोंसे श्रीशङ्कराचार्यजीने जीव–ब्रह्मका अभेद सिद्ध किया है उन्हीं श्रुतियोंसे भेदवादी

आचार्योंने जीव–ब्रह्मके भेदको सिद्ध करने का घोर प्रयास किया है। श्रुतियोंके ढूंढने और संग्रह करनेका श्रीशङ्करस्वामीके अतिरिक्त किसी भी वेदान्तभाष्यकारको तनिक भी श्रम नहीं करना पड़ा है। मैंने इस प्रथाका त्याग किया है। इस वैदिक भाष्यमें वेदोंके ही मन्त्र संगृहीत हुए हैं। उन्हींके द्वारा व्यास–सूत्रोंके आशयको समझनेका प्रयास मैंने किया है। यद्यपि यह बात मेरे ध्यानसे बाहर नहीं है कि व्यास-सूत्रोंमें अनेकस्थलोंमें ऐसा प्रतीत हुए बिना नहीं रहता कि यहां उपनिषदोंका ही आधार होगा; कितने ही सूत्र उपनिषदोंके अधारपर ही बने हुए प्रतीत होते हैं; तथापि मुझे विश्वास है कि आप विद्वन्महानुभाव जब इस भाष्यको पढेंगे तो अवश्य ही आपका पूर्वग्रह जाता रहेगा।

लगभग यह मान लिया गया है कि ब्रह्मविद्या–मोक्षविद्या उपनिषदोंमें ही है संहिताओंमें--वेदोंमें तो केवल कर्मविद्या है। मैं इस बातका बलपूर्वक निषेध करता हूं। वेदोंके अध्ययन करनेवाले विद्वान्को प्रतीत होगा कि उपनिषद् तो वेदोंकी पुत्रियां हैं। उनकी जननी संहिताएं हैं। संहिताओंमें ब्रह्मविद्या सुचारुरूपसे निरूपित है। किसीका उधर ध्यान ही नहीं गया है। मैं उपनिषदोंको वेदोंकी अपेक्षा उच्चपद तो दूर रहा, समानपद देनेको भी उद्यत नहीं हूं।

वेदों और उपनिषदों दोनोंके ब्रह्मप्रतिपादनकी पद्धतिमें कभी २ थोड़ा सा अन्तर प्रतीत होता रहता है। उसका कारण है। उपनिषद् ब्राह्मणों के अङ्ग हैं। उन्हींमेंसे निकली हैं। किसी भी वस्तुके प्रतिपादन-केलिये ब्राह्मणोंके ढङ्ग ही निराले हैं। चाहे जिस वस्तुको चाहे

जो वस्तु बनाने लगजाते हैं। जो जिस वस्तुको जानता है वह तत्स्वरूप बन जाता हैं, यह भी ब्राह्मणोंके कहनेका एक ढंग है। इसी ढङ्गसे "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"—"ब्रह्मका जाननेवाला ब्रह्म हो जाता है" उपनिषदोंमें कहा गया है। उपनिषदोंमें भी ब्राह्मण हैं। उपनिषद् भी ब्राह्मण ही हैं, इस कहने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। अथर्ववेदके अतिरिक्त अन्य वेदोंमें "ईश्वर" यह शब्द नहीं आया है। ईशान आदि शब्द आये हैं। ब्रह्म, आत्मा, ईशान आदि शब्दोंके अर्थोंमें कहीं किसी प्रकारका तारतम्य नहीं कहा गया है। अद्वैत-वादके आचार्यने ब्रह्म और ईश्वरको पृथक् कर रखा है। ईश्वर औपा-धिक है अत एव नश्वर है। ब्रह्म सत्य है—स्थिर है और निर्विकार है। जीव भी कोई नित्य तत्त्व नहीं है। वह भी औपाधिक ही है अत एव विनाशी है। वह जीव उपाधि टूटने पर ब्रह्मरूप बन जाता है। यदि जीवको ब्रह्मरूपताका प्रलोभन न हो तो वह शुभाशुभ कर्मोंकी अवहेलना कर सकता है। यह सब कहने सुननेकी अपेक्षा तो यह कहना उत्तम होता कि जैसे जलका ही विकृत रूप हिम है। चाकचिक्य, काठिन्य, तापद्रुति आदि जो धर्म सामान्य जलमें नहीं हैं वह उसकी विकृति हिममें जैसे आ जाते हैं वैसे ही भूत-विकार ही जीव है, भूतोंमें जो धर्म नहीं हैं अथवा अप्रकटरूपमें हैं वह जीवमें हैं वा प्रकटरूपमें हैं। कालान्तरमें हिम जैसे गलकर नष्ट हो जाता है, वैसे ही जीव भी कालान्तरमें नष्ट हो जाता है। ब्रह्म और ईश्वरको शपथ खा खाकर सिद्ध कर-नेकी अपेक्षा, ब्रह्मको जीवभाव देकर पुनः ब्रह्मभाव प्राप्त करानेकी

अपेक्षा, भेद और अभेदमें वाग्युद्ध और कभी २ हस्ताहस्ति, बाहाबाहवि, दण्डादण्डि करनेकी अपेक्षा, वैदिक और अवैदिकके झगड़ेसे भी छूटकर, उपर्युक्त प्रकारसे जीवसंस्कार सर्वश्रेष्ठ है। अस्तु।

वेदोंमें प्राकृत–भौतिक पदार्थोंको तो अनेक स्थलोंमें ब्रह्माभिन्न कहा गया है परन्तु जीवको कहीं ब्रह्माभिन्न कहा गया हो, यह मेरे ध्यानमें नहीं है। वेदोंमें जीवका पृथक् अस्तित्व है। वह अल्पपरिमाणवाला है। कहीं २ उसे विभु भी वेदोंमें माना गया है। विशिष्टाद्वैतवादियोंने शपथ खाकर प्रतिज्ञा ली है कि जीवको कभी विभु नहीं मानना। यह बहुत बड़ी निर्बलता है। यदि सब कुछ वेदोंके नामपर ही मानना है तो अनुकूल, प्रतिकूल सभी कुछ, वेदोक्त होनेसे मानना ही चाहिये। जिस प्रकारसे विशिष्टाद्वैतवादने ज्ञानको द्रव्य और गुण दोनों ही मान लिया है, ब्रह्मको साकार और निराकार भी मान लिया है, दिव्य और मानव भी मान लिया है वैसे ही यदि जीवको भी वेदोक्त पद्धतिसे अणु भी और विभु भी मान ले तो कुछ बिगडता नहीं है। अणु होगा तो भी उसमें दास्य, दैन्य, पारतन्त्र्य अमुक दशातक रहेंगे ही। श्रीउदयनाचार्यका जीव विभु है, महत्परिमाणवाला है तो भी उन्हें "ते तारणीयास्त्वया" "हे प्रभो तुम उनको पार करना" यह कहना ही पडा। आकाश विभु है तो भी ईश्वर के नियन्त्रणमें ही है। वैदिक ईश्वर सविशेष भी है, निर्विशेष भी है। सविशेष ही अधिकतया वर्णित है।

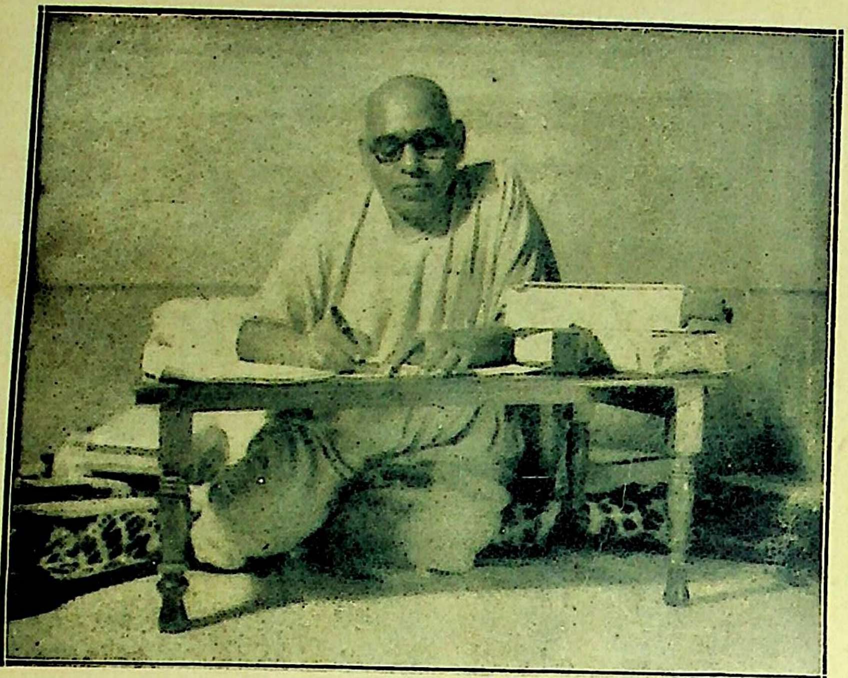
मैंने इस अध्यायकी बहुत बडी भूमिका पहिले से ही लिख रखी है परन्तु इस समय कागजके अभावसे और प्रेससङ्कटसे उसे छोड़

दिया है। उस भूमिकामें समस्त प्रथमाध्यायकी पूर्णरूपसे ४० पृष्ठोंमें विवेचना है। राममन्त्राचार्य होकर भी श्रीव्यासजी **अथातो राम-जिज्ञासा** न लिखकर, अथवा भागवतकी दृष्टिसे कृष्णभक्त होकर **अथातः कृष्णजिज्ञासा** न लिखकर ब्रह्मजिज्ञासाके झंझटमें क्यों पडे? भागवतमें सांख्यसिद्धान्तके उपदेशक होकर, महाभारतमें सांख्योंके बहुमानप्रदर्शक होकर सांख्यखण्डनमें यहां क्यों प्रवृत्त हुए? मध्वादि विद्याओंमें देवताओंके अधिकारके विचारमें उनका क्या तात्पर्य है? यह देव कौन हैं? व्यासके सम्बन्धमें पुष्कल विचार, वेदान्तदर्शनका निर्माण-काल, मीमांसादर्शनके शबरभाष्यका श्रीशङ्कराचार्यपर प्रभाव, भविष्यके व्याख्याताओंमें शङ्कराचार्यके अनुकरणकी प्रवृत्ति आदि अनेक प्रश्नों और विचारोंकी छानबीन उस भूमिकामें हुई है। यदि यह शरीर अब भी टिका हुआ रहेगा तो कभी उस भूमिकाका और वेदान्त-दर्शनके अवशिष्ट तीन अध्यायोंके वैदिकभाष्यका प्रकाशन अनुकूल समयमें हो सकेगा। अन्यथा सब कुछ दैवाधीन तो ह ही।

एक शुद्धिपत्र इसमें लगा दिया गया है। विद्वान् महानुभाव शुद्धिपत्रके अनुसार सुधारकर ही पढ़नेकी कृपा करें। यदि प्रमादवश अन्य अशुद्धियां रही हों तो उन्हें भी, मेरी दुर्बलताका सूचक मान-कर, दयालु पाठक सुधार लें। पृ० १९३ से २०१ तकका तो शुद्धिपत्र बन ही नहीं सका है। अधिक धनव्यय किये विना वह बन ही नहीं सकता था। अतः उन्हें भी विद्वानोंको ही स्वयं सुधारना है।

अहमदाबाद
गुरुपूर्णिमा २००४ वि०
जून १९४७

भगवदाचार्य



स्वामी श्री भगवदाचार्यजी महाराज

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-परमहंसपरिव्राजक-
स्वामिश्री-भगवदाचार्य-महाराज-प्रणीतेन
वैदिकभाष्येण समलङ्कृतम्

श्रीमद्भगवद्व्यासपादप्रणीतम्

वेदान्तदर्शनम्

प्रथमेऽध्याये प्रथमः पादः

ॐ जितमस्माकम् । उद्भिन्नमस्माकम् । ऋतमस्माकम् । तेजोऽस्माकम् । ब्रह्मास्माकम् । स्वरस्माकम् ॥ अथर्ववेदः ॥

जयन्तु मयि ता न्यस्ता गुरोराशीःपरम्पराः ।
यासामनश्वरीं छायामाश्रितः श्रियमश्नुवे ॥१॥

व्यासस्य हृदयोद्भूता मधुरा मदिरेक्षणा ।
समर्था परमार्थाय भारती शरणं मम ॥२॥

कस्यां तिथौ दिने कस्मिन्कस्मिन्मे पुण्यशालिनि ।
मनउन्माथिनी जाता हन्तेयं व्यासकन्यया ॥ ३ ॥

रूपमाधुर्यलावण्यसमताक्षमतावती ।
चक्षुरुन्मील्य दृष्टेयं केन नाक्षिमता सता ॥४॥

यैर्दृष्टा यैश्च नादृष्टा कीलितैरुभयैर्हृदि ।
तन्नामश्रुतिमात्रेण श्रिता भूधरकन्दराः ॥५॥

सहस्रैर्वत्सरैर्भूयो युवतीरसलम्पटैः ।
लालितालिङ्गिता भुक्ता श्यामैवाद्याप्यसौ स्थिता ॥६॥
सम्प्रदायाग्रहग्राहग्रासदंशनिपीडिता ।
चिरेण व्यथते ब्रह्ममीमांसेयमनीश्वरी ॥७॥
तदुद्धाराय यत्नोयमादृतः प्रथमो मया ।
स्वातन्त्र्यपदवीं प्राप्य क्षणं श्वसितु सुन्दरी ॥८॥
श्रीमद्भगवदाचार्यस्वामिनो यमिनो मम ।
एतद्वैदिकभाष्यं स्यात्सम्प्रसादाय सद्धियाम् ॥९॥

इदानीं प्रथामधिगतानि षडेव वैदिकदर्शनानि । तानि नानासमयानि नानामतानि च । न हि सर्वं सर्वस्य सम्मतमिति मानसशास्त्ररीतिमनुसृत्य स्वस्वविचारचारिमाणं प्रचारयितुं परमपुरुषार्थपदमधिगमयितुं च मनुजान्मनुजकल्याणकामाः पुराजाता महर्षयः साङ्ख्यादीनि शास्त्राणि प्रणिनिन्युः । तेषु न कस्यापि केनापि कात्स्न्र्येन सम्बन्धः । विरोधश्च स्पष्टः । कश्चित्सुरपतिपदप्रापककर्मप्रचारमेव कामं कामयते । कश्चिदनीश्वरभावमुद्भावयति । कश्चिद्योगेनैव निखिलकलङ्कपङ्काङ्कनिर्णेजनमीहते । कश्चिज्जातिच्छलादिज्ञानेनापि परमार्थं सिषाधयिषति । वेदाचार्यो भगवान्व्यासस्तु तमेव विदित्वातिमृत्युमेतीति वेदोपदेशदिशा विविधविषादसादेन स्वानुभूतिप्रसादेन प्रसादयितुं योग्यताभुजलतालिङ्गितांश्चेतनान्प्रति प्रतिजानीते—

(अथ प्रतिज्ञाधिकरणापरपर्यायब्रह्मजिज्ञासाधिकरणम् ॥१॥)

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥१।१।१॥

अस्मिन्नादिमे सूत्रेऽथशब्दो मङ्गलार्थः प्रयुक्तः । ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा । कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥ इतिस्मृतिवचनात्तस्य माङ्गलिकत्वम् । मङ्गलस्वरूपो हि भगवान् सूत्रकारो मङ्गलमुपमङ्गयितुमन्येभ्योपि मङ्गलरचनार्चने प्रावर्तिष्ट । अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथशब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवतीति तु न सदाचारमर्पयति । अवश्यमेव यदि प्रार्थितं मङ्गलप्रयोजनं कथं न मङ्गलार्थोऽथशब्दोऽत्राङ्गीकरणीयः? वाक्यार्थे समन्वयाभावान्न तथा क्रियत इति यदुक्तं तदचारु । सर्वत्रैव मङ्गलस्य वाक्यार्थे समन्वयाभावेपि मङ्गलं तु दृश्यत एव । अन्यत्र दृष्टं मङ्गलं विभिन्नवाक्यमितिचेदत्रापि विभिन्नवाक्यमेव । अथेति मङ्गलप्रयोजनकं पृथक्सूत्रमस्तु । द्वितीयं च सूत्रम् "अतो ब्रह्मजिज्ञासा" इति ॥ मङ्गलस्य वाक्यार्थे समन्वयाभावभीतिभाजां किमत्र च्छिन्नं भवति?

अथवा प्रारम्भार्थकोयमथशब्दः । आर्षीयं पद्धतिर्यदथशब्देन ग्रन्थारम्भो नाम । "अथ शब्दानुशासनम्" "अथ योगानुशासनम्" "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" इत्यादिषु तथैव दर्शनात् । अथशब्दस्यारम्भार्थकत्वेन ब्रह्मज्ञानेच्छारभ्यत इति सूत्रार्थोऽसङ्गतः स्यात्तस्या अनारभ्यत्वादितिवचनं तु राभसिकम् । अतो ब्रह्मजिज्ञासाप्रवर्तको ग्रन्थ आरभ्यत इति वक्तव्येतो ब्रह्मजिज्ञासेत्येवोक्तिर्जिज्ञासायाः प्राधान्यं द्योतयितुम् । तथा च तथाविधोस्य ग्रन्थस्यारम्भो नाक्षेपास्पदम् ।

अथवा ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासेत्येवार्थो विग्रहप्रत्यायितो नौपयिकः। जिज्ञासेत्यस्य सन्नन्तधातुरूपवृत्तित्वाद्वृत्तेश्च विग्रहवाक्यावयव-पदार्थेभ्यः परस्य विशिष्टैकार्थस्य वक्तव्यतया विचाररूपोर्थो-त्राभिप्रेतः। तस्यारम्भस्तु न स्यात्कस्यापि मनःक्षोभारम्भायेति।

नानन्तर्यार्थोयमथशब्दः। नातः प्राचीनं प्रकरणमुपसर्पद्भग-वता व्यासेन किञ्चिदुपन्यस्तं यदधिकृत्यायमथशब्द आनन्ता-र्यार्थं कुक्षावभिरक्षेत्। यदाकदाच तेनान्येन वा प्रसादितं यत्कि-ञ्चिदभिगृह्यानन्तर्यार्थकस्याथशब्दस्य प्रयोग आसत्त्यभावमपि पश्येत्। तथा च शाब्दबोध एव न स्यात्। शाब्दबोधे हि योग्य-ताकाङ्क्षासत्त्यादीनां नियतं कारणत्वं न परेषामपि तिरोहितम्। किं च न हि वेदाध्ययनानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा नियमेनोदियात्। वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रममिति मनुस्मरणाद्वे-दाध्ययनानन्तरं गार्हस्थ्यस्यैव स्वीकारात्। साधनचतुष्टयावा-प्त्यनन्तरमेव ब्रह्मजिज्ञासावकाशः। तच्च नाध्ययनकाल एवाधि-गम्यते। अथातो धर्मजिज्ञासेत्यत्र त्वानन्तर्यार्थक एवाथशब्दः। संभवात्। वेदाध्ययनानन्तरमेव कर्मप्रवृत्तिः साधीयसी स्यात्। वेदाध्ययनमविदधद्भिरपीदानीं प्रायेण सर्वैं मीमांसादर्शनमधी-यते। तेन नतरां नितरामथशब्द आनन्तर्य एवेति ब्रूमः। अत्र सूत्रकारस्याथशब्दोच्चारणेनैव मङ्गलावाप्तिरन्येषां तूच्चा-रणेनापि श्रवणेनापि चेति। अनन्वितोयमथशब्दः सूत्रेण। सूत्रं तु प्रतिज्ञाज्ञापकम् "अतो ब्रह्मजिज्ञासे" त्येव। अत इत्यत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः। अनेनेत्यर्थः। जिज्ञासाशब्दोत्र विचारे

रूढ इत्युक्तम् । एवं च ब्रह्मजिज्ञासेत्यस्य ब्रह्मविचार इत्यर्थः । ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । कर्मणि षष्ठी । तथा चायं सूत्रार्थः, अनेन ग्रन्थेन मया व्यासेन ब्रह्मविचारः कर्तव्य इति प्रतिज्ञायते । सामर्थ्यात्प्रतिज्ञायत इति क्रियापदमध्याह्रियते । न हि प्रेक्षावतां विचारः फलविरहितो भवितुमर्हति । अत्रापि ब्रह्मविचारेण सफलेनैव भाव्यम् । किं च तत्फलम् ? बन्धनिर्मोक्षः । बन्धश्चानादिसदसत्कर्मपरम्पराप्राप्तः । एवं च बन्धविनिर्मोक्षार्थो ब्रह्मविचारः कर्तव्य इति निर्गलितार्थः ।

अथवानन्तर्य एवायमथशब्दो वर्ततां नाम । ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यवनित्वेतिप्रख्याणां त्रयाणामाश्रमाणामनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येत्यर्थः । ननु यदहरेव विरज्येत्तदहरेव प्रव्रजेदितिश्रुतिर्वैयर्थ्यमिति चेन्न । तस्या विशिष्टाधिकारिविषयत्वात् । सामान्यो ह्येष आचार आश्रमादाश्रमं गच्छेदिति ।

अथ कमधिकृत्य विचारोयमारभ्यत इति विस्पष्टयितव्यम् । उच्यते । अधिकारिणमधिकृत्य । कोसावधिकारीति ? अधीतसाङ्गवेदोप्यनधिगततत्त्वः सुकुमारमतिसार इति । अनधीतसाङ्गवेदोपि ब्रह्मजिज्ञासासमुत्सुक इति वा । नैतन्मन्तव्यं गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणमेवाध्ययनम् । अधिक्रमीयत इत्यध्ययनमित्यधिकज्ञानमप्यध्ययनशब्दार्थः । अतथात्वे गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणरूपवेदाध्ययनवतोपि पुरुषस्य तदर्थानभिज्ञस्यात्राधिकारित्वे न किमपि कारणं पश्यामः । जातसंस्कारः

पुमानादौ वेदमधीत्य पूर्वमीमांसादिशास्त्रसहकारेण वेदार्थमवगच्छतीति कस्यचिद्वचनं नादर्तव्यम्। न हि पूर्वमीमांसा वेदार्थावबोधनाय प्रवृत्ता। अथातो धर्मजिज्ञासेत्येव तत्र प्रतिज्ञा। धर्मशब्देन च तत्र चोदनालक्षणो यागरूपो विशिष्टधर्म एव ग्रहीतव्यो न तु सर्वतन्त्रनियन्त्रितः सामान्यो धर्मः। नहि वेदमन्त्रप्रतीकग्रहणपुरस्सरं वेदव्याख्याने मीमांसाप्रवृत्तिर्दृश्यते। किं च न हि वेदेन सहैव सत्सत्ता पूर्वमीमांसा। पूर्वकालभवो हि वेदः। अपरकालभवा हि पूर्वमीमांसा। कथं तर्हि वेदार्थावबोधने तस्या नियतं सहकारित्वं नाम? मीमांसाप्रादुर्भावात्प्राग्यथा वेदार्थावबोध उदेति स्म तथैवागतायां मीमांसायामपि किं न स्यात्? स्यादेतत्। अपरोप्यधिकारी। असौ कः? "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" इत्युक्तदिशा शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धासम्पन्नस्तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते, भूमा तदमृतमतोन्यदार्तमित्यादिविवेकवान् परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायादितिश्रुत्युपदिष्टमनुसृत्य निर्वेदवांश्च।

अन्यदपि किञ्चित्प्रासङ्गिकं गवेषणीयम्। शास्त्रेषु प्रायेण सर्वत्रैव सर्वस्याधिकारमीमांसा दृश्यते। ब्राह्मणेनेदं कर्तव्यं क्षत्रियेणेदमाचरणीयं वैश्येनेत्थं व्यवहर्तव्यं शूद्रेण चेत्थं वर्तितव्यमिति। अत्रेदं विचार्यते ब्रह्मजिज्ञासापि नियताधिकारैवानियताधिकारा वेति। किं तावत्प्राप्तम्? नियताधिकारेति। कुतः?

शास्त्रैकगम्यत्वात्तस्याः । शास्त्राणि च नियताधिकाराणि । ब्राह्मणक्षत्रियविडतिरिक्तस्य कस्यापि वेदादिषु नाधिकार ः श्रूयते स्मर्यते वेति । सर्वाधिकारेति तु तत्त्वविदः । श्रोतव्यं श्रुतिवाक्येभ्य इत्युक्तदिशा यद्यपि ब्रह्मजिज्ञासायां श्रुतेर्नैयत्यं तथापि सा सर्वाधिकारैव । न वेदा नियताधिकाराः । यदि सर्वजनीनो हि सर्वेश्वरो न नियताधिकारः कथं वेदाः परिमिताधिकारा भवितुमर्हन्ति ? न हि वेदेषु परिमिताधिकारत्वं तेषां कुत्रापि प्रतिपादितं दृश्यते । किं च ब्राह्मणत्वादि हि सर्वं व्यवहारार्थं व्यवहारसौकर्यार्थं च प्रकल्पितमेव, न वास्तविकम् । तथैव श्रूयते । तथा हि,"यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् । मुखं किमस्यासीत्किं बाहू किमूरू पादा उच्येते" (शु० यजु० ३१।१०) इति । यद्यं पुरुषं विराट्पुरुषं सर्वथाज्ञातं व्यदधुः प्रत्यपीपदन्विद्वांसस्तं कतिधा कतिभिः प्रकारैः । प्रकारार्थे धा । व्यकल्पयन् कल्पितवन्तः ? अविवृतोयं प्रश्नः । उत्तरार्धेन च तं विवृणोति । अस्य सुमेधोभिः प्रकल्पितस्य प्रथमं प्रतिबोधितस्य पुरुषस्य सर्वगस्य मुखं मुखमिव किमासीत् ? बाहू भुजौ किमास्ताम् ? ऊरू सक्थिनी जानुनोरुपरितनौ भागौ कावास्ताम् ? पादौ चरणौ चलनसाधनभूतौ किमुच्येते कावुच्येते ? एतद्धि प्रश्नस्वरूपम् । नहि परमात्मनो जगदात्मनो मुखाद्यवयवाः सन्ति । येषां च भवन्ति ते, न ते प्रष्टव्या भवन्ति किं युष्माकं मुखं किं च बाहू इति । सर्वेषां मुखमेव मुखं बाहू एव बाहू ऊरू एवोरू पादावेव च पादौ भवतः । एतादृशः प्रश्नस्तदानीमेवोपलब्धसत्तो भवति यदान्यस्य

स्थानेन्यत्प्रकल्पनीयं भवति। विराड्हि निरवयवः। अतस्तस्य कल्पिता एवावयवाः। एवं च निरवयवस्यापि विराजो मुखत्वेन किं कल्पितमासीद्बाहुत्वेन च किमभिहितमासीदूरुत्वेन किं व्यवस्थापितमासीत्पादत्वेन च किं गृहीतमासीदिति निरवयव-पुरुषावयवकल्पनाप्रश्नः। न हि कश्चिन्मुखाद्यवयवोपेतं देवदत्त-मुपसृत्य जिज्ञासते किं तत्र मुखमिति। अपृष्ट्वापि विजानात्येवे-दमस्य मुखमिति। अतो निर्मुखादेरेव पुरुषस्य मुखादिकल्पना-विषयकोयं प्रश्नः। अग्रिमया चानामयया श्रुत्योत्तरं प्रदीयते— "ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥" (शु० य० ३१।११) मुखं किमासीदि-त्यस्य प्रथमस्य प्रश्नस्योत्तरं "ब्राह्मणोस्य मुखमासीदि"ति। अस्य बाहू किमास्तामिति द्वितीयस्य प्रश्नस्योत्तरं "बाहू राज-न्यः कृत" इति। ऊरू किमस्येति तृतीयस्योत्तरम् "ऊरू तदस्य यद्वैश्य" इति। पादावस्य किमुच्येते इत्यन्तिमस्य प्रश्नस्योत्तरं "पद्भ्यां शूद्रो अजायते"ति। पद्भ्यामिति प्रथमार्थी पञ्चमी। प्रकरणात्प्रश्नस्यानुगुणाच्च। न हि पूर्वमन्त्रे शूद्रस्य जनिवि-षयकः पद्भ्यां किं जातमिति वा प्रश्नः। पादौ किमुक्ता इत्येव प्रश्नः। तस्य शूद्रः पादावुक्ता इत्येतन्मात्रेणैवोत्तरेण भाव्यम्। पद्भ्यामिति पञ्चमीदर्शनेन मुखादिष्वपि पञ्चमीकल्पना न कथ-ञ्चिदौचित्यं सञ्चिनोति। प्रश्नस्वरूपविरोधात्। प्रतिवक्तव्य-स्य वस्तुनो निर्देशः प्रथमयैव युक्तः। "स मुखतस्त्रिवृतं निरमि-मीत तमग्निर्देवतान्वसृजत गायत्री छन्दो रथन्तरं साम ब्राह्मणो

मनुष्याणामजः पशूनां तस्मात्ते मुख्या मुखतो ह्यसृज्यन्त" (तै० सं० ७।१४) इति तैत्तिरीयसंहितायां चन्द्रोक्तिमनुसृत्य-र्ग्यजुरथर्वणां बहूनां वाग्विभङ्गो न प्रासङ्गिकः। एकेन बहूनामनुरोधोनुसर्तव्यो भवति न तु बहुभिरेकस्य। न च "चन्द्रमा मनसो जातः" (शु०य० ३१।१२) "नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्" (शु०य०३१।१३) इत्युत्तरमन्त्रयोः पञ्चम्या एव दर्शनात्कुतो नात्रापि ब्राह्मणोस्य मुखमितिमन्त्रे पञ्चमीकल्पना युक्तेतिवाच्यम्। समानप्रकरणयोस्तदुत्तरपठितयो "यत्पुरुषेण हविषा" (शु०य०३१।१४) "सप्तास्यासन्परिधयः" (शु०य०३१।१५) इतिमन्त्रयोर्वसन्तग्रीष्मशरदादिषु परिधिसमिदादिषु च प्रथमाया एव दर्शनात्प्रश्नानुगुणस्यैवोत्तरदेहस्य कल्पनीयत्वात्। तैतिरीयसंहितावचनं तु ब्राह्मणत्वात्कथञ्चित्समाधेयम्। संहितापेक्षया ब्राह्मणमवरं प्रमाणम्। मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमिति वचनात्तैत्तिरीयसंहिताया अपि वेदत्वमिति न भ्रमितव्यम्। तत्र ब्राह्मणत्वस्यैव प्राधान्यात्। यस्य कस्य चिद्वचनेन यस्य कस्यापि ग्रन्थस्य वेदत्वस्वीकारे समर्थानर्थनिपातभयाच्च। मन्त्रब्राह्मणयोरित्यस्य याज्ञिकक्रियाप्रक्रियानिर्वाहकत्वाच्च। एवं च ब्राह्मणक्षत्रियत्वादीनां कल्पनयैव सिद्धत्वात्परमार्थिकवस्तुनो ब्रह्मणो जिज्ञासायां तदनुपयोग एव विवेकिविवेकसिद्धः। यस्य कस्यचिदपि जात्यावरावरस्यापि हृदये ब्रह्मजिज्ञासोदियाच्चेत्को नाम समर्थस्तां शमयितुम्? यथा हि ब्राह्मणादीनामहं ब्राह्मणः क्षत्रियोहमित्यादिरूपमज्ञानं शूद्राणामपि तथैव। यदि सर्वत्राज्ञानं

समानं ज्ञानेनापि समानेनैव भवितव्यम् । युगधर्मो हि बलवान् । अस्मिन्युगे सर्वत्र सर्वेषामधिकारः । किं च कस्य वेदाधिकारः कस्य च नेति वेदैरेव वक्तव्यम् । मौनमेवात्रालम्बन्ते वेदाः । अथवा "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः" (शु०य० २६।२) इतिमन्त्रेण वेदेषु सर्वाधिकार एव प्रतिपाद्यते । इदमग्रे स्फुटतमं भविष्यति । "कपिलाक्षीरपानेन ब्राह्मणीगमनेन च । वेदाक्षरविचारेण शूद्रश्चण्डालतां व्रजेत् ॥" शूद्रो वर्णश्चतुर्थोऽपि वर्णत्वाद्धर्ममर्हति । वेदमन्त्रस्वधास्वाहावषट्कारादिभिर्विना ॥" इत्यादीनि स्मृतिवचनान्यकिञ्चित्कराणि । वेदातिरिक्तेन येन केनापि किञ्चित्प्राग्भवीयेनोक्तं वेदविषये प्रामाण्यमनुधावेच्चेद्-द्यापि यस्य कस्यचिद्विदुषोऽविदुषो वा यद्वा तद्वा वचनं प्रमाणं भवितुमर्हति । ते पूर्वजत्वेन सत्काराही इति चेदद्यतना अपि येषां केषांचित्पूर्वजा भवेयुरेव तथा च कथं न तद्वचनं सत्कार्यं भवेत्? अपाकरणीयो मोहः । न व्यामोहो निषेवणीयः । परमविशुद्धानां हि वेदाना-मध्ययनेन वाक्यार्थविचारेण च कथं कस्यचिच्चण्डं चण्डालत्वमिति न विद्मः । "भारतं पञ्चमो वेद" इतिविज्ञानेन वेदतौल्याद्भार-ताध्ययनेनापि शूद्राणां पापाधायकेनैव भाव्यम् । न च तत्तथा । भारतपुराणयोः श्रवणाध्ययनयोः स्त्रीशूद्रयोरधिकारस्यापरा-हतत्वात् । अलमिह काकदन्तपरीक्षया ।

जिज्ञास्यं च तद्ब्रह्म निर्विशेषमित्येके । "यत्तद्रेश्यमग्राह्यम-गोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सु-

सूक्ष्मं तदव्ययम्" (मु० १।१।६) "विरजं ब्रह्म निष्कलम्" (मुण्ड० २।२।९।) "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वे०६।१९) इत्याद्युपनिषदक्षराक्षरवर्णनात्। "स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्" (शु०य०४०।८) इत्यादिमन्त्रवर्णाच्च। सविशेषं तदित्यन्ये। इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥" (ऋ०१।१६४।४६) दीर्घतमसोस्मिन्मन्त्रे दिव्यैश्वर्यविशिष्टत्वादिन्द्रत्वं दीनेषु स्निग्धत्वान्मित्रत्वं वरणीयत्वात्पापशापतापतापकत्वाद्वा वरुणत्वं सर्वेषामुपासकानां साशाभिलाषपूरकत्वात्सुपर्णत्वं सर्वसृष्टिनिगरणसामर्थ्यवत्त्वात्तल्लीनात्मनीनजनमानस्त्यानस्तावकत्वाद्वा गरुत्मत्वं सर्वनियामकत्वाद्यमत्वं सर्वविकारावकारपूर्वकाधिकारावाप्तसंस्कारसत्कारवतां भक्तिमतां हृदयेषु वर्धनशीलत्वं चेत्यादिविशेषाणां ब्रह्मण्येव प्रतिपादनात्। उभयविधप्राप्ताप्तप्रवचनात्तदुभयमिति केचित्। निर्विशेषसविशेषेत्यादिनिरूपणप्रकारस्य वाग्व्यवहार्यत्वाद्ब्रह्मणश्च वाचामगोचरत्वान्न तत्तदन्यतरामपि भूमिकां स्पृशतीतिविवेकिनः।

पुनरपि तज्जिज्ञास्यं ब्रह्म वैदिकं वा ब्राह्मणं वौपनिषदं वेतिविचारणीयम्। वेदेषु प्रतिपादितं वैदिकम्। ब्राह्मणेषु प्रतिपादितं ब्राह्मणम्। उपनिषत्सु प्रतिपादितमौपनिषदम्। कथमिदं जिज्ञासाभूमिं स्पृशति तद्ब्रह्म वैदिकं वा ब्राह्मणं वौपनिषदं वेति? उच्यते। वैदिकं ब्रह्म त्ववन्नादिरूपमेव। तदेव चेदत्राभिप्रेतं व्यर्थैव जिज्ञासा। सर्वविदि-

तत्वात्तस्य। ब्राह्मणं ब्रह्मापि न वैदिकाद्ब्रह्मणोतिरिच्यते। वेदव्याख्यानं हि ब्राह्मणं भवति। अतस्तदपि न जिज्ञास्यम्। अवशिष्टमौपनिषदं ब्रह्म। तत्तु द्विविधम्। अद्वैतं विशिष्टाद्वैतं चेति। विशिष्टाद्वैतनिर्देशेन सर्व एव जीवब्रह्मभेदवेदिनः संगृहीता वेदितव्याः।

सत्यम्। अनभिज्ञोसि वैदिकमर्यादारहस्यस्य। तत एव सशङ्को निश्शङ्कमेवमभिधत्से। शृणु चात्र रस्यं रहस्यं सावधानमनाः। वेदव्याख्यानत्वाद्वेदाव्यतिरिक्तत्वं ब्राह्मणस्येति तवागुर्वी गीर्गरलायते। व्याख्यानेषु व्याख्यातॄणामेव प्रतिभा प्रतिभासते। तेषां विद्या बुद्धिवैभवं कल्पनापाटवं मतमभिमतं चेत्यादीनि तत्र निदर्शितानि भवन्ति। न हि साकल्येन व्याख्येयग्रन्थस्य वास्तविकं स्वरूपं व्याख्यानेषु निरूपितं भवति। त्वद्रीत्या तु विभिन्नव्याख्यातृभिर्विभिन्नमतयुग्भिर्व्याख्यानैर्व्याख्यातानामुपनिषदां विभिन्नविरोध्यर्थप्रतिपादनपरतया तत्त्वावबोधनाक्षमतया च हेयत्वप्रसङ्गः। अतो ब्राह्मणानि स्वरीत्यैव ब्रह्म प्रतिपादयन्ति। उपनिषद्विषये किञ्चिदधिकमध्यूहनीयम्। ईशादिबृहदारण्यकान्ता ह्युपनिषदः प्रायेण प्रसिद्धिपथमुपगताः। तास्वीशावास्योपनिषच्छुक्लयजुर्वेदस्य चत्वारिंशोध्यायः। सामवेदीयजैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मणान्तर्गता च केनोपनिषत्। कठोपनिषत्तु सङ्ग्रहरूपापि स्वतन्त्रस्वरूपापि। तैत्तिरीयोपनिषदपि तैत्तिरीयारण्यकान्तर्गतत्वादारण्यकसंज्ञां भजन्त्येवोपनिषत्त्वमवगाहते। ऐतरेयोपनिषत्त्वैतरेयारण्यकस्य चतुर्थपञ्चमषष्ठाध्याया-

तिमकैव । छान्दोग्योपनिषदपि सामवेदीयताण्ड्यमहाब्राह्मणस्यान्तिमो भागः। बृहदारण्यकोपनिषच्च शतपथब्राह्मणान्तर्गता । अन्तिमे द्वे उपनिषदौ तु कर्मकाण्डकलिलाकलितकलेवरे एव दृश्येते । अल्पीयानेवौपनिषदो भागः । शुद्धब्रह्मसामीप्योपनयनसामर्थ्यवत्त्वमेवोपनिषत्त्वम् । एवं चौपनिषदं ब्रह्मापि ब्राह्मणब्रह्मणो न साधिष्ठं भिद्यते । एवं च वेदाश्रिततया ब्राह्मणानां ब्राह्मणाश्रिततया च बहूनामुपनिषदां वेदप्रतिपादनवर्त्मनैव ब्रह्मप्रतिपादनीयता तासां प्रतिपन्ना भवति । संहिताविरुद्धवाग्व्यापारणे नाधिकारस्तासाम् । एवं च वैदिकमेव ब्रह्मात्र भगवता श्रीराममन्त्राचार्येण व्यासेन जिज्ञासितम्। तदेव यदि ब्राह्मणैरपि प्रतिपाद्यते भवतु नाम ब्राह्मणं तत् । एवं चोपनिषद्भिरप्यज्ञाननिषद्वरीविभ्रान्तानां देहभृतां श्रेयस्सम्पादनाय वैदिकमेव ब्रह्म प्रस्तूयते चेदस्तु च तदौपनिषदमपि। न कापि नो हानिः । सर्वथा वैदिकमेवात्र ब्रह्म जिज्ञास्यमित्यायातम्। तच्च नाबन्नादिरूपमेव।

अथ वैदिकब्रह्मस्वरूपप्रदर्शनम् । "अथा ते अङ्गिरस्तमाग्ने वेधस्तम प्रियम् । वोचेम ब्रह्म सानसि ॥" (ऋ० १।७५।२) अनेन मन्त्रेण निषेवणीयं प्रियं ब्रह्म ते व्याख्यास्यामीति गोतमेनर्षिणा विदुषे स्वशिष्यायाङ्गिरोन्वयान्विताय प्रतिज्ञाय "कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः । को ह कस्मिन्नसि श्रितः॥" (ऋ० १।७५।३) इति मन्त्रेण ब्रह्मस्वरूपं निदर्श्यते । मन्त्राक्षरार्थस्तु, हे अग्ने, आत्मविषयकरतिप्रभासितान्तरात्मन् प्रियशिष्य, जनानां सर्वेषां प्राणिनां ते तव च दाश्वध्वरः सर्वश्रेयःप्रदाता

स्वयमविनाशी च भवन्सर्वेषां विनाशाद्रक्षको रक्षणसमर्थो जामिर्बन्धुः कः? को ह असि? कस्मिंश्च श्रितः स्थितोसीति? अनेन मन्त्रेण प्रश्नपुरस्सरं ब्रह्मस्वरूपमेव समवभासितम्। तथाहि, तव बन्धुः कः? यस्तव बन्धुः स एव ब्रह्म। बन्धुस्त्वन्योपि भवेत्परन्तु सर्वश्रेयःसमर्पयितृत्ववान्स्वयमविनाशी च सन्विनाशाद्रक्षितृत्ववांश्च स नैव भवितुमर्हति। एवं कस्मिन्नसि श्रित इतिप्रश्नेनाधारो निर्धारितः। यश्च तवाधारस्तद्ब्रह्म। कोसीत्यनेन तद्ब्रह्मधार्योसीति स्फोरितम्। बन्धुत्वधारकत्वादिविशेषवद्ब्रह्मेतितात्पर्यम्।

"अस्माकं व इन्द्रमुश्मसीष्टये सखायं विश्वायुं प्रासहं युजं वाजेषु प्रासहं युजम्। अस्माकं ब्रह्मोतयेऽवा पृत्सुषु कासु चित्। न हि त्वा शत्रुः स्तरते स्तृणोषि यं विश्वं शत्रुं स्तृणोषि यम्॥ (ऋ० १।१२९।४) इत्यस्यामृच्यपि ब्रह्मस्वरूपविवृतिः। अस्या ऋच ऋषिः परुच्छेपो वदति—अस्माकं वो युष्माकं चेष्टये निखिलेष्टलाभाय श्रेयःसमवाप्तये ब्रह्मोश्मसि कामयामहे। कीदृशं तद्ब्रह्म यदवाप्याखिलेष्टसमागमो भवतीति विशेष्यते; इन्द्रं परमैश्वर्योपेतं प्रकाशस्वरूपं वा। सखायमजरत्वामरत्वानादित्वादिधर्मैः समानख्यातिमन्तम्। विश्वायुं विश्वं सर्वमयत इति विश्वायुस्तं सर्वव्यापकम्। प्रासहं क्षमाशीलम्। युजं सर्वदा युक्तं चिदचिद्विशिष्टम्। वाजेषूत्कृष्टगतिषु प्रासहं विघ्नविनाशकानां निवर्तकम्। वाजेष्वपि मोक्षदशायामपि युजं मुक्तजीवैर्युक्तम्। विशेषणपदेषु सर्वत्र पुंस्त्वमार्षम्। एतादृशं कामितं ब्रह्मोपदि-

शेति परुच्छेपः शिष्यैः प्रार्थ्यते—अस्माकमूतये रक्षायै जनन-जरामरातिक्रमणाय ब्रह्म अव देह्युपदिशेतिभावः। अवेत्युपसर्गवशाद्देहीतिक्रियाध्याहारः। इत्यर्धर्चेन ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादितं भवति। ततः परं ब्रह्मावाप्तेः फलं विव्रियते। तथाहि, ब्रह्मावाप्तं त्वां न हि कश्चन शत्रुः कामक्रोधादिरूपः स्तरते हिनस्ति। यं शत्रुं त्वं स्तृणोषि हिनस्सि न स त्वां स्तृणोतीति।

प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय। वि यो जघान शमितेव चर्मोपस्तिरे पृथिवीं सूर्याय ॥ (ऋ० ५।८५।१) अनयर्चा कस्मै ब्रह्मोपदेशः कर्तव्य इतिमिषेण ब्रह्मस्वरूपं विवरीष्यन्नत्रिराह-सम्राजे सम्यग्ज्ञानचारित्रादिभिः प्रकाशमानाय श्रुताय विश्रुताय बहुश्रुताय वा वरुणाय वरणीयाय शिष्याय ब्रह्म परं ब्रह्म प्र अर्चोपदिश। किं भूतं ब्रह्म ? बृहद् व्यापकम्। गभीरमनवगाहमनाद्यनन्तं च। प्रियं सर्वेषां प्रियकरं प्रेमपात्रं वा। यो यद्ब्रह्म शमिता सर्वेषां शमयितृ शान्तिकरं सत्सूर्याय सरणशीलाय जीवाय जीवजाताय चर्मेव पृथिवीमुप स्तिरे प्रस्तारयामास वि जघान च विस्तृतां भूमिं व्याप्नोत्। तत्कृत्वा तदेवानुप्राविशदित्युपनिषद्वचनमिमामेवर्चमनुधावति। अस्यामृचि ब्रह्मणो बृहत्त्वं गभीरत्वं प्रियत्वं पृथिवीकारणत्वं चोपदिष्टं भवति।

"एवा ता विश्वा चकृवांसमिन्द्रं महामुग्रमजुर्यं सहोदाम्। सुवीरं त्वा स्वायुधं सुवज्रमा ब्रह्म नव्यमवसे ववृत्यात् ॥" (ऋ० ६।१७।१३)। अस्या अर्थः, ता तानि प्रसिद्धान्येतानि

विश्वा विश्वानि जगन्ति चक्रवांसं कृतवत्, इन्द्रं सच्चिदानन्दत्वादिमहैश्वर्यसंवर्धितं महान् महदुग्रं भास्वरमजुर्यमजरं सहोदां कामादिदुराधर्षारिमर्दनक्षमबलप्रदं सुवीरं शोभना वीरा उपासनावर्त्मनि समवस्थितानामवरोधानां निरोधसमर्था उपासका यस्य तत्, स्वायुधं शोभनमायुं गतिं दधातीति तथाभूतं, सुवज्रं समीचीने पथि प्रवर्तयितृ नव्यं स्तुत्यं ब्रह्मावसेवनाय रक्षणाय त्वा त्वामुपासकं प्रत्यावव्रत्यादावर्ततां सर्वथा तव समीपे तिष्ठत्विति भावः। अनेन जगत्कर्तृत्वं जीवेभ्यः रमणीयस्पृहणीयगतिप्रदातृत्वं सन्मार्गनेतृत्वमित्यादिनिरूपेणेन ब्रह्मणः सविशेषत्वमेव प्राचीकशदयं मन्त्रः। सन्त्येतादृंशि वचांसि बहूनि प्रतिपादयन्ति ब्रह्मणः सविशेषत्वमिति।

ननु नैते धर्माः शुद्धस्य ब्रह्मणः। औपाधिकस्य हि ते सर्वथा मन्तव्याः। उपाधिवशात्सर्वं सर्वत्र संभवति। अमलीमसे नभसि नैल्यं मालिन्यं वा निर्वारिणि प्रदेशे वारि शुक्तौ रजतं रज्जावुरगं मन्यन्त एवोपाधिव्याधिनिपीडिताः। नेति ब्रूमः। उपाधिर्हि माया। सा हि शक्तिसंकोचिका ज्ञानाभिभाविका च। नहि सर्वशक्तेः शक्तिः संकोच्या ज्ञानैकस्वरूपस्य च ज्ञानमभिभवनीयम्। एवं च नास्त्येवौपाधिकं ब्रह्म। न हि धर्मितया ब्रह्मणश्छिन्नं भवति ब्रह्मत्वम्। न हि दयाधर्मेण कोपधर्मेणेव कोपि विकारममिभजते। विकृतो हि धर्मो विकृतिमुत्पादयति। न हि विकृतधर्मराशेराशा शिवस्वरूपे शुचिनि ब्रह्मणि सेवनीया। नो वा द्वैतापत्तिः। शशकमशकादीनां सत्त्वेपि

निर्जने वने योगं युञ्जानस्य योगिनो सत्स्वपि चित्तचैत्तादिषु मनसश्च यथैकाकित्वं न विहन्यते तथैव दयादाक्षिण्यवात्सल्यादीनां स्वरूपधर्माणां सत्त्वेपि परस्य ब्रह्मणोद्वैतं न भज्येत। न च धर्मैर्धर्मित्वं व्रजतो ब्रह्मणः सशरीरत्वभीर्विभावनीया। जगज्जनयितुर्ब्रह्मण औपाधिकत्वमङ्गीकुर्वतोपि भवतो मते यथा न शरीरित्वाशङ्का तथैव धर्मिवादिनयेपि नो सा। का भीतिर्भापयते भवन्तं भीरुभैरवम्? तिष्ठतु तावत्सविशेषं ब्रह्म। अथवावतिष्ठतां निर्विशेषमेव तत्। तथापि न क्षतिः। विशेषो हि कश्चन भेदको धर्मः। भेदश्च सत्यां द्वित्वकल्पनायामुपतिष्ठते। शरीरित्वं ब्रह्मणः। शरीरत्वं च जीवानाम्। न हि शरीरशरीरिणोर्भेदो विभाव्यते। भेदाभावाद्विशेषाभावो विशेषाभावाच्च निर्विशेषं ब्रह्मेति न विवादावकाशः ॥१।१।१॥ इति प्रतिज्ञाधिकरणापरपर्यायब्रह्मजिज्ञासाधिकरणम् ॥१॥

(अथस्वरूपबोधकापरपर्यायजन्माद्यधिकरणम् ॥२॥)

किं तद्ब्रह्म यस्य विचार आरम्भणीय इत्याकाङ्क्षायामाह—

जन्माद्यस्य यतः ॥१।१।२॥

जन्मादीति, अस्येति, यत इति त्रिपदमिदं सूत्रम्। अस्य पुरोवर्तमानस्य जगतो यतो यस्माज्जन्मादि भवति तज्जिज्ञासितं ब्रह्मेति वेदितव्यम्। यस्य जन्म भवति तस्य स्थित्यनवस्थिती अपि भवत एव। एवं चादिशब्देन स्थितिः प्रलयरूपानवस्थितिश्च ग्रहीतव्ये। यस्मादस्य पुरोदृश्यमानस्य जगतः सृष्टिस्थिति-

प्रलया भवन्ति तदेवात्र जिज्ञास्यं ब्रह्मेति हृदयम्। जगज्जातं न वेत्यन्यान्वेषणा। इदं सर्वं मत्कृतन्यायकुसुमाञ्जलिविमर्शे द्रष्टव्यम्। शब्दप्रामाणिकस्तु भगवान्बादरायणः। यच्छब्द आह तदस्य प्रमाणम्। "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥" "समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥" "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥" (ऋ०१०।१९०।१-३) इत्युत्पत्तिमेवाह शब्दः। "स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्" (शु०य०१३।४) इति स्थितिमप्याह श्रुतिशब्दः। "सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ। इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर॥" (अथ०।६।६३।४) इति प्रलयमप्याह श्रुतिशब्द एव। जगतोस्य कारणत्वं ब्रह्मण्यभिन्ननिमित्तोपादानरूपेण। उपादानं हि परिणामि भवति। ब्रह्मण्युपादानत्वस्वीकारेण परिणामित्वमपि प्रसज्येत। न प्रसज्येत। कुतः? अचिच्छरीरद्वारकस्यैव ब्रह्मण उपादानत्वस्वीकारात्। परिणमच्छरीरं न शरीरिणि शुद्धे परमात्मनि जीवात्मनि वा दोषमुपसारयति। नहि बाल्याद्यवस्थां भजतो लौकिकशरीरस्य परिणामेन शरीराध्यक्षे जीवात्मनि परिणामं कोपि स्वीकुरुते। एवं च जगज्जन्मादिकारणत्वं जिज्ञासितस्य ब्रह्मणो लक्षणमनुग्राह्यम्। तदिदं लक्षणं न केवलं तटस्थलक्षणं स्वरूपलक्षणमपि। नैतत्कारणत्वमौपाधिकं स्वाभाविकमेव। "विद्वांग्ने वयुनानि०" (ऋ० १।७२।७) इति मन्त्रणीत्। प्रतिक्षणं हि जगदुत्पादनमुत्प-

न्नस्य च तस्य च रक्षणं रक्षितस्य च प्रलयनमविकारं सदपि जगद्विलक्षणशक्ति तद्ब्रह्म करोत्येव।

स्यादेतत्। अचिच्छरीरद्वारकस्यैव ब्रह्मण उपादानत्वस्वीकारादिति तु भवदुक्तं न युक्तम्। कस्मात्? श्रुतिविरोधात्। श्रुतयो हि परमात्मन एव जगद्रूपेण भवनं विभावयन्ति। ता बहुश्रुताः श्रुतयश्चेमाः; "रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥" (ऋ० ६।४७।१८) "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। (ऋ० १०।९०।२) "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" (ऋ० ८।५८।२) इत्याद्याः। सत्यम्। नैताः श्रुतयस्त्वदभिमतमनुबध्नन्ति। बध्नन्ति च ताः सततमस्मद्विभाविते भावे महानुभावं भावम्। तथा हि, इन्द्रः परमैश्वर्यसम्पन्नः परमात्मा रूपंरूपं प्रतिरूपं प्रतिशरीरमित्यर्थः। रूप्यत इति रूपम्। प्रतिरूपस्तत्तुल्यरूपो बभूव जातः। अस्य परमात्मनस्तत्क्षित्यबन्नादिरूपेण दृश्यमानं रूपं प्रतिचक्षणाय तस्यैव प्रतिवेदनाय भवति। जगति भूतानां भवतां भविष्यतां च वस्तूनां मनोहारीणि रूपाणि परमात्मनो वाङ्मनसागोचरमद्भुततमं सामर्थ्यं ख्यापयन्ति तत्तद्वस्त्वन्तर्यामितया सर्वव्यापकतया च तत्र तत्र तस्य स्थितिमप्यवगमयन्तीतिभावः। एतदेवाहोत्तरेणार्धर्चेनेन्द्रो मायाभिरिति। स चेन्द्रः परमात्मा मायाभिर्द्वारीभूताभिर्मायाः प्रकृतीरचित्तत्त्वं द्वारकृत्येतिभावः। पुरुरूपमीयते बहुरूपो भवति। अचितं द्वारीकृत्य बहुरूपभवनम-

चिद्वारकस्यैव ब्रह्मण उपादानत्वं बोधयति। पुरुष एवेदं सर्व-मिति शरीरशरीरिणोरभेदेनोक्तिः। अतिसंश्लिष्टतयावस्थितयो-र्द्वयोरन्यतरेण व्यवहारो वा लोकसिद्धः। तृणसंवृतायां भूमावु-पविष्टस्य भूमावुपविष्टस्तृणेषूपविष्टो वेतिवत्। एकं वा इदं वि बभूव सर्वमिति व्याख्यायते। "एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः। एकैवोषाः सर्वमिदं वि भात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" इति सम्पूर्णो मन्त्रः। एक एवाग्निर्लौकिको बहुधा बहुभिः प्रकारैः समिद्धः प्रदीप्तो भवति। एकः सूर्यो दिवाकरो विश्वमनु विश्वमनुप्रविश्य प्रभूतो प्रतियोग्यपदार्थं प्रतिविम्बितो भूत्वा विविधो भवन्निव प्रतीयते। एकैव प्रतिप्रातः प्रतीयमानोषाः सर्वमिदं जगद् वि भाति विशेषेण भापयति प्रका-शयति। एकं वै ब्रह्म सर्वमिदं जगद् बभूव भावयाम्बभूवेतिश्रु-त्यक्षरार्थः। अत्रैकमप्यक्षरं न दृश्यते येन ब्रह्मण एव जगद्रूपेण भवनं समर्थितं स्यात्। पूर्वमिदं विवेचनीयं ब्रह्म स्वयं बहुरूपं भवतीत्युक्तं भवति ब्रह्म बहुरूपं कल्प्यत इति वा प्रतिपादितं भवति? यदि पूर्वः कल्पः, अकल्पो हि सः। न हि वीतकामे निर्वि-कल्पे ब्रह्मणि बहुबिभूषा भवितुमर्हति। यदि तस्यैव बहुबिबुभू-षया प्रतिभासितं विभूषितं चेदं विश्वं, न भवत्समीहितं मिथ्या-त्वमकल्प्यानल्पकल्पनापदमधितिष्ठेत्। न वा तेनेच्छावद्ब्रह्मेतर द्भावयितुं प्रभवेद्भवान्। ततश्च वक्तव्यं बहुरूपं तत्कल्प्यत इति। तथा चान्यैः कल्प्यमानमपि न हि तदिदं सर्वं भवितुमर्हति। न हि शर्करात्वेन प्रकल्पितै रेणुभिः शर्कराकार्यं निर्वाहयन्ति

प्रकल्पकाः। एवं च ब्रह्मणो बहुभवनस्य बाधिततया श्रुतब्रह्म-बहुभवनया नानया श्रुत्या भवत्सत्त्वसमीहितसत्कारे स्वां व्यापारयितुं कथमपि कदाचिदप्युत्सहेत। एवं चैकं वा इदमित्यत्र बभूवेतिक्रियापदम् उषाः सर्वमिदं विभातीतिवदन्तर्णीतणिजर्थमेव कल्पनीयम्। "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥" "समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥" सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।" (ऋ०१०।१९०।१–३) "तस्माद्विराडजायत" (ऋ०१०।९०।५) "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्। पशूँस्तांश्चक्रे" (ऋ०१०।९०।८) "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत" (ऋ०१०।९०।९) "तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः" (ऋ०१०।९०।१०) "यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्" (अथ०१०।७।८) यस्मादृचः अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्" (अथ० १०।७।२०) इत्यादिषु मन्त्रेषु तस्माज्जातस्य जनिरेव विव्रियते न तु तस्य स्वयं-बहुभवनम्। "बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे। एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः" (अथ०१०।७।२५) इत्यत्र स्पष्टमेवासतोचितो देवानां प्राकट्यमुपगतानां पदार्थानां जन्मलाभमुपार्जिजद्भगवती श्रुतिः। "यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्" (अथ०१०।७।२५) इतिमन्त्रे

उत्तममध्यमाधमानां पदार्थानां प्रजापतेः परमात्मनः स्रष्टृत्वमेव समपुस्फुरत्। "इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे" (शु०यजु०२६। ७) इति मन्त्रे ब्रह्मणो जातत्वं विश्वस्य विश्वासितं न तु स्वयं तस्य तद्वचनम्। ननु "स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः" (शु०यजु० ३२।४) "एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा" (अथ०१०।७।९) "सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" (ऋ०१०।११४।५) "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋ०१।१६४।४६) इत्यादिभिर्मन्त्रैर्ब्रह्मैव जगदभवदिति विदितं भवतीति चेत्तथैवास्तु नास्त्यस्माकमाग्रहस्तत्र वात्र वा। वदन्ति यद्यद्वेदास्तत्सर्वं प्रमाणम्। नन्वेवं भ्रामकत्वं स्यात्तेषाम्। न स्यात्। अप्रतिहतगतिको हि परमेश्वरः सर्वत्रेत्येव विवेदिषितं वेदानाम्। यस्मै यद्रोचत उच्यतां गृह्यतां च तेन तदेव। नन्वेवं न स्यान्निर्णीतं ब्रह्मस्वरूपम्। का तर्हि क्षतिः? न हि ब्रह्मनिर्णिनीषया प्रवृत्तोयं ग्रन्थः। ब्रह्मणो जिज्ञासयैवैतत्प्रवृत्तिः। जिज्ञासा च विचार इति पुरैव प्रत्यपीपदाम। अनिर्णयो हि ब्रह्मणो गुणायैव न दोषायेति सरलः पन्थाः ॥१।१।२॥ इति स्वरूपबोधकापरपर्यायजन्माद्यधिकरणम् ॥२॥

(अथ शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ॥३॥)

जगदुदयनावनास्तमयनानां ब्रह्मणो हेतुत्वे भगवता व्यासेन नाद्यावधि श्रौतः शब्दः स्मृतस्ततस्तद्विषये संशयानं प्रत्याह भगवान्—

शास्त्रयोनित्वात् ॥१।१।३॥

शास्त्रं योनिः कारणं यस्य तच्छास्त्रयोनि । तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । जगतो जन्मादिहेतुर्ब्रह्मेत्यत्र शास्त्रमेव प्रमाणम् । शास्त्रं शासनम् । वेदानुशासनमित्यर्थः । न केनापि ब्रह्मतो जायमानं विद्यमानं जगद्व्याप्यवलोकितं न वा तत्कृतविलयविवरमभिविशदनिशमिदं जगदीक्षणातिथितामवापितम् । वर्तमानं च जगत्केन रक्ष्यमाणमधिगतसत्त्वमितीयदपि न केनचित्प्रत्यक्षितम् ! अतः श्रद्धाद्रविणानां श्रद्धाद्रविणदरिद्राणामपि च शास्त्रमेवागत्यानुसरणीयं शरण्यं शरणम् । खञ्जं हि प्रमाणमनुमानम् । प्रत्यक्षपूर्वकस्यैव तस्य सत्तासाहित्यसत्कारात् । अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्० (न्यायद०१।१।५) इतिगोतमवचनात् । अतो ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे वेदानुशासनमेव प्रमाणं भवितुमर्हति । तच्च "यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा" (शु० यजु० १७।१८) "द्यावाभूमी जनयन्देव एकः" (शु०य० १७।१९) "त्वं विश्वेषां जनिता यथासः" (अथ०४।१।७) [1]"स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही अस्कभायद्विजातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः" (अ०४।१।४) [2]"हिरण्यगर्भः समव-

(१)ऋतस्थाः परमसत्यस्था न कदाचन कथंचन विकृतिमापन्नः स परमात्मा दिवः पृथिव्याश्च क्षेमं तन्निवासिनां जीवनसामग्रीमस्कभायत्समरक्षत् । मही विशाले रोदसी द्यावापृथिव्यौ चास्कभायत्स्थिरीचकार । विजातो विविधै रूपैः प्रकटीभूतः स्वयं स द्यां द्युलोकं पार्थिवं पृथिवीलोकं रजोन्तरिक्षलोकं च स्तम्भ इवास्कभायत् । (२)प्रकाशस्वरूपः स परमात्मा जगदुत्पत्तेः पूर्वमेव जात इवावर्तत । स एव सर्वस्य भूतजातस्य पतिरस्ति । स एवेमां पृथिवीं द्यां — —

र्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्०" (शु०य०१३।४) [1]"अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्। अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥" (ऋ० २।३३।१०; तै०आ० ४।५।७) [2]"यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" इत्यादि बहुविधम्।

ननु कथं वेदानां निरन्तरायं निरन्तरं प्रामाण्यं स्वीक्रियते? कथं न तत्स्वीकर्तव्यम्? मिथोविरुद्धवचोव्याहारपरायणत्वेन तेषां निष्कलङ्कप्रामाण्यस्य पराहतत्वात्। कुत्र तद्वचोव्याहारविरोध उपलब्धः? उच्यते। "पादोस्य विश्वा भूतानि" (ऋ०१०।९०।३; शु०य०३१।३; अथ०१९।६।३; तै०आ०३।१२।१; काण्वसं० ३५।३) इत्यादिषु संहितादिषु विश्वेषां भूतानां ब्रह्मणः पादमात्रत्वमुपवर्ण्य "अर्धेन विश्वं भुवनं जजान" (अथ०१०।८।७) इत्यनेन तस्यार्धभागत्वेन समर्थितं विश्वम्। "नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्" (ऋ०१०।१२९।१)इत्यृचा सृष्टेः पूर्वक्षणे सदसतोरभावमवबोध्य पुनस्तत्रैव "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे" (ऋ०१०।१२९।३) इत्यनया तमोभवनं विभावितम्। "आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्" (तै०सं० ७।१।५।१) इत्यनया श्रुत्या सृष्टिपूर्वकाले सलिलसत्ता सत्क्रियते। "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः

(१) हे अर्हन्पूज्य परमेश्वर त्वं बाणान्धनुश्च बिभर्षि। जगद्रक्षणार्थमितिभावः।
(२) यत्र यस्मिन्ब्रह्मणि विश्वमेकनीडं लीनं भवतीति।

स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥" (ऋ० १।१६४।४६) "तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रममृतं तद्ब्रह्म तदापः स प्रजापतिः" (शु० य० ३२।१; तै० आ० १०।१।७) इत्यत्रेन्द्रमित्रवरुणादीन्ब्रह्मस्वरूपत्वेनाभिधाय "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः।" (ऋ० १०।१३।१) इत्यत्र सर्वेषां ब्रह्मपुत्रत्वमभ्यधायि । "प्रजा अजनयन्मनूनाम्" (ऋ० १।९६।२) "चन्द्रमा मनसो जातः" (ऋ० १०।९०।१३) "मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च" (ऋ० १०।९०।१३।) इत्यत्र चेन्द्रचन्द्रानलादीनां जनिमधिजनयन्ती श्रुतिर्ब्रह्मणो भेदमभिधत्ते । "विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः" (ऋ० १०।८६।१) इत्यत्रापि न भेदो विभिद्यते । "इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव" (ऋ० १०।१२९।७) इत्यत्र परमात्मनः सृष्टिप्रादुर्भावं विभाव्य "को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः" (ऋ० १०।१२९।६) इत्यत्र "बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परिजज्ञिरे" (अथ० १०।७।२५।) "असतः सदजायत" (ऋ० १०।७२।२) इत्यत्र चासत उत्पत्तिं जगतोऽवबोधयामास । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे" (शु० य० ३६।१८) इति मिथोमित्रभावमुपदिश्य "योस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः" (अथ० ३।२७।१) "तं मस्मसा कुरु" (शु० य० ११।८०) इत्यादिभिर्द्विष्टप्रतिशातनमुपादिक्षत् । "स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम्" (शु० य० ४०।८) इतिमन्त्रेण तस्य कायनिकायादिकं निषिध्य "सह-

स्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" (ऋ० १०।९०।१) "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोहस्त उत विश्वतस्पात्" (तै०आ०१०।१३) इत्यादिभिः कायाकलितावयवानां हस्तपादादीनामम्बरस्पृशाडम्बरेण भवनं प्रत्यपादीति । सत्यम् । परमेश्वरस्तु परमज्ञानविज्ञानैश्वर्यैश्वरः स्वयं विधृताखिललोकलक्षितक्षणाक्षणः सर्वलोकोत्तरविलक्षणो महाविचक्षणः कश्चिन्महाश्चर्यनिधिरित्यवबोधनकामैरकलितललितललामैर्भगवद्भिर्वेदैस्तथोदाजह्रे येनावरुद्धविरोधेष्वपि तेषु विरोधोक्तिरिव प्रतिभासते प्रतिभाविरहितानामनधिगतहितानामनवहितानामाश्रेयश्रेयःपरम्परासु । नास्ति पारमेश्वरः चतुर्थांशापरपर्यायः पादोर्धभागो वा । सर्वथा भागविभागपङ्ककलङ्कानवकलितेनन्तकलेप्यकले परमेश्वरे कथमवधारयितुं धीराः प्रभवन्ति पादभागमर्धभागं वा ? सर्वथा भागाभावमेव विभावयितुं तथाविधोक्तिर्नोत्थापयति विरुद्धवचोव्याहारापराधम् । नासदासीदिति तम आसीदिति सलिलमासीदित्यापो वेत्यादीनां न मिथोविरोधोनुरोधनीयः । नासदीयसूक्तस्य प्रलयावस्थां जगदवस्थां च विवरीतुमेवानन्यः प्रयत्नः । तथाहि, तदानीं प्रलयकाले कवलितविश्वाशेषकलेवरे नासदचेतनजातं स्थूलं लतागुल्मादिकं समुषितहरिकरिकिरिप्रभृतिगिरिगिरिणद्यादिकं चासीत् । नापि सच्चेतनजातं स्थूलाचिदुपचितं मनुष्यादिकमासीत् । एतदेव विवृणोति नासीद्रज इत्यादिना । "लोका रजांस्युच्यन्ते" (निरु०४।१९) । पृथिव्यादयो लोका अपि नासन् । सूर्यसोमव्योमादयोपि नासन् । परः

परस्तात्पृथिवीलोकाद्वान्तरिक्षलोकाद्वा यदस्तीदानीं तदपि तदानीं नाभूत् । कुह कुत्रावस्थाय कस्य जीवस्य शर्मणि सुखदुःखादिसाधनीभूते भोग्यजाते किमावरीयः किमावृणुयात् ? आवारकेणावार्याण्येवाव्रियन्ते । तदानीमावार्याभावादावारकाभावोपीति । गहनमनवगाह्यं गभीरमगाधमम्भोम्भोनिधिरासीत्किम् ? नो, सोपि नासीत् । एवमत्र मन्त्रे स्थूलसृष्टेरेव निषेधः । यद्येवं किमपि नासीत्कथं तर्हि जगतो जन्मेत्याह तम आसीदिति । तमःशब्देनात्रानभिव्यक्तो भगवत्सङ्कल्पोभिप्रेयते । तमु ग्लानौ । अप्रकटकार्यत्वाद् ग्लायन्निव संकल्प आसीत् । स च तमसा भगवदनिच्छारूपावरणेन गूढ आच्छादित आसीत् । इदमत्र तत्त्वम् । सर्वसामर्थ्यशालिनि निखिलहेयावहेलनामेयशक्तिमालिनि परमात्मन्यनवस्थितस्वार्थजातजीवातुभूतसङ्कल्पेपि सर्वे सङ्कल्पा जगज्जन्माद्यर्थार्थाः सर्वदा तिष्ठन्त्येवानुद्भूतरूपाः । उद्भावकेच्छाविरहान्न प्रभवन्ति ते सृष्ट्यादिकमुद्भावयितुम् । यदा स भगवान् भवभावनभावनावान्भवति नचिरेण चारुतरचराचरसंचारो बोभूयते । ननु सङ्कल्पकल्पमात्रेण जगदुदयोसम्भवीति चेन्न । ऐन्द्रजालिकानामिच्छामात्रेणेष्टवस्तूनां सर्वेषां सन्निधावुपस्थितेर्दृष्टत्वात् । परमात्मा तु सर्वाधिकशक्तिशाली । किं वक्तव्यं परमाद्भुतकृतिरतेश्चमत्कृतेस्तस्य । समेषां विशेष्यत्वात्सर्वव्यापकत्वाच्चासोपि स इवाभेदेन व्यवह्रियते । उत्पाद्यत्वाच्च जगति मनुष्यादिषु च पुत्रत्वव्यवहारः । अतिमहितमहिम्नो महतोद्भुतस्य तस्य विषये को

अद्धा वेदेति वदन्भगवान्वेदो न कस्यापि वेदनायै स्यात् । मित्रस्य चक्षुषेत्यत्र योस्मान्द्वेष्टीत्यत्र च नास्ति किञ्चन कण्टकितं वर्त्म । सर्वेषु मैत्रीति प्रथमं प्रथितं लक्षणं मनुष्यत्वस्य । ये च दुर्जनाः परहितपरिहारपरायणास्तेषु स्वयं किञ्चिदरमणीयमविधाय परमात्मन्येव च तद्दण्डभारो निक्षेप्तव्य इत्यत्र न कोपि दोषस्ते रोषाय प्रभवेत् । ननु न परमात्मन्येव तद्दण्डभारो नियतः, स्वस्मिन्नपि । यथा "सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" (शु०य० ३६।२३) इति चेन्न । नात्रापि स्वस्मिन्स्वशत्रुषु दण्डनिपातनभारः किन्तु परमात्मन्येव । दुर्मित्रियाः सन्त्वित्यभ्यर्थना । नन्वेवमपि परमेश्वरे जीवकृता नियोज्यतैवापतिता स एव दोषस्तत्स्वातन्त्र्यहानिश्चेति न वक्तव्यम् । भगवदिच्छयैव तथा भवत्वित्यभिप्रायात् । सहस्रशीर्षा पुरुष इत्याद्यपि वचनं स पर्यगादित्यादिना नापादयति विरोधम् । सहस्रशीर्षत्वादिनिरूपणं परमात्मनोशरीरत्वे लिङ्गम् । विश्वरूपो हि भगवानिति सिद्धान्तः प्राणाधिकप्रियो वेदानाम् । अनेन विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुख इति वचनमपि विहितसमाधि ॥१।१।३॥ इति शास्त्रयोनित्वाधिकरणम् ॥३॥

(अथ समन्वयाधिकरणम् ॥४॥)

ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमुद्भावितं तन्न समीचीनम् । प्रपञ्चपरिणत्यादिकं निष्प्रपञ्चं ब्रह्मान्तरेण यस्य कस्यचिज्जीवात्मनोपि

संभवेदित्याशङ्क्याह—

तत्तु समन्वयात् ॥१।१।४॥

शङ्ककशङ्काशङ्कून्मूलनार्थस्तुः। समन्वश्चय सम्यगन्वयः। अन्वये सम्यक्त्वमबाधितरूपत्वम्। एवं च तद्-ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वं समन्वयात्सिद्धं भवतीति सूत्रार्थः। अबाधितरूपतया च ब्रह्मणि शास्त्रयोनित्वस्यान्वयो यथा "[1]दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्॥" (अथ० २।२।१) [2]"विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा" (अथ० २।१६।५) [3]"तेजोसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि॥"(शु०य०

---

(१) दिव्यो दिव्यगुणविशिष्टो गन्धर्वो गोः पृथिव्या धारयिता यस्त्वं भुवनस्य त्रिभुवनस्यैक एव सर्वतो नमस्यो नमस्करणीयो विक्षु प्रजासु सर्वेड्यः पतिरसि तं त्वा त्वां ब्रह्मणा वेदवाचा यौमि प्राप्नोमि। वेदं द्वारीकृत्य त्वामुपासनादिभिः प्राप्नोमीत्यर्थः। हे दिव्य देव ते नमस्तुभ्यं नमोस्तु। दिवि द्युलोके दिव्यलोके दिव्यभावनावन्मनुष्ये ते सधस्थं निवासस्थानम्।

(२) हे विश्वम्भर विश्वेन सकलेन भरसा पोषणसामर्थ्येन मां पाहि।

(३) तेजोसि त्वं तेजस्स्वरूपोसि वीर्यमसि वीर्यस्वरूपोसि बलमसि बलस्वरूपोस्योजोसि दुर्धर्षणीयकामक्रोधादियातुधानपराभवित्रोजस्स्वरूपोसि मन्युरसि क्रोधस्वरूपोसि दुष्टदण्डनायेतिभावः। सहोसि सर्वविघ्नापसारकोसि सहनशीलशिखामणिरसीतिवा। एतादृशस्त्वं तेजोवीर्यबलौजोमन्युसहःप्रभृतीन्धर्मप्रभवान्धर्मान्मयि धेहीत्यर्थः।

१९।९) [1]"ओजोस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ सहोसि सहो मे दाः स्वाहा ॥ बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥ आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥ श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥ चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥" (अथ०२। १७।१-७) [2]"बृहन्नेषामधिष्ठातान्तिकादिव पश्यति। यस्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥" (अथ०४।१६।१) [3]"यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्। द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥" (अथ०४।१६।२) इत्यादिषु संहिताश्रुतिषु समर्थितानि जगदेकपतित्व-सर्वनमस्कारार्हत्व-विश्वम्भरत्व-तेजोवीर्यौजोबलमन्युसहस्स्वरूपत्व-सर्वदेवदृश्यत्व-सर्वव्यापकत्वादीनि न कस्मिंश्चित्सामान्येसामान्ये वा सांसारिकेसांसारिके वा चेतनेबाधितरूपेण समनुयन्ति। परे ब्रह्मणि परमेश्वरे तु तस्यापरिमितमा-

---

(१) निगदव्याख्यात एष मन्त्रः। (२) एषां जायमानानां जातानां जनिष्यमाणानां च पदार्थानां स परमात्मा बृहन्महानधिष्ठाताध्यक्षः। स सर्ववस्तुजातमन्तिकादिव पश्यति तथा पश्यति यथा समीपस्थः कश्चिद्द्रष्टा किञ्चिद्दृश्यं पश्यति। यश्च तायञ्जगद्विस्तारयन्विस्तृते च तस्मिंश्चरन्मन्यते मतो भवति। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति तात्पर्यम्। इदं सर्वं ब्रह्ममाहात्म्यं देवा विद्वांस एव विदुः संविद्रते नेतरे साधारणमनुष्या इत्यर्थः। (३) यो जनस्तिष्ठति यश्च चरति गच्छति यश्च वञ्चति प्रतारयति क्षुद्रान्यश्च निलायं गुप्तं चरत्याचरति यश्च प्रतङ्कं विस्पष्टं व्यवहरति, द्वौ च मनुष्यौ संनिषद्य समवेत्य यद्यत्किञ्चिन्मन्त्रयेते रहस्यमालोचयतस्तत्सर्वं तृतीयस्तटस्थश्चिदचिदपेक्षया वा तृतीयो वरुणो वरेण्यो राजा राजमानो वेद वेत्तीत्यर्थः।

हात्म्येन सर्वमबाधितरूपेणैव विहरतीति नोदारव्याहाराव-काशः । एतत्सर्वम् "इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव०" (ऋ०१०।१२९।७) इत्यादिश्रुतिवचनानुप्राणिता सृष्टिरियमनन्ताद्भुत-शक्तिना भवश्रीसंवर्धनरतिनिरतेनाकारणबन्धुनाव्यापारिणापि व्यापारिणा कृतिविरहवतापि कृतिमता सर्वसामर्थ्यतया सदृश-विसदृशधर्मधुरन्धरेणात एव चमत्कृतिमुखचन्द्रचकोरैः पण्डितैर-पण्डितैरपि सततसमाराधितचरणरेणुना ब्रह्मणा प्रादुर्भावितेत्य-नुसृत्यैव समर्थितं वेदितव्यम् ।

ननु नास्त्येव कश्चन जगतो जनयिता । सर्वमेव दृश्यमा-कस्मिकम् । न हि कश्चिदीदृगुपद्रवकारी परमेश्वरो भवितुमर्हति यो जगज्जालमिदमभिग्रथ्याभिबध्य च तेन निरपराधाञ्जीवान-विपाद्यविपदम्भोनिधौ नितरां विनिपातयेत् । यद्यदस्तित्वमत्स-कर्तृकं हि तदिति तु न शक्यते वक्तुम् । त्वन्मते सतः परमात्मनोपि सकर्तृकत्वापत्तेः । जनिमत्त्वे सत्यस्तित्वमत्त्वं स कर्तृकत्वेन व्याप्तमित्युच्येत चेत्, न हि जगतो जनिर्दिव्याञ्जनाक्तचक्षुष्केणापि केनचिद्दृग्गोचरतामनायि । विनाशलिङ्गेन तस्य जनिमत्त्वमनुमीयते चेदशुद्धमनुमानम् । न हि सर्वस्य विनाशः केनापि प्रत्यक्षितस्तर्हि कथमनुमिनुयात्कोपि सर्वं विनाशीति ? स्थालीपुलाकन्यायेन यत्किञ्चिद्विनश्यदवगत्य सर्वेषां विनाशित्वमनुमेयमिति चेन्नायं सत्यावहः पन्थाः । अन्नपूर्णाकुक्करपदवाच्ये पाकपात्रे तण्डुलेषूपरितनेषु भक्तीभूतेष्वपि तिष्ठन्त्यभक्ता एवाधस्तनास्तण्डुलाः । एवं च स न्यायो न न्याय्यः ।

असाधुरेव सः। बहुषु व्यभिचारात्। असाधुना तेन नियतं कञ्चित्क्षणतपालकं परिणाममधिगन्तुं न साधु। किं च न हि कस्यचिद्वस्तुनः सर्वथा विनाशो भवितुमर्हति। केवलं रूपपरिणतिरेवोपनता भवति। सूर्यसन्निधानेन सलिलरूपेण परिणतस्य हिमस्येव वाष्परूपेण परिणतस्य सलिलस्येव वा नात्यन्तिकोन्तो निरन्तरस्य निरन्तस्य च जगतः। नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत इति गीताचार्याभिव्याहारोप्यत्रैव तात्पर्यमनुसन्धत्ते। स्याद्यदि कश्चित्कर्ता नियन्ता चास्य जगतो न भवेदतितमाममनियमकशाप्रहारप्रपीडितं जातु जगत्। धरान्तःपात्यनलबलखलेनागणितशरदायुष्केयं भगवती वसुन्धरा नाद्यापि धैर्यं धारयति ततश्च न सर्वथा सुखकरी सुखकामिनां प्राणिनाम्। क्वचिदवर्षणं क्वचन महावर्षणं क्वचिन्नदनदीजलप्रवाहातिरेकः क्वचिच्च महद्धि दौर्लभ्यं विमलजलकणानाम्। विद्युत्पातैः प्राणिप्राणापहरणम्, मरणमकालेषु शरसन्धायिनामाततायिनां मार्गणविमोक्षणैरनपराधिनाम्, सबलानां निर्बलेष्वत्याचारः, अपराधविरहितेष्वपि सततमपराधाराध्या दण्डसिद्धिः, सिंहव्याघ्रवृकखड्गभल्लूकादिभिर्हिंसाशीलैर्जन्तुभिर्भयाक्रान्तानि वनावनिवासिनां वनानि, विकरालव्यालालिकर्णजलौकादिभिर्मशकमत्कुणयूकालिक्षाजलौकादन्दशूकमूषकजम्बुकगृहगोधिकामर्कटकटकादिभिरुपद्रुतानि गिरिनगरग्रामधामानि विविधा आधयो व्याधयश्च सर्वङ्कषाणामधमाधमानामकारणवैरिणां दुर्नराणामधिवासः खल्विह प्रत्याययन्ति सर्वथैव

जगदुन्मेषकाभावम् । किं च यश्चोद्भावितो जगत्कर्ता कथं न तस्यापि कश्चित्कर्तोद्भावनीयः ? दृश्यते हि जगति घटस्य निर्माता तस्यापि कश्चिज्जनकस्तस्याप्यपरः । एवं परम्परा प्रचलति । यदि भवप्रभावको नित्यः कथं न निखिलं जगदिदं नित्यम् ? यदि स स्वयम्भूर्जगतोपि कथं न तथात्वम् ? विनाशं गच्छदवेक्ष्यतेक्षिमद्भिर्जगत्प्रतिक्षणमितिनास्ति तस्य नित्यत्वम्, कर्तृसापेक्षमेवाद्यावधि घटपटमठाद्यवलोकितं तेन न जगतो जगद्वस्तुजातस्य च स्वयंसिद्धत्वमित्युच्यते चेद्धन्त नित्यत्वस्य शपथैकप्रत्यायनीयतया ब्रह्मण्यपि तथोक्तेरवकाशः काशत एव । किं च निरस्तसमस्तप्रपञ्चप्रत्यवायं परिपूर्णं ब्रह्म कुत इदं सर्वथापूर्णं विश्वं घटयितुं विघटयितुं च सङ्कल्पं कल्पयेत ? न तन्निष्प्रपञ्चं ब्रह्मास्मिन्कुतूहलिनि कार्ये प्रवृत्तं प्रवृत्तं च यत्तन्मायोपाधिसाधितमवरं ब्रह्मेति चेद्धास्यास्पदमेवैतत् । न हि माया ब्रह्मावरीतुं प्रभवेत् । निर्विकारे विकारमाधातुं को नाम क्षमताम् ? ननु नायं वास्तविको विकार इति ब्रूषे चेत्, कः खलु निर्णयोपायो वास्तविकावास्तविकत्वयोस्तस्य ? न हि तत्प्रतीतिमत्, येन तस्य निर्विकारतां निश्चिनुयान्निखिलं जगत् । विकारश्च प्रत्यक्ष एव चराचरस्वरूपः । एवं च निर्विकारताप्रसाधनेन ब्रह्म प्रसाधयितुं तत्सत्तां साधयितुं च साधनाभावः स्फुटं स्फुरति । न च न स्तो वस्तुतो जीवेश्वरौ ब्रह्मविकृतिपरिचायकौ येन ब्रह्म विकारमालम्बेत, कल्पितावेव तौ भ्रान्तिभूमिभुग्भिः । कल्पना च काचनापि न निरधिष्ठाना भवितुमर्हति । यच्च तद-

धिष्ठानं तदेव मायाच्छायाविरहितं सर्वद्वन्द्वातीतं ब्रह्मेति चेदिदमप्यसाध्वेव। न निरधिष्ठाना कल्पना सत्तामधितनुत इति क्वावलोकितम्? रज्जुसर्प इति चेद्बाढम्। समानेधिष्ठाने हि सा कल्पना नासमाने। न हि रज्जौ केनापि कुत्रापि सिंहभ्रमोभिभूतः। न वा कदाचित्कस्यचिच्चूते रजतभ्रान्तिः। जड एव च सा जडभ्रान्तिः। असमानं हि ब्रह्म चेतनं चापि। सर्वथासमाने तस्मिंश्चेतने न स्यादसमानानां घटपटादीनामचेतनानां भ्रमः। एवं च नास्ति कश्चन समन्वयः। कथं तर्हि प्रस्तुतसूत्रस्य चारितार्थ्यं समर्थनीयम्?

यच्च "संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्" "प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मणः" (वैशे०द०२।१।१८–१९) इतिसूत्राभ्यां सर्वकल्याणयुजा कणभुजा संज्ञाकर्मणी ईश्वरसत्त्वस्य प्रतिपादिके इति प्रतिपादितं यच्च तमेवानुसृत्योदयनाचार्येण "कार्यत्वान्निरुपाधित्वमेवं धृतिविनाशयोः। विच्छेदेन पदस्यापि प्रत्ययादेश्च पूर्ववत्" (कुसु०५।५) इत्यादिना सर्वेषां घटादिव्यवहाराणां मध्यागतेन प्रलयेन विच्छिन्नत्वादपरसर्गारम्भे व्यवहारदर्शकाभावात्सर्गाद्यकालीनघटादिव्यवहाराणां प्रवर्तकत्वेनेश्वरः साधितः; यच्च "दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय" "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति" (वैशे० १०।२।८–९) इतिसूत्राभ्यां भगवता कणादेनाम्नायप्रामाण्यं द्रढयता वेदवक्तृत्वेनेश्वरः समुपस्थापितः स्थापितश्च तत्सर्वमतीतकालगुहावतमसावगुण्ठितानामतिकुण्ठितमेधसामुक्तिरितिसंक्षे-

पेण तद्विचारः क्रियते। संज्ञाकर्मदर्शनादीश्वरसिद्धिरिति प्रथमं विचार्यते। अग्निवाय्वादित्यादीनामनन्तानां पदार्थानां व्यवह्रियमाणानि नामानि न मनुष्यकल्पितानि भवितुमर्हन्ति। अल्पज्ञतयाल्पशक्तितया च साकल्येन पदार्थज्ञाने मनुष्याणामसामर्थ्यम्। पदार्थज्ञानाभावे नामधेयानारम्भः स्यादित्यादि यदुक्तं तन्न विचारसहम्। न हि वेदेषु क्काप्युक्तमेतेन शब्देनायमर्थो ग्रहीतव्य इति। "अग्निमीडे" इत्यादिना न हि ज्वलत्पावकस्याग्निरितिसंज्ञा वेदितव्येत्यभिहितम्। सिद्धानुवाद एव सः। "अस्ति कश्चित्पूर्वसिद्धोनादिकालतः प्रख्यातश्चाग्निदेवस्तमीडे" इत्येव तस्यार्थः। परःसहस्राणां पदार्थानां संज्ञा नोपलभ्यन्ते वेदेषु। सम्पादिताश्च ता आवरकालिकैरनुभविभिर्विद्वद्भिः। आम्रनिम्बजम्बुकजम्बीरबदरिकादीनामनेकेषां पदार्थानामपि नामानि नावेक्ष्यन्ते तत्र। यच्चाश्वमेधराजसूयादीनां कर्मणां नामानि श्रूयन्ते न तानीश्वरेण दत्तानि दत्तानि च तानि ब्राह्मणग्रन्थप्रणेतृभिर्याज्ञवल्क्यदिभिर्महर्षिभिः कर्मठशिरोमणिभिः। अनेकेषां कृमिकीटपतङ्गादीनां नक्षत्राणां देवयोनीनां गन्धर्वादीनामभिधानानि न श्रूयन्ते वेदेषु। पश्चाद्भवैर्व्यवहारिभिर्मनुष्यैरेव तानि सर्वाणि नामान्यकल्प्यन्त। अधुनापि विभिन्नशस्त्रास्त्रादीनां प्रत्यहमभिधानानि संस्कुर्वाणा मनुष्या एव दृश्यन्ते। एवं न संज्ञाकर्मणी ईश्वरसाधिके। एवं "कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः। वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥" (कुसु० ५।१) इत्यत्रान्यत्र च क्षित्यादि सकर्तृकं

कार्यत्वाद्घटवत्, सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकारम्भकपरमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्म चेतनप्रयत्नपूर्वकं कर्मत्वादस्मदादिशरीरक्रियावत्, ब्रह्माण्डादि पतनप्रतिबन्धकीभूतप्रयत्नवदधिष्ठितं धृतिमत्त्वात्, ब्रह्माण्डादि प्रयत्नवद्विनाश्यं विनाशित्वात्पाट्यमानपटवत्, पटादिसम्प्रदायव्यवहारः स्वतन्त्रपुरुषप्रयोज्यो व्यवहारत्वात् आधुनिकलिप्यादिव्यवहारवत्, वेदजन्यज्ञानं प्रमात्वघटितधर्मावच्छिन्नकार्यताप्रतियोगिकारणजन्यं प्रमात्वात्प्रत्यक्षादिप्रमावत्, इत्यादयः सर्वेऽप्यनुमानप्रयोगा निरर्थका दुरर्थका अननुभूतपरमार्थकाश्च। तथापि वेदान्तशास्त्रमिदम्। नात्र भगवान्बादरायणस्तर्कमाशिश्रियत्। न हीश्वरस्तर्कगम्यः। तर्काणां प्राकृतिकेषु पदार्थेष्वेव गतिर्नाप्राकृतिके पारमार्थिके ब्रह्मणि। किञ्चिदनुमित्सया प्रवृत्तः पुरुषो लिङ्गमेव प्रथमं जिघृक्षति। लिङ्गाभावादनुमित्यभावः। नहि परमात्मानमाश्रयन्तीमनुमितिं दृष्टं लिङ्गं साधयेत्। दृष्टेन लिङ्गेन दृष्टमेव दृश्यमेव वा सिध्येन्नादृष्टमदृश्यं वा वस्तु। क्षित्यादीनां सकर्तृकत्वसाधने जन्यत्वहेतुरहेतुरेव। न हि क्षित्यादीनां जन्यत्वमद्यापि सिद्धम्। न तार्किकेण जायमानाः क्षित्यादयोऽवलोकिताः। कथं तर्हि तेषां जन्यत्वमूरीकृतम्? द्यावाभूमी जनयन्देव एक इति श्रुत्यावगतं जन्यत्वं तेषामिति चेच्चिरं जीव। श्रुतिमेव भगवतीं शरणं कुरु। जन्यघटदृष्टान्तेन जन्यत्वहेतुना कुलालादिवज्जन्य एव कर्ता सिध्येदवयववांश्च। न स तवापीष्टः। अद्वैतिमते मायाकल्पितत्वेनेश्वरस्य कथञ्चिज्जन्यत्वस्वीकारेऽपि शरीरित्वास्वीकार्यत्वात्,

विशिष्टाद्वैतिमते शरीरित्वाङ्गीकारेपि ब्रह्मणो जन्यत्वानङ्गीकार्यत्वात्सर्वैरनुपादेयतया तस्य तर्कस्य सर्वथानुपादेयतैव सिध्यति। कुसुमाञ्जलिस्थितानुमानप्रयोगा अपि न योगक्षेमवहाः। सर्गः परमाणुसंयोगजन्यो न वेत्यत्रानध्यनिर्णीतमेव। न हि ब्रह्माण्डादि केनापि पतनप्रतिबन्धकीभूतप्रयत्नवताधिष्ठितम्। नव्यमते प्रत्येकपदार्थनिष्ठाकर्षणप्रत्याकर्षणशक्त्यैव तस्यावस्थितिः। न तत्र कश्चन प्रयत्नवानपेक्ष्यते। यदि ब्रह्माण्डं विनाशि प्रयत्नं प्रयत्नवन्तं चान्तरेणैव विनश्येत्। पटोपि चिररक्षितो विनश्यत्येव। न हि पटरक्षणं पटविनाशी प्रयत्नः। अनाशाय रक्षितोप्यसौ विनाश्यधर्मत्वाद्विनश्यत्येव। पटादिव्यवहारोपि न केवलं स्वतन्त्रपुरुषप्रयोज्यः। अस्वतन्त्रा अपि पुरुषाः पटादिकं पटादिनाम्नैव व्यवहरन्ति। भगवत्परतन्त्रैरप्यमरीकावासिभिर्विज्ञानविचक्षणैरणुवम्बेतिनाम्ना नियतं स्फोटकद्रव्यं व्यवह्रियते। पराधीनेपि देशे भारते पराधीनेन गांधिमहात्मनान्त्यजा हरिजनेतिसंज्ञया व्यवह्रियन्ते। अतो नात्र दर्शने तर्कप्रसरः। शब्दप्रामाणिको हि भगवान्व्यासः। यच्छब्द आह तदेव तस्य प्रमाणम्। अत एव च नोदपादीयं केनापि सृष्टिरतो नित्यैवेत्यादिमतश्रद्धासरितमवगाहमानानां मेधाजुषां विदुषां नात्र प्रसरावसर इति स्पष्टमेव ॥ १।१।४॥ इति समन्वयाधिकरणम् ॥४॥

(अथेक्षत्यधिकरणम् ॥५॥)

एवं च वेदसिद्धं ब्रह्मैव जगज्जन्मादिहेतुरिति वेदान्तसिद्धान्तः। तच्च विशुद्धं वा मायोपाधिकं वेत्यन्यदेतत्। उपादानमपि

ब्रह्मैव । अचिदपरपर्यायप्रकृतिद्वारेणेति केचित्, माययेत्यन्ये। गौतमानुयायिनः काणादाश्च परमाणूनां जगदुपादानतां प्रतिजानते न ब्रह्मणः । "धमति सं पतत्रैः" (ऋ०१०।८१।३) इत्यृचि पतत्रशब्देन "असतः सदजायत" (ऋ०१०। ७२।२) इत्यत्र चासच्छब्देन परमाणव एवोच्यन्त इति तन्मतम् । प्रधानमेवोपादानमिति कापिलाः । इत्येवं विवदमानानामपि तन्त्राणां नोपादानं ब्रह्म साक्षादित्यत्रैकमत्यमेव । न हि माया प्रधानतो नितरां भिद्यते। अनुगामिन्येव माया प्रधानस्य । सत्त्वरजस्तमोरूपा प्रकृतिरेव प्रधानम् । मायाविद्ययोरपि तदेव रूपम् । शुद्धसत्त्वप्रधानं हि माया। मलिनसत्त्वप्रधानं चाविद्या । एका जगत्कारणं परमेश्वरं सृजति जीवजातं चापरा । एवं च सत्त्वरजस्तमोबलपालितैव माया व्यापारवती भवति नान्यथा । परमाणुवादे प्रधानवादे च प्रधानपरमाणूनां नित्यत्वस्वीकारः । अनित्यत्वे च तेषां नासतो विद्यते भाव इतिदिशा जगदुन्मज्जनं न स्यात् । अद्वैतवादिभिर्ब्रह्मातिरिक्तं किञ्चिदपि नित्यं तत्त्वं नाभिमन्यते । ब्रह्माद्वैतभङ्गभीतिरेव तत्र कारणम् । विशिष्टाद्वैतवादिभिश्च ब्रह्मातिरिक्तं तत्त्वद्वयमधिकमङ्गीक्रियते । तथापि न ते परमाणुवादं प्रधानवादं वा सत्कुर्वते। तेषां मते परमाणुवादोऽवैदिकोऽवैदिकी च प्रधानवादिनां जगत्प्रसवप्रक्रिया । एवं चोपादानतायामेव कलहो न कर्तरि । कर्ता च तार्किकाणामनुमानगम्य इति न सहन्ते वेदान्तिनः । कर्त्रवगतौ वेदा एव गतिरिति तेषां निरागमे वर्त्मन्यनुत्साहभाजां भावः ।

तथा च ब्रह्मैव जगदनवद्यो हेतुरिति पूर्वं गतम्। तत्राशङ्कते, परस्मिन्ब्रह्मणि जगज्जन्मादिहेतुतोपपादकं शब्दप्रमाणपुञ्जमभिसमर्प्य तस्यैव जगज्जन्मादिहेतुत्वमाहारि भगवता कथं न तत्कस्मिंश्चिज्जीवे वा जडे वान्यत्र कुत्रचिद्वा व्यवह्रियत इत्याह—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥१।१।५॥

न शब्दः शब्दप्रमाणं यस्मिंस्तदशब्दम्। यस्मिंश्चेतनेचेतने वा नास्ति शब्दप्रमाणभाप्तपरम्पराप्राप्तं तज्जगतः कारणं न भवितुमर्हति। शब्दप्रमाणाभाव इत्येको हेतुः। अपरस्त्वीक्षतेरिति। यद्यपीक्षधातोर्धातुनिर्देश एवायं श्तिप् तथापि न केवलमत्रेक्षधातुस्वरूपग्रहणमर्थग्रहणमपि। ईक्षधातोर्योऽर्थस्तदर्थवाचिनां सर्वेषां धातूनां ग्रहणमित्यर्थः। सामर्थ्यात्। ईक्षणं च दर्शनं विचारो वा। तथा च यः खलु जगद्विधाता शास्त्रसिद्धस्तेन ज्ञानालङ्कारोपकरणेन भाव्यम्। शास्त्रेषु तस्य ज्ञानत्वस्य ज्ञानवत्त्वस्य च प्रतिपादनात्। ज्ञानवत्त्वं यद्यपि जीवेपि तथापि श्रुतीनां वेदवचनरूपाणां तत्राबाधितान्वयो नास्तीति समन्वये समचर्चि। किं च ज्ञत्वं हि केवलं तत्र। न केवलेन सामान्यज्ञानेन महतीयं विसृष्टिर्वैविध्यं वैचित्र्यं चादधती प्राप्नुयादुन्मेषम्। सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च तत्रापेक्ष्येते। ते तु केवले ब्रह्मण्येव स्तः। अवशिष्टे चाचेतने ज्ञानवत्त्वस्यैवाभावात्कुतः सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वविचारो घटतां नाम? ईक्षणप्रतिपादयित्र्यः श्रुतयश्चेमाः [1]"सं यज्जनान्क्रतुभिः

(१) यद्य इन्द्रः परमैश्वर्यसम्पन्नः परमात्मा जनान्सर्वान्पदार्थांश्च क्रतुभिः प्रज्ञाभिर्न तु चक्षुषा सामान्येन समीक्षयत् सम्यगीक्षत इत्यर्थः।

शूर ईक्षयत्"(ऋ०१।१३२।६) [१]"ईक्षे रायः क्षयस्य चर्षणीनामुत व्रजमपवर्तासि गोनाम्" (ऋ०४।२०।८) [२]"नमस्ते राजन्वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र नि चिकेषि द्रुग्धम्" (अथ०१।१०।२) [३]"बृहन्नेषामधिष्ठातान्तिकादिव पश्यति" (अथ०४।१६।१) [४]"अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा ॥" (ऋ०१।२५।११) [५]"विद्वान्त्स विश्वा भुवनाभि पश्यत्यवाजुष्टान्विध्यति कर्ते अव्रतान्" (ऋ०९।७३।८) [६]"नकीमिन्द्रो निकर्तवे न शक्रः परिशक्तवे। विश्वं शृणोति

(१) हे परमेश्वर त्व चर्षणीनां प्रजानां राये धनस्य ज्ञानरूपस्य शुभेऽशुभे वा कर्मणि निवासस्य प्रसक्तेरित्यर्थः। ईक्ष ईक्षसे। प्रजानां ज्ञानस्य पुण्यापुण्ययोश्च त्वं द्रष्टासीति भावः। किं च गोनां गवामिन्द्रियाणां व्रजस्य समूहस्य निषिद्धेनिष्टे पथि प्रवर्तमानस्यापवर्तासि निरोधकोसीत्यर्थः।

(२) हे उग्र वरुण राजन् दुष्टेषु दण्डप्रदानावसरे दण्डरूपेणैव दयाप्रदर्शने कुशल विश्वं द्रुग्धं त्याज्यं पापाचारं पापिगणं च नि चिकेषि नितरां जानासि। ते मन्यवे नम इत्यर्थः।

(३) एषां जीवानां पदार्थानां च बृहन्महानधिष्ठाताध्यक्षः परमात्मान्तिकादिव समीपस्थादिव सर्वांस्तांस्तान्पदार्थान् पश्यतीत्यर्थः।

(४) अत इमानि विश्वानि सर्वाण्यद्भुतान्याश्चर्यकराणि जगन्ति कृतानि जातानि या च यानि च कर्त्वा कर्तव्यानि जनिष्यमाणानि तानि सर्वाणि चिकित्वान्प्रज्ञावान्प्रज्ञास्वरूपोभि पश्यति सर्वथा पश्यतीत्यर्थः।

(५) विद्वान्सर्वं जानानः स विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवना भुवनान्यभि पश्यति। किं च कर्ते सत्कर्मण्यव्रतान्न व्रतं येषां तानजुष्टान्सदाचारादिभिरसेवितान्दुरात्मनोव विध्यति दण्डयति चेत्यर्थः।

(६) इन्द्रः परमप्रकाशः स परमात्मा निकर्तवे निकर्तुं तिरस्कर्तुं नकीं न केनापि शक्यः। शक्रः परमसमर्थः स परिशक्तवे परिभावयितुं च न शक्यः। परमविलक्षणशक्तिः स विश्वं कृत्स्नं शृणोति पश्यति चेत्यर्थः।

पश्यति ॥" (ऋ०८।७८।५) [1]"यो विश्वाभि वि पश्यति भुवना सं च पश्यति । स नः पूषाविता भुवत् ॥" (ऋ०३।६२।९) [2]"यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ।" (अथ०४।३५।६) इत्याद्याः। सर्वत्रैव ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपतेक्षणकर्तृता च प्रतिपादिता। यस्मिन्वेदा निहिता इति वचनेनाज्ञानलेशोपि ब्रह्मणो वार्यते। एवं सन्ति बहवो वेदशब्दाः प्रमाणमत्र ततो विचारसंचाराच्छास्त्रयोनित्वं जगज्जन्मादिहेतुत्वं च ब्रह्मण एव नाशब्दस्य जडादेरिति सिध्यति ॥१।१।५॥

नन्वीक्षणव्यवहारेणैव चेद्ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वमत एव चाशेषजगदुन्मेषहेतुत्वमुन्मेषितं तत्तुच्छम् । गौणप्रयोगादपि तत्सिध्यति। रथो गच्छति ग्रावा रोदितीतिप्रयोगयोरचेतनस्यापि रथस्य गतिर्ग्राव्णश्चाक्रन्दनमभिटङ्कितं इत्याशङ्क्याह—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥१।१।६॥

गौणो गुणपराहत एवेक्षणादिप्रयोग इति चेन्न । कुतः ? आत्मशब्दात्=आत्मवाचकशब्दादित्यर्थः । किमित्यात्मवाचकशब्दादिति ? शृणु । रथो गच्छतीतिवच्चेतनेचेतने च जीवजाते

---

(१) यः परमात्मा विश्वा विश्वानि भुवना भुवनानि अभि अभितो वि पश्यति सं पश्यति सम्यग्प्रक्षति च । स पूषा पोषणकर्ता नोस्माकमविता रक्षको भुवद्भवति ।

(२) यस्मिन्विश्वरूपा निखिला वेदा निहितास्तदुपदेश्यत्वेन तज्ज्ञानरूपाः सन्तः स्थितास्तेनौदनेन कृपया हृदयद्रावकेणोपास्येन परमात्मनेत्यर्थः । मृत्युमति तराणि परमात्मानं द्वारीकृत्य मृत्युमुखाद्विमुञ्चेयमित्यर्थः ।

प्रधानादौ च गौणमीक्षितृत्वं तदानीमेवोपकल्प्यं, स्याद्यदि सम्भावना। सैव च नास्ति। ईक्षणे सर्वत्रैवात्मशब्दः श्रूयते। तथा हि "सं यज्जनान्क्रतुभिरि" (ऋ०१।१३२।५) तीन्द्रदेवताको मन्त्रः। "ईक्षे रायः क्षयस्ये" (ऋ०४।२०।८) ति च सोमदेवताकः। इन्द्रसोमशब्दावुभावेव ब्रह्मवाचकावत्र। तस्मिन्नेव मन्त्रदृष्टार्थसमन्वयात्। न हि प्रज्ञाविहीनेनाचेतनेनाल्पप्रज्ञेन वा चेतनेन सर्वमीक्षितुं शक्यते। आथर्वणा अप्युपरिनिर्दिष्टा मन्त्रा आत्मानमेवाभिप्रयन्ति। [1]"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (यजु०७।४२) [2]"स रेतोधा वृषभः शाश्वतीनां तस्मिन्नात्मा जगततस्थुषश्च" (ऋ०७।१०१।६) [3]"आत्मा यज्ञस्य रंह्या सुष्वाणः पवते सुतः। प्रत्नं नि पाति काव्यम्" (ऋ०९।६।८) इत्यादिभिर्मन्त्रैः संचारितश्चेतनः सर्वज्ञ आत्मा तत्र। अतो न शक्यते वक्तुं गौणमिदमीक्षणं जडेपि जीवेपि च संभवतीति ॥१।१।६॥

अपरमपि हेतुमाह—

---

(१) सरति सर्वत्रेति सूर्यः सर्वव्यापकः परमात्मा जगतो जङ्गमस्य तस्थुषो जडस्य चात्मेत्यर्थः।

(२) वृषं धर्मं भासयतीति वृषभो धर्मप्रकाशकः शाश्वतीनां परमात्मविषयकरतीनां रेतोधा बलाधायकस्तस्मिन्सः। प्रथमार्थे सप्तमी। जगतस्तस्थुषश्चात्मा।

(३) यज्ञस्यात्मन आत्मात्मभूतः सुतो भक्त्यनुष्ठानकाले स्मृतः सुष्वाणो भक्तकामान्निष्पादयन्रंह्या रंहसा पवते पुनाति सर्वान्। प्रत्नं प्राचीनं काव्यं शब्दं भक्तरक्षणप्रतिज्ञारूपं च नि पाति नितरां रक्षति।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥१।१।७॥

तस्मिन्ब्रह्मणि निष्ठा सर्वातिशायिनी रतिर्यस्य तस्य चेतनस्य मोक्षोपदेशादपि स ईक्षणकर्ता न तद्भिन्नश्चेतनाचेतनयोरुभयोरपि कोप्यन्यः। न वा स गौणप्रयोगः। कुत्रोपलभ्यते तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशः? वेदेषु। तथाहि [1]"अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥" (अथ० १०।८।४४) [2]"मा भेम मा श्रमिष्मोग्रस्य सख्ये तव। महत्ते वृष्णो अभिचक्ष्यं कृतं पश्येम तुर्वशं यदुम्" (ऋ० ८।४।७) [3]"तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते" (शु० य० ३१।१८) [4]"पश्चात्पुर-

(१) योऽकामः कामादिविकाररहितो धीरः सर्वेषां धियां सन्मार्गे प्रेरयितामृतोमरणधर्मा स्वयम्भूः स्वतन्त्रसत्ताको रसेनानन्देन तृप्तः कुतश्चन केनचिदपि नोनो न न्यूनस्तमेव धीरमजरं जरारहितं युवानं नित्यं नवमात्मानं विद्वाञ्ज्ञानो मृत्योर्न बिभाय बिभेतीत्यर्थः।

(२) अग्रस्य सर्वश्रेष्ठस्य तव सख्ये समानधर्मतायां विद्यमाना वयं मा भेम मा भैष्म मा श्रमिष्म मा श्रान्ति भक्ष्महि। वृष्णः सर्वेषां कामानां पूरयितुस्ते तव महत्प्रभूतं कृतं कर्माभिचक्ष्यमभितो वर्णनीयम्। तुर्वशं कामवन्तं मनुष्यम्। तुर्वश इति मनुष्यनाम (निघ० २।३।१५)। यदुं संयमिनं सन्मार्गस्थितं मनुष्यम्। यदुरिति मनुष्यनाम (२।३।१८)। पश्येम त्वदनुग्रहान्निर्भीकानश्रान्तांश्च सन्मार्गे स्थितान्मनुष्यान्पश्येम पश्यामः।

(३) तं परमात्मानमेव विदित्वा ज्ञात्वा तद्भावमेत्येत्यर्थः। मृत्युं जननमरणपाशमत्येति सर्वथातीतो भवति। अयनाय परमपदप्राप्तयेऽन्यः पन्था न विद्यते।

(४) हे राजन्प्रकाशस्वरूप परमात्मन् कविः क्रान्तदर्शी त्वं काव्येनाद्भुतसामर्थ्येन पश्चात्पश्चिमायां दिशि पुरस्तात्पूर्वस्यां दिश्यधराद्दक्षिणस्यां दिश्युदक्ता-

स्तादधरादुदक्तात्कविः काव्येन परि पाहि राजन् । सखे सखायमजरो जरिम्णेऽग्ने मर्तां अमर्त्यस्त्वं नः ॥" (ऋ०१०। ८७।२१) "यस्ते अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने । प्र तं नय प्रतरं वस्यो अच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ ॥" (ऋ०१०।४५।९) इत्याद्या मन्त्राः सर्वशक्तिनि महेश्वरे ब्रह्मणि निरतानां विरतानां च कन्दर्पसर्पप्रतिसर्पणाद्युक्तानां सर्वसामर्थ्यैभ्यर्थ्यै च समर्थानामपि समभ्यर्थनीयानां देवानां वियुक्तानां च कुलपुत्रकलत्रतन्त्रपारतन्त्र्यान्मोक्षमुपदिशन्ति । न ह्यचेतनस्य ब्रह्मेतरचेतनस्य वोपासनेन मायामतीत्य मुक्तिमूर्तिस्फूर्तिसंभवः ॥१।१।७॥

अपरश्चायं हेतुः–

हेयत्वावचनाच्च ॥१।१।८॥

हातुं योग्यं हेयम् । तस्य भावो हेयत्वम् । तस्यावचनमनुपदेशस्तस्माच्च । चः समुच्चये । अचेतनैः संचितेषु चाकचिक्यो-

---

दुत्तरस्यां दिशि च परि पाहि परितो रक्षास्मान् । हे सखे समानख्यातिमन्नजरस्त्वं सखायं मामजरिम्णेजराय मोक्षायेत्यर्थः । नय । अमर्त्योमरणधर्माग्ने प्रकाशस्वरूप त्वं नोस्मान्मर्तान्मरणधर्मणोजरिम्णे नयेत्यर्थः ।

(१) हे भद्रशोचे भद्रा कल्याणकारिणी शोचिर्दीप्तिर्यस्य स तत्सम्बुद्धौ भद्रशोचे, अग्ने प्रकाशस्वरूप परमात्मन्, देव अद्य ते तव य उपासकोऽपूपमविशरणस्वभावं घृतवन्तं प्रकाशवन्तं त्वां कृणवत्करोति साक्षात्करोतीतिभावः । तं प्रतरं प्रकृष्टतरमुपासकमच्छ प्रति वस्य आच्छादनं रक्षणं प्र नयात्यर्थं प्रापय । तं सर्वथा रक्षेति भावः । किं च हे यविष्ठ जरामरादिवर्जित परमेश्वर तं देवभक्तं तवोपासकं सुम्नं सुखं प्रति अभि नय सर्वथा प्रापयेत्यर्थः ।

पचितेष्वचिररक्षणीयेषु रमणीरमणादिषु रममाणानां न हि रमणीयतमेकलितावतमसे महामहसि श्रुतिविश्रुतयशसि सर्वात्मनि परमात्मनि रतेरुद्गतिरिति हेयमेव जडजातं प्रतिपादितम्। तथाहि "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥"

---

(१) द्वा द्वौ सुपर्णा सुपर्णौ सुष्ठुतया जगतः पालयितारौ सयुजा सयुजौ सह युज्येते इति सयुजौ सहवासिनौ समानयोगौ वा सखाया सखायौ समानख्यातिमन्तौ जीवपरमात्मानौ समानमेकं वृक्षं वृश्च्यते छिद्यते नश्यत इति वृक्षस्तं देहं जगद्वा परि षस्वजाते आलिङ्गत आश्रयतः। एकस्मिन्नेव जगत्युभयोर्निवासः। तयोर्जीवपरमात्मनोर्मध्येऽन्यो जीवः पिप्पलं पिपर्त्तीति पिप्पलं कर्मफलं स्वादु आपातरमणीयमत्ति भुङ्क्तेऽनुभवति। अन्यः परमात्मा पिप्पलमनश्नन्नभुञ्जानोऽभि सर्वथा चाकशीति दीप्यते प्रकाशते। विवदन्ते विद्वांसोऽस्मिन्मन्त्रे जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रतिपादितोऽभेदो वेति। शब्दतस्तु भेद एव स्पष्टः। सुपर्णौ सयुजौ सखायौ इति द्विवचनं भेदनिदर्शकमेव। वृक्षं परिषस्वजाते इति वृक्षाश्रयणमपि समानमुभयोः। तयोरन्य इत्युभे एव पदे भेदद्योतके एव। एकमपि पदं नोपलभ्यतेऽत्र येनोभयोरभेदः प्रतिपाद्यः स्यात्। न चौपाधिकभेदो भावनीयः। वैदिकब्रह्मण उपाधेरदर्शनात्। न च समानख्यातिमत्त्वेनाभेदो द्वयोः स्पष्टव्यः। आत्मत्वाजरत्वामरत्वादिसमानख्यानैस्समानख्यातिमत्त्वस्य चारितार्थ्यात्। किंचाभेदवादिमते नौपाधिकोऽप्यात्मा कर्मफलं भुङ्क्ते। चैतन्यसन्निधानेनान्तःकरणमेव कर्तृ भोक्तृ चेति तन्मतम्। न हि वेदेषूपाधिर्नाम कश्चन परमात्मनो रोगविशेष उपवर्णितः। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप इत्यत्र मायाशब्दार्थः शक्तिर्ज्ञानं वा। "महीं मायां वरुणस्य प्र वोचम्" (ऋ० ५।८५।५) इत्यत्रापि मायां प्रज्ञामिति सायणाचार्याः। "मही मित्रस्य वरुणस्य माया" (ऋ० ३।६१।७) इत्यत्रापि माया प्रज्ञारूपेति सायणाचार्याः। निघण्टावपि मायाशब्दः प्रज्ञानामसु पठितः (निघ० ३।९।९)। नास्ति कुत्रापि वेदे ब्रह्मशक्त्यावृतिसम्पादिका काचन माया। कथं माया मायामतीतं परमात्मानं

(ऋ०१।१६४।२०) इत्यस्मिन्मन्त्रे प्रकृतिपादपपिप्पलमनश्नत एव श्रितश्रेयस्कत्वस्य प्रतिपादनेन प्रकृतिपुष्पपरागरागविभाग एव शरणमशरणानां प्रकृत्यापातरमणीयाङ्गाङ्गनाक्रोडक्रीडापरायणानां जीवानामित्यभिहितम्। [1]"यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा

व्याकुलीकर्तुं प्रभवेत्? एवं च न प्रस्तुतेन मन्त्रेण जीवब्रह्माभेदः सिद्धिसोपानमारोढुं शक्नोति।

नैतन्मन्तव्यं वयं भेदवादिन इति। न हि कोपि कमपि स्वस्मादुत्तमं विधाय स्वगौरवमातनुते। साम्यवादोभेदवादो वा ज्यायान्। भक्ता अपि चरमदशायां परमात्मानं स्वाभेदेनैव पश्यन्ति। अहमेव त्वं त्वमेवाहमिति धीः स्फुरति मध्यमभक्तानाम्। उत्तमानां तु भक्तिरसैकास्वादजुषां ध्येये परस्मिन्ब्रह्मणि स्वं विलापयतां न स्फुरतो युष्मदस्मदी। आत्मानं विस्मृत्य परमात्मनि नियतस्य न जागर्ति भेदः। परमात्मसाक्षात्कारं कुर्वतस्तदानीं परमानन्दसम्पन्नस्याभेदोपि न प्रतीयत इत्यन्यदेतत्। उक्तं च "त्वयि लीनो न जानामि कोहं को वा भवानिति। परमानन्दसन्दोहे निमग्ने युष्मदस्मदी॥" इत्यस्माभिरेव।

(१) यस्मिन्वृक्षे सर्वापच्छेदनसमर्थे परमात्मनि मध्वदो मधु ज्ञानम्। मन ज्ञाने। उप्रत्ययो धोन्तादेशश्च। तदन्त्यनुभवन्तीति मध्वदो ज्ञानिन इत्यर्थः। सुपर्णा ज्ञानेन सुपालिताः सुरक्षिता निविशन्ते प्रविशन्ति निवसन्तीति यावत्। विश्वे अधि षष्ठ्यर्थे सप्तमी। विश्वस्योपरि सुवते स्थितिमधिगच्छन्ति। तस्येत्तस्यैव जीवसमूहस्यैवाग्रे स्वरूपज्ञानानन्तरं स्वादु सर्वश्रेष्ठं पिप्पलं मुहुर्मुहुर्जनिमृतिसंसृतितोत्यथ पृथक्कृतिरूपपालनसमर्थं ज्ञानमितिभावः, आहुर्विद्वांसः। अयं भावः। ज्ञानं तु ब्रह्मणः स्वरूपतया सर्वदा सर्वत्र तिष्ठत्येव। परन्तु ये ज्ञानानुभविनः सन्ति त एव मुच्यन्ते। ये सांसारिकाण्यसाराणि वस्तूनि परित्यज्य सम्यग्ज्ञानानुभूतावभिरतास्तेषामेव ज्ञानमिति विदुषां मतम्। यश्च संसारप्रवणो जीवः पितरं पालकं सर्वदुःखेभ्योभिरक्षितृ तज्ज्ञानं न वेद नानुभवति स न उत् नशत् स सर्वापद्विमोकं नैव प्राप्नोतीत्यर्थः।

निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे। तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोनशद्यः पितरं न वेद॥" (ऋ० १।१६४।२२) इत्यत्र च पितृभूतं परमात्मानमजानतोभिभवनीयभवविभवभव्यतामुपलालयतश्च नात्यन्तविपदवसानमिति साग्रहमभ्यधायि। एवं च जडस्येव ब्रह्मणो न हेयत्वं कुत्रापि श्रूयते प्रत्युत तस्योपासनीयतैव सर्वत्र प्रत्यपादि। तथा हि [1]"तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योः" (अथ० १०।८।४४) [2]"तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेयनाय" (शु०य० ३१।१८) [3]"यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति" (ऋ० १।१६४।३९) [4]"त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे। यस्तातृषाण उभयाय

---

(१) तमेव परमात्मानमेव विद्वाञ्जानानो मृत्योः संसारान्न बिभाय बिभेति। परमात्मस्वरूपापत्तिरेव परमात्मवेदनम्।

(२) तमेव परमात्मानमेव विदित्वा ज्ञात्वा जनो मृत्युमत्येति। अन्यस्तदतिरिक्तः पन्था अयनाय संसाराद्गमनाय संसाराद्विमुक्तय इत्यर्थः, न विद्यते। परमात्मास्तीत्येव ज्ञानं न मृत्यत्ययहेतुः। अतस्तद्भावापत्तिरेव तज्ज्ञानम्।

(३) यस्तद्ब्रह्म न वेद स ऋचा ऋगध्ययनमात्रेण किं करिष्यति किं फलं लप्स्यते? तज्ज्ञानमन्तरेण वेदाध्ययनं निरर्थकमितिभावः।

(४) हे अग्ने परमेश्वर, त्वं तं स्वोपासकं कामक्रोधादिनिखिलबन्धविरहितं मर्तं दिवेदिवे प्रतिदिनं सर्वदा श्रवसे श्रेयसे कल्याणायोत्तमे सर्वस्पृहणीयेमृतत्वेमृतभावे ब्रह्मभावे दधासि धारयसि स्थापयसि। य उभयाय जन्मने मरणाय च संसारलाभायैवेत्यर्थः, तातृषाणः सतृष्णो भवति त्वां चोपास्ते त्वदाज्ञामनुसृत्य संसारव्यवहारं निर्वाहयति तस्मै सूरये संसारिणे मयः सुखं प्रयः प्रियमन्नादिकं च आ कृणोषि सर्वथा सम्पादयसि। प्रय इत्यन्ननाम। तत्रैव श्रव इतिपाठ इति केचित् (निघ० २।७।४)।

जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये ॥" (ऋ०१।३१।७) एवं च हेयत्वावचनाच्च न किञ्चिज्जडमजडं वा ब्रह्मपदं स्पृशति। यदि जडमेव किञ्चिद्ब्रह्म स्यात्तस्याहेयत्वं न स्यात् ॥१।१।८॥

अपरश्चायं हेतुः—

प्रतिज्ञाविरोधात् ॥१।१।९॥

श्रुत्या प्रतिश्रुतं [1]"यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः" (अथ० ४।२।२) [2]"तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम् ॥" (शु०य०२५।१८) इत्यादि। अत्र परमात्मन आश्रयोऽमृतत्वेनोपवर्णितस्तदनाश्रयश्च मृत्युत्वेन। "तमेव विदित्वाति मृत्युमेति" (शु०य०३१।१८) इत्यादिना च तद्वेदनेनैव जननमरणादिनिवृत्तिरूपस्य मोक्षस्य प्रतिज्ञानात्स्यादेव प्रतिज्ञाविरोधो यदि जडमेवोपास्यत्वेन जगत्कर्तृत्वेन चानुगृहीतं भवेत्। प्रतिज्ञाविरोधश्च प्रतिज्ञातुरप्रामाणिकतामुपस्थापयेत्। न च तमेव विदित्वेत्यत्रैवकारोऽप्यर्थ स्तेन तस्यापि जडस्यापि चोपासनमायातं ततश्च न प्रतिज्ञाभङ्ग इति वाच्यम्। कुत्राप्यन्यत्र जडोपासनाया अश्रवणान्नाप्यर्थक एवकारः। अन्ययोगव्यवच्छेदार्थको हि सः। ततः परमात्मातिरिक्तस्यान्यस्योपासना-

---

(१) यस्य परमात्मनश्छाया समाश्रयणममृतममृतकारणं भवति यस्य चानाश्रयणं मृत्युकारणं भवति।

(२) ईशानमैश्वर्यस्वामिनं जगतश्चेतनजातस्य तस्थुषो जडजातस्य च पतिं रक्षकं धियञ्जिन्वं सङ्कल्पमात्रेण प्रीणयितारं तं परमात्मानमवसेवितुं रक्षितुं तर्पयितुं वयं हूमहे आह्वयामः।

योगं व्यवच्छिनत्ति सः ॥१।१।९॥

अपरश्चायं हेतुः—

स्वाप्ययात् ॥१।१।१०॥

अप्ययो लयः। स्वस्य कारणं स्वकारणम्। स्वकारणेप्ययः स्वाप्ययः। मध्यमपदलोपी समासः। "तस्मिन् हि तदेकनीडं भवती"ति श्रुतिः ( )। एकनीडभवनमेवाप्ययः। कार्यस्याप्ययः स्वोपादनकारण एव भवतीति नियमः। यथा प्रलयकाले सर्वं जगदेकनीडं भवति तथैव सुषुप्तिकाले जीवोप्येकनीडो भवति। ब्रह्मणि लयमाप्नोतीत्यर्थः। एकनीडमित्यस्य समानाधिकरणमित्यर्थः। यदि कार्यमात्रस्य किञ्चिज्जडमेव कारणं तर्हि चेतनस्यापि जीवस्य स्वकारणे जडे स्यादेवाप्ययः। स च लोकशास्त्रविरुद्धः। यद्यपि जीवस्य नित्यत्वेनाकार्यत्वान्न कारणान्वेषणेत्यभियोक्तव्यं स्यात्तथापि स्यान्नामायमेकः पक्षः। पक्षान्तरे तु तस्याप्यौपाधिकत्वादनित्यत्वम्। ब्रह्मातिरिक्तं सर्वमनित्यं हि तत्सिद्धान्तः। चैतन्याज्जायमानं जगत्त श्रुतिप्रतिपादितम्। परन्तु जडादवतरत्तन्न कुत्रापि श्रौतवाक्येन निःश्वसितमपि। न च [1]"बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परिजज्ञिरे" (अथ० १०।७।२५) [2]"देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत" [3]"देवानां युगे प्रथमेसतः सदजायत" (ऋ० १०।७२।२–३) इत्येतैरसत एव जगदुत्पादः प्रतिपाद्यत इति वाच्यम्।

१,२,३–निगदव्याख्याताः।

एतस्य दत्तोत्तरत्वात् । अथवा सत इत्यस्य न सतोसत इति नार्थः । नात्र नञ्समासः । श्रौतो ह्यल्लोपाभावः । तेन सत इत्येवार्थः । ज्ञानपूर्वका हि सृष्टिर्दृश्यते । अज्ञानं हि जडम् । तस्मान्न जडाच्चेतनाचेतनयोरवतारः । तथा सति स्वाप्ययो विरुध्येत ।

अत्रेदं विचारणीयम् । अयं स्वाप्ययप्रसङ्गो विशिष्टाद्वैतवादिनामनुकूलो न वेति । नैवानुकूलः । तत्र हेतुः । अद्वैतवादिनां नये ब्रह्मातिरिक्तं सर्वं कल्पितमनित्यं च । जीवभावोपि कल्पित एव तत एव जन्यः । ईश्वरभावोपि जन्य एव । तस्याप्यौपाधिकत्वात् । यज्जन्यं तत्कारणानुसारि । जन्यो हि जीवस्तेषां मते । तत एव सुषुप्तिकाले स स्वस्य कारणमात्मानमपीतो भवतीति युक्तम् । विशिष्टाद्वैतवादिनां मते तु ब्रह्मेश्वरश्चानर्थन्तारतामवगाहेते । यदेव ब्रह्म स एवेश्वरः । य एवेश्वरस्तदेव ब्रह्म । जीवोपि नौपाधिकः । यथेश्वरो नित्यो जीवोपि तथैव । [1]"क ईं व्यक्ता नरः सनीडाः" (ऋ०७।५६।१) इत्यत्र जीवनित्यत्वप्रतिपादनेन नासौ कस्यापि कार्यं जीवः । अतस्तस्याप्ययाय

---

१ क ईं व्यक्ता नरः सनीडा रुद्रस्य मर्या अधा स्वश्वाः । नकिर्ह्येषां जनूंषि वेद ते अङ्ग विद्रे मिथो जनित्रम् ॥ इतिसम्पूर्णो मन्त्रः । अस्यार्थः— रुद्रस्य परमात्मनः सनीडाः समानावकाशा नरः सन्मार्गगमनशीला नेतारो वान्यान्सन्मार्गेषु व्यक्ताः कान्तिमन्तः अध अथ स्वश्वाः सुष्ठु परमात्मनि व्याप्ता रता ईम् इमे मर्या मनुष्या मनुष्यदेहवन्तो जीवाः के ? एषां जीवानां जनूंषि जन्मानि नकिः कोपि न वेद नित्यत्वाद्धि तेषाम् । अङ्ग ते मिथः परस्परं जनित्रं विद्रे विदन्ति । इयमस्माकं जननी जनकश्चायमितिरीत्या मिथो विदन्ति वस्तुतो न कोपि तेषां जनिं वेत्ति ।

कारणान्वेषणं विफलप्रयासम् । तथापि स्वाप्ययस्तु विशिष्टाद्वैतवादिनामपि जीवस्य भवत्येव । कथं हि तत्सम्भवः? इत्थम् । नायं नियमो जन्यमेव कार्यशब्दाभिधेयमिति । ईश्वरेण स्वेच्छया नियाम्यमुपयोज्यं चापि कार्यकोटिमाटीकते । अथवा जगतः स्थूलदशायां स्थूलेन शरीरेण सम्बद्ध्यमानोजन्योपि जन्य इव जीवो व्यवह्रियते । सर्व एव जीवगण ईश्वरस्य स्वेच्छया नियाम्य उपयोज्यश्चेति जन्य इव प्रतिभासतेजन्योपि सृष्टिकाल इति वा जीवानां कार्यत्वं सिध्यति । ततश्चेश्वरे कारणत्वमपि संगच्छते ॥१।१।१०॥

अपरश्चायं हेतुः–

गतिसामान्यात् ॥१।१।११॥

गतेः सामान्यं गतिसामान्यं तस्मात् । अस्यां ब्रह्ममीमांसायां समानयैव गत्या भाव्यम् । केन सह? ब्रह्ममीमांसोन्मुखैरितरैर्मन्त्रैः सह । के ते मन्त्राः? [1]"देवो देवायं गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः । अजीजनो हि वरुण स्वधावन्-

(१) गृणते स्तुवते त्वां त्वं वयोधा अन्नदाता गतिप्रदाता कान्तिप्रदाता वासि । स्तुवते विप्राय मेधाविने । विप्र इति मेधाविनाम (निघ०३।१५।१) त्वं सुमेधाः परमज्ञानोसि । हे स्वधावन् स्वयमेव स्वस्य धारणकर्तः वरुण वरणीय देव देवबन्धुं परमात्म(स्व)सम्बन्धिनमथर्वाणमविनाशिनं पितरं स्वमन्यांश्च पातारं जीवजातं त्वमजीजनः कर्मानुगुणं देहेषु समचारयः संचारयसि च । तस्मै त्वया प्रादुर्भाविताय जीवसमूहाय सुप्रशस्तं राधो धनं ज्ञानं वा कृणुहि देहि । त्वं नः सखा उ परमं परमो बन्धुः सम्बन्धी चासि ।

थर्वाणं पितरं देवबन्धुम्। तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखो नो असि परमं च बन्धुः ॥" (अथ० ५।११।११) [1]"सत्यमहं गभीरः काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः। न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये ॥" (अथ०५।११।३) "न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन्। त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय ॥" (अथ० ५।११।४) इत्यादयः। एतेषु मन्त्रेषु ब्रह्मस्वरूपनिरूपणपरायणेषु सर्वज्ञचेतन एव जगत्कर्तेत्यवधारितमिति न जडं कर्तृ। या गतिर्वेदेषु सैव गतिर्मयापीह ब्रह्ममीमांसायामाश्रयणीया। यदि श्रुतिवचश्चयविरुद्धं जडं किञ्चिज्जगत्कर्तृ स्वीक्रियेत स्यादेव परमप्रामाण्यमुपगताया भगवत्याः श्रुतेर्व्याकोपः ॥ १।१।११॥

अधिकरणोपसंहाररूपोपरश्चायं हेतुः–

श्रुतत्वाच्च ॥१।१।१२॥

चेतन एव कर्ता श्रुतिश्रुतो नाचेतनः। का सा श्रुतिः?

---

(१) वरणीयो देवः परमात्मोपदिशति–सत्यमहं गभीरोनवगाह्योस्मि। जातेनोत्पन्नेनोत्पादितेन काव्येन वेदेन सत्यमहं जातवेदा अस्मि जातं वेदो ज्ञानं यस्य तथाभूतोस्मि। यद्व्रतं सङ्कल्पमहं धरिष्ये धारयामि तं मे मम सङ्कल्पं न दासोनार्यो न वार्यो महित्वा महिम्ना बलेनेति यावत् मीमाय हिनस्ति।

(२) हे स्वधावन् स्वत एव स्वस्य धारक वरुण त्वदन्यः कश्चनोत्तमः कविर्न मेधया नवनवोन्मेषशालिन्या बुद्धयापि त्वत्तः कश्चन धीरतरो नास्ति। तानि प्रसिद्धानि विश्वान्यखिलानि भुवनानि त्वं वेत्थ वेत्सि। त्वं सर्वं जानास्यत एव स मायी कपटप्रबन्धप्रणेता जनस्त्वत् बिभाय चिन्नु बिभेत्येव।

उपरिनिर्दिष्टा बह्वृचः । अन्याश्चेमाः "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥" (ऋ० १०।१९०।३) [1]"अस्तभ्नाद्द्यामसुरो विश्ववेदा अमिमीत वरिमाणं पृथिव्याः । आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ॥" (ऋ०८।४२।१) [2]"स नो बन्धुर्जनिता स विधाता" (शु०य० ३२।१०) [3]"तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः॥" (ऋ० १।३१।१) इत्याद्याः । तस्मान्न ह्यशब्दं शब्दप्रमाणरहितमचेतनं जगत्कर्तृ भवितुमर्हतीति वैयासिकः पन्थाः ॥१।१।१२॥ इतीक्षत्यधिकरणम् ॥५॥

(अथानन्दमयाधिकरणम् ॥६॥)

पुनः कीदृशं तज्जिज्ञास्यं ब्रह्मेत्याह—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥१।१।१३॥

ब्रह्मापरपर्यायः परमात्मा । तमेवोद्दिश्यात्र पुंस्त्वम् । तद् ब्रह्मानन्दमयम् । कुतो ज्ञायते ? अभ्यासात् । अभ्यसनमभ्यासः ।

---

(१) विश्ववेदाः सर्वज्ञोऽसुरः परमात्मा । असून्प्राणान्बलानि राति ददातीत्यसुरः । द्यां द्युलोकमस्तभ्नात्स्थिरां कृतवान् । पृथिव्या वरिमाणं पृथुत्वं विस्तारममिमीत निर्मितवान् । स सम्राट् परमशोभासम्पन्नो विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि पृथिव्यादीन्यासीदत्प्रविश्याध्यतिष्ठत् । तानि प्रसिद्धानि सर्वाण्येतानि वा दृश्यमानानि व्रतानि कर्माणि वरुणस्येद् वरुणस्यैव । व्रतमिति कर्मनाम (निघ० २।१।७) ।

(२) निगदव्याख्यातः ।

(३) तव परमात्मनो व्रते संसारसर्जनरूपकर्मप्रवाहे विद्मनापसो विद्मनानि परिज्ञातान्यपांसि कर्माणि येषां तथाभूता मरुतो रोचमाना भ्राजदृष्टयस्तत्त्वदर्शिनः कवयः क्रान्तदर्शिनोजायन्त ।

कस्या अपि कृतेः पौनःपुन्येन करणमिति यावत् । पुनः पुनरुच्चारणमप्यभ्यासो भवति । अभ्यासेन हि तस्यानन्दमयतावगम्यते । क्वाभ्यासः ? वेदेषु । तथा हि, [1]"वसुर्वसुपतिर्हि कमस्यग्ने विभावसुः । स्याम ते सुमतावपि ॥" (ऋ० ८।४४।२४) [2]"वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः । इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥ (ऋ० १।९८।१) इत्यनयोर्ऋचोः कमस्यग्न इति कं भुवनानामिति चोपदिष्टम् । कं सुखम् । कमसि सुखस्वरूपमसि । भुवनानां राजा हि कम् सुखस्वरूपमानन्दमयमित्यर्थः । "अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन् । सखा सुशेव एधि नः ॥" (ऋ० ७।५५।१) सर्वव्याधिविनाशक मनोमन्दिराधिराज परमेश्वर विश्वा रूपाणि त्वमाविशन् सर्वदा प्रविष्टोस्ति । सुशेवोत्यर्थसुखरूपस्त्वं नोस्माकं सखा एधि भवेतिप्रार्थनेनानन्दमयता तस्य ख्यापिता । [3]"स शेवृधमधि धा द्युम्नमस्मे" (ऋ० १।५४।११)

---

(१) हे अग्ने परमात्मन्, त्वं वसुः सर्वेषां वासयिता वसुपतिः सर्व-स्व-स्वामी चासि । एवं कमानन्द आनन्दस्वरूपो विभावसुः प्रकाशनिधिश्चासि । वयं ते तव सुमतौ त्वया प्रवर्तितायामाज्ञायां स्याम वर्तेमहि ।

(२) वैश्वानरस्य सर्वजनशुभाकाङ्क्षिणः परमात्मनः सुमतौ स्याम । राजा हि स भुवनानां सर्वलोकानाम् । किं च कं सुखस्वरूप आनन्दस्वरूपोभिश्रीरभित आश्रयणीयश्चास्ति । इतः परमात्मनो वैश्वानराज्जातो जातमिदं विश्वं वैश्वानर एव विचष्टे विविधं पश्यति सूर्येण सूर्यसहयोगेन च यतते सर्वान् सुखयितुं प्रयतते ।

(३) शेवृधं सुखस्वरूपमानन्दमयं स तत्त्वमस्मे अस्मासु द्युम्नं प्रकाशं ब्रह्मानुभवजन्यं तेजोधि धा अधिधेहि अधिकं निधेहीत्यर्थः ।

"तं त्वमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवेदिवे ।
यस्तातृषाण उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये ॥"
(ऋ० १।३१।७) इत्यत्र मय आनन्दं कृणोषि तनोषीत्युक्तम् । आनन्दमय एवानन्दं वितनितुं समर्थः । [1]"जने न शेव आहूर्यः सन्" (ऋ०१।६९।२) इत्यत्र त्वं लोके शेव आनन्दमयोसीत्युक्तम् । [2]"शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥"
(ऋ० ३।३०।२२) शुनमानन्दमयमिन्द्रं परमात्मानं हुवेमेत्युक्त्या तस्य परस्य ब्रह्मण आनन्दमयता निरामयैवात्रतिष्ठते॥१।१।१३॥

ब्रह्मण आनन्दमयतां दूषयतः समाधानमाह—

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥१।१।१४॥

ननु कमिति सुशेव इति शेवृधमिति शेव इति शुनमिति च वैदिकाः शब्दा आनन्दस्वरूपतां तस्याभिदधते न त्वानन्दमयताम् । भवांस्त्वानन्दमय इत्यभ्यधात् । विकारार्थको हि मयट् प्रत्ययः । यत्रानन्दमयं ब्रह्मावश्यं तस्मिन्विकारः पदमर्पयेत् । गुडमया अपूपा ओदनमयं च पायसमितिवत् , इति ब्रूषे चेन्न ।

---

(१) जने जनेषु शेवः सुखकरः सुखस्वरूप आहूर्य आह्वातव्यः । ह्वेञ् आह्वाने । यत् । रेफोपजनश्छान्दसः ।

(२) वाजसातौ उत्तमगतिप्रदातर्यस्मिन्भरे ज्ञानिसमाजे शुनं सुखस्वरूपं मघवानं प्रतिष्ठितं नृतमं नेतृतममस्मत्कृताह्वानं शृण्वन्तमुग्रं तेजस्विनं समत्सु विद्वत्समाजेषु वृत्राणि पापानि घ्नन्तं निवारयन्तं धनानां संजितं सम्यग् जेतारमिन्द्रं परमात्मानं हुवेमाह्वयामः ।

कुतो न? प्राचुर्यात्। प्राचुर्यार्थेपि मयड्भवति। लवणमयः सूप इतिवत्। एवं चानन्दमयं ब्रह्मेत्युक्ते प्रचुरानन्दं हि तदित्युक्तं भवति। तथा च न दोषः। तथापि दोषः। कथम्? प्रचुर आनन्दो यस्मिंस्तदित्युच्यमाने सापेक्षो ह्यानन्दस्तत्र प्रतीयते न त्वानन्दस्वरूपता। सापेक्षे चानन्देभिनन्द्यमाने तस्यानुपादेयत्वं प्रसज्येत। अनवधिकायामस्यां कालपरम्परायां स्यात्कश्चिदपरोपि तदपेक्षयाधिकानन्द इति। सत्यम्। नायं दोषः। असङ्कुचितो हि पन्था वेदविदाम्। ताद्रूप्येत्र मयट्। चिन्मयमितिवत्। तर्हि कथं प्राचुर्यादित्यभिहितम्? ताद्रूप्यार्थक एवात्र प्राचुर्यशब्दः ॥१।२।१४॥

आनन्दमयं हि तद्ब्रह्मेत्यत्रापरं हेतुं प्रणयति–

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥१।१।१५॥

तस्यानन्दस्य हेतुस्तद्धेतुः। तस्य व्यपदेशस्तद्धेतुव्यपदेशः। तस्मात्। तद्ब्रह्मैवाखिलस्यानन्दस्य हेतुरिति व्यपदेशो व्यवहारोपि दृश्यते। चकारोप्यर्थः। क्व तथा व्यपदेशः? वेदे। तथा हि, "आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद्वहति पूरुषः।" (अथ० १०।२।९) इत्यनेन ज्ञायते ब्रह्मैव सर्वेषामानन्दानां प्रापयितृ। "स शेवृधमधि धा" (ऋ० १।५४।११) "मयः कृणोषि" (ऋ० १।३१।७) इत्यादिभिरपि ब्रह्मण आनन्दप्रापयितृत्वं निर्विघ्नम्। यदि न स्यात्तदानन्दमयं न स्यात्प्रापयित्रखिलानामानन्दानाम्। अत्रेदमवधेयम्। लौकिकानन्दस्तस्यैवानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणः कश्चिदेवांशः। यदा यदा यो यश्चानन्दोत्रानाद्या मायया मुह्य-

मानेन स्वयमुत्पादिते निरानन्दानवधिकमहोदधौ निमज्जतास्विद्यमानेन जीवेनानुभूयते सर्वो ब्रह्मांश एव सः। ननु निरंशस्य ब्रह्मस्वरूपभूतानन्दस्य कुतः संभवोंशस्येति चेत्पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीतिवत्समाधेयम्। लौकिकानन्दस्यैव ब्रह्महेतुर्न तु स्वरूपभूतानन्दस्यापि। नित्यत्वात्तस्य। एतद्बोधनायैवानन्दानितिबहुत्वनिर्देशः ॥१।२।१५॥

अपरं हेतुमाह–

मान्त्रवर्णिकमेव गीयते ॥१।१।१६॥

मन्त्रवर्णैः प्रतिपादितं मान्त्रवर्णिकम्। मन्त्राक्षरैर्यद्ब्रह्म निर्दिष्टं तदेव गीयते। मन्त्राक्षरैरानन्दमयता ब्रह्मणो निर्दिष्टा सैव मयापि व्यासेन गीयत उपदिश्यते। कैर्मन्त्राक्षरैर्ब्रह्मण आनन्दमयता निरदेशीति पृच्छ्यते चेन्निरदिक्षन्तैव कमसि, कं भुवनानां सुशेवः शेवृधमित्यादिभिः। अपरोप्ययं मन्त्रः "अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥" (अथ० १०।८।४४)। अस्मिन्मन्त्रे रसेन तृप्त इतिवचनं ब्रह्मण आनन्दमयताख्यापनार्थमेव ॥१।१।१६॥

जीवविषयकाणीमान्यक्षराणीति सन्दिहानं प्रत्याह–

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१।१।१७॥

इतरो ब्रह्मेतरो जीवो न निर्दिश्यत एतैरक्षरैः। कुतः ?

---

१ व्याख्यातः।

अनुपपत्तेः। अनुपपत्तिरसिद्धिः। कीदृगनुपपत्तिः? शृणु। रसेन तृप्त इति बोधितम्। न हि कोपि जीवो रसेन कदाचिदपि तृप्तो दृष्टः श्रुतो वा। मुक्तौ तृप्त इति वचनमचारु। मुक्तावपि जीवत्वमजहतो मुक्तेतिविशेषणमादधतो जीवा भगवच्चरणारविन्दमहमहमिकया सेवमाना अविरतमभिनवरसमभितः कामयमानाः सन्तिष्ठन्त इत्येकेषां मतम्। अन्येषां च मते मुक्तिमितो जीवो जीव एव न भवति ब्रह्मत्वं चाधिगच्छति। कुतस्तर्हि मुक्तौ तृप्तो जीव इति साधूक्तिरायुष्मतस्ते स्यात्? अतस्तस्य रसेन तृप्तिप्रतिपादनमनुपपन्नतरम् ॥१।१।१७॥

नात्र ब्रह्मेतरस्य जीवस्य ग्रहणमित्यत्रैवापरमपि हेतुमाह—

भेदव्यपदेशाच्च ॥१।१।१८॥

भेदस्य व्यपदेशो भेदव्यपदेशः। व्यपदेशो व्यवहारः। जीवानां परब्रह्मणोभेंदोपि व्यपदिश्यते। क्व? वेदेष्वेव। तथाहि, "सखायस्त इन्द्र [१]विश्वह स्याम" (ऋ०७।२१।९) इत्यनेन ब्रह्मणो नित्यसखित्वं प्रार्थ्यते। सखित्वं हि समानख्यातिमत्त्वम्। समानख्यातिमत्त्वं सत्येव भेदे भवति। हरिहरौ समानधर्माणावितिवत्। "नू चिन्नु ते मन्यमानस्य [२]दस्मोदश्नुवन्ति महिमानमुग्र। न वीर्यमिन्द्र ते न राधः॥" (ऋ०७।२२।८) इत्यनेन मन्यमानस्य ब्रह्मणो महिमानं न केपि प्राप्नुवन्तीत्यु-

---

(१) विश्वह नित्यम्। अन्यत्स्पष्टम्।

(२) दस्म उद् अश्नुवन्तीतिच्छेदः। दस्म दर्शनीय। सम्बुद्धौ रूपम्।

त्तम्। अत्रापि भेदस्यैवोल्लेदः। "वास्तोष्पते प्रति जानीह्य-स्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।" (ऋ०७।५४।१) हे जग-न्नियन्तरस्माञ्जीवांस्त्वं प्रति जानीहि रक्ष्यत्वेन स्वीकुरु। स्वा-वेशो भव। शोभन आवेशः प्रवेशोस्मासु जीवेषु त्वत्परायणेषु यस्य तथाभूतस्त्वं भव। अनमीवश्च भव। जन्ममरणरूपरोग-भोगभाक्त्वं नोपनयेत्यर्थः। अत्रापि भेदव्यपदेश एव। "न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः [1]परमन्तमाप।" (ऋ० ७।९९।२) इत्यनेनापि जीवब्रह्मणोर्भेदोभिहितः। शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः" (ऋ०) इत्यत्रापि भेद एव निदर्शितः। न हि योमृतः स एव पुत्रत्वेन व्यपदेश्यः। पुत्राणां जनका-त्पितुर्भेदो न दुस्साधः। सूत्रे चः समुच्चयार्थकः ॥१।१।१८॥

ब्रह्मेतरस्य ग्रहणमेव निषेधति–

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१।१।१९॥

आनुमानस्यापेक्षानुमानापेक्षा। अनुमानेन गम्यमानुमा-नम्। शब्दप्रमाणानुगतं मानमनुमानम्। वेदानां स्वतः प्रामा-ण्यस्याधिगतत्वेन ते मुख्यं प्रमाणम्। साधनेन साध्यत्वात्तद-न्यदनुमानं भवति। अनुमानं हि गौणं प्रमाणम्। आनुमाने हि जीवजडे उभे अपि ग्राह्ये। यद्यपि निराकृतं जडग्रहणं प्रागेव तथापि द्विर्वद्धं सुवद्धं भवतीतिन्यायेन निराकृतस्यापि तस्य निराकरणार्थमेव पुनरुपादानम्। सामर्थ्याच्च। सर्गस्य कामे

(१) परम् अन्तम् आपेतिच्छेदः। अन्यत्स्पष्टम्।

सङ्कल्पे न जीवः शक्तः। अल्पशक्तित्वात्तस्य। न वा जडं जगन्निर्माणसङ्कल्पे शक्तम्। जडत्वेन कामयितृत्वाभावात्। एवं च कामात्=विविधाद्भुतसर्गकल्पसङ्कल्पदर्शनादानुमानयोर्जीवजडयोरत्र नापेक्षेतिसूत्रार्थः। मुख्यत्वेन जीवस्यैवात्र ग्रहणमानुमानपदेनेति विज्ञेयम्।

ननु प्राप्तस्यैव निषेधो भवति नाप्राप्तस्य। अस्ति केनापि गौणेनापि प्रमाणेन जीवस्य जडस्य वा कामयितृत्वप्राप्तिः? ओम्। अस्त्येव। कथम्? इत्थम्? "एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा" (अथ०१०।७।९) अनेन वेदवचनेन निखिलं जगत्परमात्मनोङ्गत्वेन प्राचीकशद्भगवान्वेदोपदेष्टा। स्वमेवाङ्गं सहस्रधा प्राचकाशद्भगवानितिकथनेन जीवजडयोरपि परमात्माङ्गत्वमेव प्राप्तम्। तदङ्गं तच्च न भिन्ने। तथा च ब्रह्मणो जगत्कारणतेव जीवजडयोरपि कारणता स्वत आपतिता भवति। "स एव जातः स जनिष्यमाण" (यजु०३२।४) इत्यनेन सर्वस्य तत्स्वरूपत्वमेव न्यरूपि। अतोपि ब्रह्मरूपतया जडाजडयोर्ब्रह्मण इव न तयोरपि कर्तृत्वमशक्यप्रतिपादनम्। एतैरन्यैश्च बहुभिर्वचनैरापाततो जीवजडयोर्जगत्कारणता संक्रामयितव्या भवति। सा च कारणता काममन्तरेण दुर्लभा। तथा च कामयितृत्वं तयोरप्युपतिष्ठते। तदपाकरणायैतस्य सूत्रस्यावतारः।

किं च नायं नियमः प्राप्तस्यैव प्रतिषेध इति। अप्राप्तस्यापि प्रतिषेधो दृश्यते। तथाहि "दिवा मा स्वाप्सी" रित्यस्वपतोपि दिवा वर्णिनो दिवास्वापप्रतिषेधः। दुर्जनमगच्छतोपि दुर्जनो न

गन्तव्य इतिदुर्जनगमनप्रतिषेधः । किमर्थमिदमुच्यतेप्राप्तस्यापि प्रतिषेधो भवतीति ? केवलं त्वादृशां बुद्धिविशोधनार्थम् । मा भूद्भ्रमः प्राप्तस्यैव प्रतिषेध इति ॥१।१।१९॥

न जीवस्य ग्रहणमित्यत्रापरमपि हेतुमन्तिमं निर्दिशति—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१।१।२०॥

अस्मिन्नित्युपास्यनिर्देशः । अस्येत्युपासकनिर्देशः । तेन योगस्तद्योगस्तम् । तेनेत्यनेनोपास्यस्य ब्रह्मण एव ग्रहणम् । अस्मिन्परे ब्रह्मणि जीवस्योपासकस्य ध्यानोपासनादिद्वारा तद्योगं ब्रह्मणा सह योगं सायुज्यं च शास्ति शास्त्रम् । यद्य-त्रानन्दमयो जीव एव स्यात्प्रधानमेव वा स्यात्तद्योगशासन-मशिष्टं स्यात् । जीवोपासनया जीवस्य जीवयोग एव स्यात् । प्रधानोपासनया च जीवस्य प्रधानयोग एव स्यात् । जीवयोगेन न जीवः पारमार्थिकीं श्रियमाश्रयेत् । प्रधानयोगेनापि स्वोचितं चित्त्वमचेतयित्वा जडयोगमुपचित्याचार्वाचरितमन्तरेण नान्य-त्किमपि साधु साध्नुयात् । तद्योगशासनं तु वेदेषु । तथाहि, "वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे । अस्म-भ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्वृष्ण्या रुज ॥" (ऋ० १।१०२।४) इति । मन्त्रार्थस्तु, हे इन्द्र परमात्मंस्त्वया युजा युजो वयं वृतमत्याग्रहेण स्वीकृतमवश्यं प्राप्यतया निश्चितं मोक्षं जयेम जेष्यामः । भरेभरे रागत्यागयोः प्रतिसंग्राममस्माकं मुमुक्षूणामंशं भागं मोक्षमित्यर्थः । उदव सर्वथा रक्ष । अस्मभ्यं

वरिवः परमोत्तमं धनं मोक्षं सुगं सुखेनाधिगन्तव्यं कृधि कुरु। किं च हे मघवन्सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर शत्रूणां कामादीनां मोक्षमार्गप्रतिरोधकानां वृष्ण्यानि वीर्याणि बलानि प्र रुज सर्वथा भङ्ग्धीति। युजेति तृतीया छान्दसी। अयं मन्त्रस्त्व-येति युष्मदा तद्योगमेव शास्ति। तद्योगेनैव वृतार्थजिगीषा। तज्जयार्थं च तत्साहायकान्वेषणमप्युपदिष्टम्। एवं "वयं शूरे-भिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यतः॥" (ऋ० १।८।४) इत्यनेनापि "अस्तृभिस्त्वत्तो दूरं प्रक्षेप्तृभिर्जा-गतैः पदार्थैः संगता वयं त्वया युजा साहाय्येन त्वयैव संगता वा पृतन्यतः शत्रूंस्त्वत्प्राप्तौ प्रतिबन्धकीभूतान्भौतिकपदार्थान्सा-सह्याम प्रधृष्णुयामे" त्युक्तम्। इदं सर्वं परमचेतने सर्वेषां चेत-यितरि परमात्मन्येव संगच्छते न त्वचेतने प्रधाने चेतनेपि वा जीवेल्पकल्पे। अतस्तद्ब्रह्मैवानन्दमयं न जीवो न वा प्रधानम्।

ननु तद्ब्रह्मानन्दमयमित्युच्यते भवद्भिरानन्दमयशब्देन ब्रह्मैवोच्यत इति किं नोच्यते? नोच्यते तथा, तत्र कारणं ब्रूमः। अयं हि दर्शनग्रन्थः। विचारस्वातन्त्र्यं यन्त्रयित्वा परवदनवदना-पेक्षितया दर्शनत्वाद्धीयेतायम्। न ह्युपनिषदक्षराणि वेदाक्षराणि वा विवरीतुमस्य प्रवृत्तिः। स्वातन्त्र्येणैव ब्रह्ममीमांसा भगवता व्यासेन कर्तव्या। यथाज्ञानं यथानुभवं च तेन सर्वं विचारणी-यमुपदेष्टव्यं च। यद्यप्यस्माभिरिदमङ्गीक्रियते शास्त्रपरवान्हि भगवान् व्यास इति। तस्य विचारवर्त्म शास्त्राधिकृतमेव। तथापि न स शास्त्रार्थविचारे प्रवृत्तः। ब्रह्मविचारार्था हि तत्प्रवृत्तिः।

तत्र प्रकरणानुरोधेन विचारानुरोधेन च यस्याः कस्याश्चिच्छ्रु-तेरुदाहरणं न न्याय्यापहरणं करोति। परन्तु व्याससूत्राणा-मवतार औपनिषदानां वाक्यानां पदानां शब्दानां प्रकरणानां चार्थनिर्णयार्थैवेति नास्मद्विचारारूढोऽर्थः। अत एवानन्दमयशब्देन किं ग्राह्यमिति नास्माभिर्विचार्यते विचार्यते च कीदृशं ब्रह्मेति।

ननु "येनैव पितरो याता येन याताः पितामहाः" इत्या-र्यपरम्परा दूषणा भवतीति चेन्न भेतव्यम्। न हि परम्परापूरणं धर्मः। भवभीतिभिद्धेतुस्त्ववतारणीयः। स एव धर्मः। न हि धर्मस्य किञ्चिन्नियतमनुगतं च स्वरूपम्। ब्रह्मातिरिक्तं सर्वं परिवर्ति। परिवर्तते च भगवान् धर्मः। वस्तुपरिवृत्तिरेव वस्तू-ज्जीवयित्री। अवरुद्धं निष्प्रवाहं च पानीयमपानीयं भवति। निरुद्धोनलो नालं चिरं स्वं धारयितुम्। अनिर्गमनो हि पवनो भवनं दूषयति। अपरिवर्तमानं हि रुधिरं निरुणद्धितरामारोग्य-धराम्। येन गच्छतां विकासोवकाशमृच्छति स एव साधिष्ठः पन्थाः। वर्त्मपरिवर्तनं नावर्तयति दोषं न वा प्रवर्तयति निरय-निवासम्। सत्येन वर्तितव्यम्। प्रजाभ्युदयाय प्रयतितव्यम्। मोहानोकहो न संवर्धनीयः। अज्ञाननिधाननिदानसन्दानितानां बन्धनोच्छेदाय कथञ्चिदुदितया दयया प्रयास आसेवनीयः। एष एव परमो धर्मः ॥१।१।२०॥ इत्यानन्दमयाधिकरणम् ॥६॥

(अथान्तरधिकरणम् ॥७॥)

वेदेषु प्रसिद्धानां लोकेष्वप्रसिद्धानां च बहूनां शब्दानां ब्रह्मबोधकत्वमिति प्रबोधयितुमाह—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥१।१।२१॥

अन्तरपि ब्रह्मैव। अन्तरितिशब्देनापि ब्रह्मैव ग्रहीतव्यमित्यर्थः। कस्मात्? तद्धर्मोपदेशात्। तस्य ब्रह्मणो ये स्वात्मगता धर्मास्तेषामुपदेशात्तत्र। सर्वासु दिक्षु सर्वेषु च भुवनेषु निरन्तरवृत्तितान्तर्यामिता च केवलं ब्रह्मण्येव संगच्छेते नान्यत्र। कुत्र तथाविध उपदेशः? वेदे। तथाहि, [१]"अन्तर्दूतो रोदसी दस्म ईयते होता निषत्तो मनुषः पुरोहितः। क्षयं बृहन्तं परि भूषति द्युभिर्देवेभिरग्निरिषितो धियावसुः॥" (ऋ०३।३।२) "अग्निर्देवेभिर्मनुषश्च जन्तुभिस्तन्वानो यज्ञं पुरुपेशसं धिया। रथीरन्तरीयते साधदिष्टिभिर्जीरो दमूना अभिशस्तिचातनः॥" (ऋ०३।३।६)। अत्रोभयोरेवर्चयोरन्तःशब्दो ब्रह्मवाचकः। अमति गच्छतीत्यन्तर्। अम गत्यादिषु। रोदसी रोदस्योर्द्यावापृथिव्योर्दस्मो दर्शनीयो दूतो दुराधीनामुपतापकोऽन्तः सर्वव्यापकः परमात्मा धियावसुर्ज्ञानद्वारा व्यापको भवन्नपीयते गच्छन्निव प्रतीयते। अग्निः स्वयंप्रकाशस्वरूपो रथी ज्ञानिनां रमयितान्तः सर्वव्यापक ईयत इत्येष तद्वाक्यार्थः। "स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः" (शु० य०३७।१७) "एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः" (शु०य०३२।४) अत्राप्युभयोर्मन्त्रयोरन्तः-

---

(१) अन्तः सर्वव्यापकः स परमात्मा सध्रीचीः सहाञ्चना विषूचीर्विष्वगञ्चनाश्च कारुण्यवात्सल्यादिका वृत्तीरिच्छाः स्वरूपधर्मान्वा वसान आच्छादयन्स्वस्मिन्रक्षन्नित्यर्थः, भुवनेषु आ वरीवर्ति अतिशयेन नैरन्तर्येण वर्तते।

पदवाच्यस्य ब्रह्मणः सर्वत्र वृत्तितावर्तिता वर्तते। ब्रह्मणः सर्व-व्यापकत्वादिषु धर्मेषु कतिचिद्धर्मा इहोपदिष्टा द्रष्टव्याः। एवं चैतेषां मन्त्राणां पूर्वापरालोचनया ब्रह्मधर्मा अन्तःशब्देनोपदि-श्यन्त एवेति स्पष्टम् ॥१।१।२१॥

ननूपरिसङ्केतितेषु तेषु तेषु मन्त्रेषु कथं न कस्यचिज्जीव-स्यैव ग्रहणं कर्तव्यम्? कः स्याद्धेतुस्तद्ग्रहण इति चेत्; कर्मा-धीनो जीवोपि द्यावापृथिव्योर्भुवनेषु दिक्षु प्रदिक्षु च समवाप्नोति। सोपि तदणुत्वपक्षरक्षाशिक्षाप्रेक्षितानां मते शिरसि मम वेदना पादे मे वेदनेतिवेदनानां वेदनयौगपद्यसम्पादनार्थं धियावस्तु-रेव। किं चैयत इत्ययनक्रिया श्रूयते। अयनायने च रूप-वतः शरीरिण एव संभवतः। न हि रूपवच्छरीरि च परं ब्रह्म। अकायमव्रणमि (शु०य०४०।८) तिवचनात्। अतस्तत्तत्स्थलेषु जीवस्यैव विज्ञानं न तु परस्य ब्रह्मण इत्याशङ्कायामाह—

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥१।१।२२॥

सर्वत्रैव ब्रह्मणो जीवस्य च भेदो व्यपदिश्यते। तस्माद-न्यदेव तद्ब्रह्म यस्मात्कस्मादपि जीवात्। क्वास्ति भेदव्यपदेशः? सर्वत्रैव वेदेषु। तथा हि, "तेजोसि तेजो मयि धेहि" "य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते" "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्" "सर्वतो नः शकुने भद्रमा वद विश्वतो नः शकुने पुण्यमा वद" (ऋ०२।४३।२) "त्वमग्ने प्रथमः"

(ऋ०१।३१।१) "देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे" (ऋ०१।९४।१३) इत्यादिषूपास्यभूतात्परब्रह्मण उपासकस्य जीवस्य पार्थक्येन ग्रहणम्। "आ नो यज्ञं दिविस्पृशं वायो याहि" "अग्न आ याहि वीतये" इत्यादिषु यदायानं श्रूयते तच्चौपचारिकम्। अत एव "स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः" इति तस्य सर्वत्रस्थिता श्रूयते। कस्माच्चिदवकाशादागवतवतो भगवतो न स्यात्पूर्वस्थाने स्थितिता ततश्च सर्वस्थितित्वं वेदैरेवोपदिष्टं व्याहन्येत। सर्वत्र वर्तमानस्य कुतः कुत्र च यानायाने संभवेताम्? एवं च यानायानश्रुत्या न ब्रह्मणो रूपवत्त्वशरीरित्वाद्यापत्तिः। न वा "अकायमव्रणमि" तिश्रुतिवचसा विरोधापत्तिः। अथवा भवतु नाम ब्रह्म शरीरि का वो हानिः? शरीरित्वे ब्रह्मणोनित्यत्वापत्तिरेव महती हानिरितिचेन्न। न हि शरीरित्वमनित्यत्वेन व्याप्तम्। जन्यत्वं हि व्याप्तमनित्यत्वेन। न हि ब्रह्मणः शरीरं जन्यं जातं वा। अनादिनस्तस्य सर्वमनाद्येव। अजन्मनस्तस्य सर्वमजन्मैव। सर्वद्रष्टृणः सर्वश्रोतृणः सर्वशक्तिनश्च तस्य शरीरं तदतिरिक्तसकलशरीरविलक्षणमेव। न च ब्रह्मशरीरोपपादनमवैदिकमिति वाच्यम्। "अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्।" (ऋ०१।३२।१०) इत्यत्र कल्पनाभिमतानामत एवानिवेशनानां परिवर्तनशालिनीनां काष्ठानां मध्ये ब्रह्मणः शरीरनिधानस्यातीव स्पष्टतया प्रतिपादनात्। यद्दृष्टान्तेन ब्रह्मशरीरस्यानित्यत्वमातिष्ठते न स दृष्टान्तो दृष्टान्तपदवीमव-

गाहते । पाञ्चभौतिकमत एव जन्यं दृश्यं च जीवशरीरं शुभाशुभकर्मफलफलितम् । न तथा ब्रह्मशरीरम् । पाञ्चभौतिकत्वाभावादजन्यत्वाददृश्यत्वाच्च नैव स्पृशति ब्रह्मशरीरमनित्यत्वापत्तिसमापत्तिरिति ॥१।१।२२॥ इत्यन्तरधिकरणम् ॥७॥

(अथाकाशप्राणाधिकरणम् ॥८॥)

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥१।१।२३॥

आकाशशब्देनाकाशार्थकशब्दैश्चापि ब्रह्मोच्यते वेदेषु । यत्राकाशशब्दस्तदर्थको वा कश्चिच्छब्दो दृश्येत तदर्थो ब्रह्मेत्यवगन्तव्यम् । कुतः ? तल्लिङ्गात् । तस्य ब्रह्मणो लिङ्गं तल्लिङ्गं तस्मात् । यदि ब्रह्मणो लिङ्गं तत्र प्रतीयेतावश्यं तस्य ब्रह्माभिधेयं स्यादित्यर्थः । अलिङ्गस्यापि ब्रह्मणः शाखारुन्धतीन्यायेन यैर्यैर्लिङ्गैरवगतिः प्रतिबोधिता तानि लिङ्गानि तत्र तत्र पठितेष्वाकाशार्थकेषु शब्देषु श्रूयेरंश्चेत्तेषामपि ब्रह्मबोधकतावबोध्येतिभावः । यथा—[1]"नभोसि प्रतक्वा" (शु०य०५। ३२) "खं ब्रह्म" (शु०यजु०४०।१७) [2]"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः" (ऋ० १।१६४।३९)

---

(१) नभो न भाति लौकिकैरिन्द्रियैस्तथाविधोपि प्रतक्वा सर्वत्रगमनशीलो व्यापकोसि । तक्रतिर्गत्यर्थः ।

(२) अक्षरेविनाशिनि अस्मिन्परमे व्योमनि व्योमसदृशे विशेषेग जगद्रक्षके वा सर्वव्यापके वा परमात्मनि ऋच ऋगादयो वेदा देवाः प्रतोयमानाः सर्वे पदार्था अधि निषेदुः स्थिताः सन्ति । परमात्मानमाश्रित्यैव सर्वेषामवस्थितिरितिभावः ।

[1]"सहस्राक्षरा परमे व्योमन्" (ऋ०१।१६४।४१) [2]"विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त" (ऋ०७।३३।११) [3]"एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे" (ऋ०१०।११४।४) [4]"पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातो अध्वरम्। विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः ॥" (ऋ०१०।८५।१८) इत्यादिषु मन्त्रेषु नभःखव्योमपुष्करसमुद्राध्वरादयः शब्दा आकाशार्थकास्तेत्र ब्रह्मैवावबोधयन्ति। तेषु ब्रह्मण एव ऋगाधारत्व–देवाधारत्व-सूर्यचन्द्रगम्यत्वादीनां लिङ्गानां दर्शनात् । नैतानि लिङ्गान्यवगम्यमानेस्मिन्नाकाशे भौतिके संभवन्ति ॥१।१।२३॥

अत एव प्राणः ॥१।१।२४॥

अत एव तल्लिङ्गादेव प्राणोपि तत्र तत्र वेदेषु व्यवह्रिय-

---

१ सहस्राक्षरा बह्वक्षरपादोपेता गौर्यो वाचः परमे व्योमनि परमात्मनि स्थिता इत्यर्थः ।

२ पुष्करे सर्वपोषणकर्तरि परमात्मनि त्वयि स्थिता विश्वे सर्वे देवा विद्वांसस्त्वा त्वामददन्त अधारयन्धारयन्ति च ।

(३) एकः सुपर्णः शोभनपालनयुक्तः स जीवः समुद्रं कृपासलिलेनार्द्रं कुर्वाणं परमात्मानमा विवेश आविशति । स च परमात्मेदं विश्वं सकलं भुवनं वि चष्टे विशेषेण पश्यति ।

(४) अस्या ऋचः सूर्याचन्द्रमसौ देवते । एतौ सूर्याचन्द्रमसौ शिशू इव क्रीडन्तौ मायया प्रज्ञानेनेव पूर्वापरं पौर्वापर्येण चरतश्चलतः, अध्वरमविनाशिनमाकाशवद्व्यापकं वा परमात्मानं परि यातः परितो गच्छतः । अन्यत्स्पष्टम् ।

प्राणः प्राणशब्दोपि तदर्थकशब्दोपि च ब्रह्मैव बोधयति। तथा हि—"साम प्राणं प्रपद्ये" (शु०य० ३६।१)। प्रपदनं रक्षाग्रहणाय स्वाश्रयाभिमानापसारपुरस्सरस्वरक्षासमर्थपराश्रयोपसरणम्। प्रपदनेन प्राप्तस्य रक्षणरूपलिङ्गदर्शनादत्र प्राणशब्दोपि ब्रह्मपरक एव। "[1]भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्" (ऋ० १।१६४।४) इत्यत्र "ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम" (ऋ० १०।१२१।७) इत्यत्र चासुशब्देन ब्रह्मण एव ग्रहणम्। प्राणासुशब्दयोर्ब्रह्मवाचकत्वं तल्लिङ्गादेव ॥१।१।२४॥ इत्याकाशप्राणाधिकरणम् ॥८॥

(अथ ज्योतिरधिकरणम् ॥९॥)

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥१।१।२५॥

ज्योतिरित्यपि ब्रह्मनामैव। कुतः ? चरणाभिधानात्। चरणं चलनम्। चर गतिसंचलनयोश्चर गतिभक्षणयोर्वा। भावे ल्युट्। चलनस्य गतेरभिधानात्—उपवर्णनात्। उपासनादिप्रकरणेषु समागतो ज्योतिश्शब्दो ब्रह्मवाचक एव। तत्रैव गतिसम्भवात्। ननु सर्वव्यापकस्यापादस्य च तस्य कुतो गतिसम्भव इति चेत्। उच्यते। सर्वव्यापकत्वात्सर्वतः स्थितः स गतिमानिव प्रतीयते। यत्रैव गम्यते तत्रैव स भवतीति लोकसंभावनया गतिर्निर्दिष्टा। क्व ? वेदे। तथा हि, "दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु" (शु०य० ३४।१) मन्त्रार्थस्तु,

(१) भूम्या असुः प्राणतुल्योसृक् सर्वप्रलयकर्तात्मा परमात्मा क्व स्वित्कुत्रासीदित्येतत्प्रष्टुं को विद्वांसमुपगाद् गच्छति वा ?

तज्ज्योतिर्ब्रह्म ज्योतिषां सूर्यवह्निविद्युदादीनामपि दूरंगमं दुष्प्रापमित्यर्थः। तेषामप्युज्जीवकमित्यर्थः। तच्चैकम्। तच्च मनो ज्ञानरूपम्। तन्मे मह्यं शिवः सङ्कल्पो यस्य तथाविधं मत्कल्याणैकसङ्कल्पं भवत्वित्यभ्यर्थना। अस्मिन्मन्त्रे सङ्कल्पविकल्पात्मकस्यान्तःकरणरूपस्य मनसो वर्णनं न तु ब्रह्मण इति न भ्रमितव्यम्। स्यात्कदाचिन्मनसोपि वर्णनम्। बह्वर्था हि मन्त्राः। सर्वतोमुखी हि मन्त्राणां प्रवृत्तिः। ब्रह्मणस्तु वर्णनमिह स्पष्टतरम्। यदि मनसो लौकिकस्यैवात्र ग्रहणके संख्यानमभविष्यत् यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु" (शु० म० ३४।३) इत्यत्र "येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्" (शु० य० ३४।४) इत्यत्र चामृतपदं न प्रायोक्ष्यत। ब्रह्मैवामृतं न तु लौकिकं मनः। किं च यदि लौकिकमेव मनोत्राभिप्रेत स्यात् "यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः" इत्यत्र यस्मिन्निति पदेन मन एव गृहीतं स्यात्। तथा च "मनसि प्रजानां सर्वं चित्तमोतमित्यर्थः प्रतीयेत। स चानुपपन्नः। न मनसि चित्तमोतं भवति प्रजानाम्। नास्ति मनश्चित्तयोर्वस्तुतो भेदः। मनोवस्थान्तरमेव चित्तमितिसर्वसिद्धान्तः। उभयोः पर्यायवाचकत्वमित्यपि बहवः। अतः सूष्ठूदाहृतं ज्योतिषां ज्योतिरेकमिति। तच्च दूरंगममप्यन्तिकस्थमपि च। "ज्योतिर्य-

(१) मधु मधुरं प्रियं ज्योतिः प्रकाशकं ब्रह्म यज्ञस्य सर्वोत्कृष्टकर्मणः कर्तारं ज्ञानिनं भक्तं च पवते पुनाति। गच्छतीति वा। देवानां दिव्यपदार्थानां जनितोत्पादयिता पिता रक्षकश्च स एव परमात्मा। विभुवसुश्च सर्वेषां वासयितापि स एव।

ज्ञस्य पवते मधु प्रियं पिता देवानां जनिता विभूवसुः।" (ऋ० ९।८६।१०) इत्यत्र [1]"ज्योतिर्यज्ञाय रोदसी अनु ष्यादारे स्याम दुरितस्य भूरेः" (ऋ०३।३९।८) इत्यत्र च [2]"ज्योतिर्वृणीत तमसो विजानन्नारे स्याम दुरितादभीके" (ऋ०३।३९।७) इत्यत्र च ज्योतिःशब्दो ब्रह्मार्थक एव। चरणाभिधानात्। "ज्योतिर्यज्ञस्य पवते" इत्यत्र पवत इत्यस्य गच्छतीत्यर्थः। पवते इति गत्यर्थकर्मा (निघ०२।१४।१०८)। भासिरपि गतिरेव। तथा च "ज्योतिर्वृणीत" इत्यत्रापि ज्योतिर्वरणप्रतिपादनेन चरणमेवाभिधीयते।

किं च न हि चरणशब्देन चलनमात्रं विवक्षितम्। उदाराणि हि वेदाक्षराणि। अल्पाक्षरा अपि वेदा बह्वर्थद्योतकाः। तस्माच्चलनं चालनं नयनं भक्षणं रक्षणमित्याद्या अप्यर्थाः संगृहीता वेदितव्याः। अत्र चोदाहरणानि—[3]"ज्योतिरसि विश्वरूपम्" (शु०य०५।३५) [4]"अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान्" (शु०य० १३।४०) [5]"अग्ने रक्षा णो अंहसः" (ऋ०७।१५।१४)

(१) ज्योतिः परमात्मा रोदसी द्यावापृथिव्योर्यज्ञाय अनु ष्यात् सर्वोत्कृष्टकर्मानुभवतु प्रकाशयतु। उत्तमे कर्मणि नियोजयत्वस्मानित्यर्थः। येन, भूरेः प्रभूताद् दुरितस्य दुरिताद् दुष्कर्मणः पापाद् आरे दूरे स्याम।

(२) तमसोज्ञानस्य विजानन्दोषादिकं, ज्योतिः परमात्मानं वृणीत येन दुरितात्पापादारे दूरे स्थिताः सन्तो वयमभीके निर्भीके तस्मिन्नेव ज्योतिषि परमात्मनि स्याम निरताः स्याम।

(३,४) निगदव्याख्यातौ।

(५) हे अग्ने परमात्मन् अंहसः पापादस्मान्रक्ष।

[1]"अग्निर्दिव आ तपतु" (अथ०१२।१।२०) [2]"सूर्यो नो दिवस्पातु" (ऋ०१०।१५८।१) [3]"वैश्वानर तव धामानि आ चक्रे" (ऋ०३।३।१०) [4]"सोमो अस्मभ्यं द्विपदे चतुष्पदे च पशवे। अनमीवा इषस्करत्।" (ऋ०३।६२।१४) "हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक्" (ऋ०२।३५।१०) इत्यादयो ज्योतिरर्थाभिधायका अग्निसूर्यसोमवैश्वानरहिरण्यरूपादयोऽपि ब्रह्मैवाभिदधति। चरणाभिधानादेव हेतोः। उपासकानिष्टलाभं नयन्ति। लौकिकमपि ज्योतिश्चरणशीलमेव। तथापि तन्मात्रानुगृह्यते। इहापि तल्लिङ्गादित्यस्यानुकर्षणेन तत्र तल्लिङ्गाभावात् ॥१।१।२५॥

अत्र स्वयमाशङ्क्य समाधत्ते—

छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥१।१।२६॥

छन्दः स्वातन्त्र्यं रुचिश्च। पूर्वोक्तेषु वैदिकवचनेषु च्छन्दोभिधानं रुच्यनुसरणं विद्यते। यथारुचि स्वातन्त्र्येण ज्योतिरग्न्यादयः शब्दा ब्रह्मणि नेतव्या लौकिकेषु वा मनोनलसूर्य-

---

(१,२) निगदव्याख्यातौ।

(३) हे वैश्वानर विश्वेषां नराणां हितसाधक परमात्मन् तव धामानि तेजांसि ज्ञानानि आ चक्रे अभितः स्तौमि। तव ज्ञानैः सर्वथा तृप्तिमनुभवामीति वा।

(४) सोमः सोमवच्छीतलः परमात्मास्मभ्यं मनुष्येभ्यो द्विपदे द्विपद्भ्यः पशवे पशुभ्यश्च चतुष्पदे चतुष्पद्भ्योनमीवा रोगरहितानि इषोन्नानि करत् करोतु।

सोमादिष्विति नासन्दिग्धं प्रमाणम्, इति चेत्, न तथा=असन्दिग्धं प्रमाणं नेति न। कुतः? चेतोर्पणनिगदात्। चेतसोर्पणं चेतोर्पणं तस्य निगदो विस्पष्टोच्चारणम्। "यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम्" इति स्पष्टमेव यत्पदार्थे चित्तार्पणं निगद्यते। "अग्ने रक्षा णो अंहसः" "वैश्वानर तव धामानि आ चक्रे" "सूर्यो नो दिवस्पातु" इत्यादिषु च सर्वत्र स्वेष्टपूर्तये संप्रार्थनम्। प्रार्थनं च चेतःसमर्पणपूर्वकमेव कृतं कृतकार्यं भवति। तथाहि दर्शनम्=दृष्टमपि तथैव भवति। सर्वैश्चित्तार्पणं परब्रह्मण्येव क्रियते न तु लौकिके सुलभे श्रमलभ्ये वा पदार्थे। अत एव "तन्मे मन" इत्यत्र मनःशब्दो न लौकिकमनोवाचकः। विशेष्यं तु तस्मिन्मन्त्रे ज्योतिरेव। तत्रान्यत्र च लौकिकस्य ज्योतिषोऽग्न्यादेरेव ग्रहणमिति मा भ्रमो भूदिति कृपापारतन्त्र्यात्तत्त्वार्थो निरूपितोत्र भगवता व्यासेन ॥१।१।२६॥ इति ज्योतिरधिकरणम् ॥९॥

(अथ भूतादिपादापदेशाधिकरणम् ॥१०॥)

भूतादिपादोपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥१।१।२७॥

भूतादिषु पादोपदेशो भूतादिपादोपदेशस्तस्योपपत्तिः। तस्याः। पादशब्देन सर्वाण्येवाङ्गान्युपलक्ष्यन्ते। तानि च ब्रह्मण एव। उपपत्तिः सिद्धिः। भूतादिषु ब्रह्माङ्गोपदेशो वेदेषु विद्यते। तस्योपपत्तेः सिद्धेः, एवम्=एवंभूतं हि तत्। भूतादिषु ब्रह्मणो हस्तपादाद्यवयवनिरूपणेन भूतादिरूपं हि तदितिसूत्रार्थः। न

केवलमाकाशरूपं तत्, न केवलं प्राणरूपं न वा केवलं ज्योतीरूपं हि तत्। सर्वमेव तस्य रूपम्। सर्वमेव तत्। तथा हि श्रुतयः, [1]"यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥" [2]"यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै०" [3]"यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्। दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै०" (अथ० १०।७।३२–३४) [4]"पादोऽस्य विश्वा भूतानि" (ऋ० १०।९०।३) [5]"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥" (शु०य० ३२।१) [6]"रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्" (ऋ० ३।५३।८) इत्याद्याः। सहस्रशीर्षेत्यादिनापि भगवतो विश्वरूपत्वमेव न्यरूपि ॥१।१।२७॥

अत्र विरोधमुद्भाव्य समाधत्ते—

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्॥ ॥१।१।२८॥

उपदेशस्य भेद उपदेशभेदस्तस्मात्। उपदेशभेदो विद्यते

(१, २, ३) निगदव्याख्याताः।

(४,५) निगदव्याख्यातौ।

(६) मघवा परमपूजास्पदो हि परमात्मा माया मायाभिः स्वाद्भुतशक्तिभिः स्वां स्वकीयां तनुं परि कृण्वानो विविधप्रकारं कुर्वन् रूपंरूपं बोभवीति यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्रूपेण युक्तो भवतीत्यर्थः।

तस्मान्न ज्योतिरादिशब्देन परमात्मनो ग्रहणम् । कीदृगुपदेश-भेदः ? ईदृक्--[1]"इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व । संवेशने तन्वश्चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥" (ऋ०१०।५६।१) [2]"अहुतो महो धरुणाय देवान्दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयाः ।" (ऋ०१०।५६।२) "ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित् ।" (शु०य०७।३५) "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥" (ऋ०१०।१९०।३) इत्यादिषु मन्त्रेषु सूर्यचन्द्रादीनां जनकत्वमपि ब्रह्मणि प्रतिपादितम् । कथं हि यो यस्य जनकः स तद्रूपो भवितुमर्हति ? न हि देवदत्तजनको यज्ञदत्तो देवदत्तरूपतां प्रतिपद्यत इति चेत् न । नैष दोषः । कुतः ? उभयस्मिन्नप्यविरोधात् । कार्यकारणभावयोरुभयोरप्यवस्थयोरवस्थिते तस्मिन्नुभयोरेव धर्मयोः संभवादविरोधः । यवाज्जायमानोपि यवो यव एव । यवस्योत्पादयितापि यव एव । यवस्योत्पाद्योपि यव एव । ननु यवानां बहुत्वे संभव-

---

(१) इदं जगत् ते तव एकमेकेन ज्योतिषा दिवा प्रकाशते । एकमन्यज्जगत्ते तव परेण ज्योतिषा चन्द्राख्येन नक्तं प्रकाशते । तृतीयेनालौकिकेन ज्योतिषा सं विशस्व सर्वं जगद्व्याप्नुहि व्याप्नोषि । देवानां विदुषां तन्वः ज्ञानस्य संवेशने संवेशनं स्थितिः परमे जनित्रे जनयितरि त्वयि परमात्मनि भवतु । त्वं देवानां चारुः प्रिय एधि भव ।

२ अहुतोचलस्त्वं दिवि द्युलोके देवान् देवानां धरुणाय धारणाय स्वं ज्योतिः आ मिमीयाः प्रविश ।

त्येवं कश्चिच्च कर्ता कश्चिच्च कार्य इति। न हि स एव यव उत्पादकः स एव चोत्पाद्यः। उभावपि भिन्नौ। नैवं ब्रह्मबहुत्वं लोकवेदसिद्धम्। कथं तर्हि दोषपरिहारः? कार्यकारणयोरभेदावग्रहादिति। अथवा ब्रह्मणो जातमपि सर्वं ब्रह्मैव। ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगदितिवचनात्कस्यापि पदार्थस्य न कोप्यंशो ब्रह्मविरहितो बोद्धव्यः। उपरिष्टादधस्तादन्तश्च सर्वत्रैव व्याप्यावस्थितं ब्रह्मान्तरा न वस्त्वस्तित्वं भजते। यथा यवाज्जातेषु यवेषु सर्व एव तद्यवधर्माः सुरक्षिता एवं ब्रह्मणो जातेषु दिवाकरनिशाकरादिषु ब्रह्मणो विच्छित्त्युच्छ्रायकाः सर्व एव धर्माः समवस्थिताः। ततश्च सर्वं ब्रह्मैव। किंच नानेनाधिकरणेन सर्वं ब्रह्मैवेत्येव प्रत्याय्यते, प्रत्याय्यत एव भूतादिरपि। विश्वरूपे परमात्मनि विरुद्धाविरुद्धधर्मयोः समान एवावकाशः। अतश्च मा भूत्कस्यापि संशयकुशेशयकिसलयाशयशयितेति ॥१।१।२८॥ इति भूतादिपादोपदेशाधिकरणम् ॥१०॥

(अथ प्राणाधिकरणम् ॥११॥)

यद्यपि पूर्वमाकाशप्राणाधिकरणे प्राणोपि तत्तत्प्रकरणे ब्रह्मैवेति संक्षेपेणावधारितं तथापि किञ्चिदधिकं वक्तुमधिकरणमिह पुना रचयति—

प्राणस्तथानुगमात् ॥१।१।२९॥

प्राणशब्देनापानव्यानोदानसमानादयोन्ये च वाय्वर्थकाः सर्वे शब्दा ग्रहीतव्याः। "प्राणा वै मारुताः" (शतं० ९।३।१।७)

इतिवचनात्। प्राणोपि ब्रह्मवाचकः शब्दः। कस्मात्? तथानुगमात्। अनुगमोनुभवः। तथैवानुभवो भवतीति सूत्रार्थः। अथर्ववेदे श्रूयते–[1]"प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥" (अथ०११।३।१) [2]"प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्। प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न॥" (अथ०१३।३।१०) [3]"प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते। प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥" (अथ०११।३।११) [4]"प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते। प्राणो ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥" (अथ०११।४।१५) [5]"प्राण बध्नामि त्वा मयि" (अथ०११।३।२६) [6]"प्राण प्राणं त्रायस्व" (अथ०१९।४४।४) "प्राणाय स्वाहा" (यजु०२३।१८) [7]"अभीरवो विद्रे प्रियस्य मारुतस्य धाम्नः" (ऋ०१।८७।६) इत्यादिषु श्रुतिषु प्राणमारुतवातादिशब्दा ब्रह्मण एव बोधकाः। कुतः? तथानुगमात्। तथैवानुगमो भवति। न हि लौकिके प्राणे सर्वस्य चराचरस्य प्रतिष्ठा संभवति। संभवति च ब्रह्मणि सा सुतराम्। सामर्थ्याद्ब्रह्मण एव तत्रानुगमो भवति न तु लौकिकस्य प्राणस्य। अतः प्राणस्तदर्थका अन्ये वा शब्दा तत्तस्थलेषु ब्रह्म-

---

(१, २) निगदव्याख्यातौ।

(३) तक्मा व्यापकः। तकतिर्गतिकर्मा। अन्यत्स्पष्टम्।

(४, ५, ६) निगदव्याख्याताः।

(७) अभीरवो निर्भीका जनाः प्रियस्य सर्वप्रियकरस्य मारुतस्य परमात्मनो धाम्नो धाम विद्रे विविदिरे।

वाचका एव ।

अथवा प्राणशब्देनेहाथर्ववेदप्रतिपदिता (अथ० १५।१५। ३-९) अग्निरादित्यश्चन्द्रमाः पवमान आपः पशवः प्रजा इत्येते सप्त पदार्थां ग्राह्याः । अमी अप्यखिला ब्रह्मवाचका एव। एवं चाकाशप्राणाधिकरणादस्य प्राणाधिकरणस्य भेदोपि स्फुटो भवति। किंच तत्र तल्लिङ्गदर्शनात्प्राणस्य ब्रह्मवाचकत्वमत्र त्वनुभवादितीयान्विशेषः ॥१।१।२९॥

अत्रोत्थितामुत्थापितां वा शङ्कां समादधान आह—

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥१।१।३०॥

न—प्रागुक्तं तन्न। कुतः ? वक्तुरात्मोपदेशात्—वक्तुरुपदेष्टुऋंषेरात्मोपदेशात् । अयमाशयः । वेदेषु प्रायेण सर्व एव मन्त्रा उपदेश्योपदेष्टारौ प्रकल्प्यैव प्रवृत्ताः। कश्चिच्छ्रोता कश्चिच्च वक्ता। कश्चिदुपदेश्यः कश्चिच्चोपदेष्टा। "तेजोसि तेजो मयि धेही"ति यथा। अत्राचार्यः शिष्याञ्शिक्षयति तेजोसीतिरीत्या युष्माभिः प्रार्थ्यं परं ब्रह्मेति। "विद्मे प्रियस्य मारुतस्य धाम्न" इत्यादौ वक्ता वेदर्षिः स्वयमेव स्तौति स्वम् 'अहं मारुतधामज्ञानवा'' निति। एवं चात्मन एवोपदेशः प्रख्यापनमितियावत् , प्राणशब्देन प्रावोचि न ब्रह्मण इति चेदुच्यते तर्हीदमुत्तरम्–, अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्—अस्मिन्मन्त्रेस्मिन्प्रकरणे चाध्यात्मसम्बन्धस्यैव भूमा बाहुल्यं विद्यते नोपदेष्टुः कस्याप्यृषेरन्यस्य वा कस्यचिदिति ॥१।१।३०॥

अन्यदपि समाधानं रचयति—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥१।१।३१॥

शास्त्रस्य दृष्टिः शास्त्रदृष्टिस्तया। शास्त्रदृष्टिर्नामोपदेश्योपदेष्टृभावकल्पनम्। वेदातिरिक्तेषु शास्त्रेषु व्यासकालीनेषूपदेश्यभाव उपदेष्टृभावश्च दृष्टौ भवतः। एवं वेदेष्वपि कल्पनोभयोरुपदेश्योपदेष्टृत्वयोरवगन्तव्या। तत्र दृष्टान्तमाह—वामदेववत्। यथा भक्तेषु प्रह्लादो ध्रुवश्च सर्वत्रैवोपतिष्ठाते एवं वेदान्तेषु प्रायेण सर्वत्र वामदेव उपतिष्ठते। वामदेवो मुक्तो वामदेवो न मुक्त इतिवत्। वामदेवोपदेशस्तु वेदे। तथा हि "त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः। अनन्ते अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः॥" (ऋ०४।१।७) इत्यत्र यथा वामदेवः कञ्चिच्छिष्यं प्रकल्प्याग्निं स्तौति तथैव तत्र तत्रर्षिरुपदिशति प्रकल्पिताञ्छिष्यानिति॥ ॥१।१।३२॥

अपरां शङ्कामुन्मूलयति—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥१।१।३२॥

इति श्रीमद्राममन्त्राचार्यैः श्रीमद्व्यासमहर्षिभिः
प्रणीते वेदान्तदर्शने प्रथमाध्याये
प्रथमः पादः

उपरिनिर्दिष्टासु सर्वासु श्रुतिषु जीवलिङ्गं मुख्यप्राणलिङ्गं च दृश्यते। येन लिङ्गेन चिह्नेनोपवर्णनेन निर्विघ्नं जीवग्रहणं भवति तज्जीवलिङ्गमित्युच्यते। येन च लिङ्गेन मुख्यप्राणस्य लोकप्रसिद्धिमुपगतस्य निरुपद्रवं ग्रहणं भवति तन्मुख्यप्राणलिङ्गमित्युच्यते। तथा च जीवस्यैव मुख्यप्राणस्यैव वा ग्रहणमस्तु मास्तु च परस्य ब्रह्मणोथवा त्रयाणामप्यस्तु ग्रहणमिति चेन्न। कुतः? उपासात्रैविध्यात्। उपासोपासना। तस्यास्त्रैविध्यमुपासात्रैविध्यं तस्मात्। यदि जीवस्यैव ग्रहणं स्यात्केवलस्य तर्हि प्राणस्य कथं न? तस्यापि लिङ्गप्रतीतेः। यद्युभयोरेवागत्या ग्रहणं तर्हि परब्रह्मणोपि कथं न? तस्यापि लिङ्गप्रतीतेः। यदि त्रयाणामेव ग्रहणमिति पक्षः कुक्षौ क्रियते तर्ह्युपासात्रैविध्यरूपो दोषः प्रसज्येत। जीवस्याप्युपासनं प्राणस्यापि लौकिकस्य ब्रह्मणश्चापि परस्य। न हि वेदेषु जीवोपासनया प्राणाद्यचिदुपासनया वा श्रेयस्समधिगतिः प्रतिपादिता। अवशिष्टं तु सूत्रं व्याख्येयम्। आश्रितत्वादिति। अन्यासु च श्रुतिषु प्राणशब्देन ब्रह्मण आश्रयणात्। कास्ताः श्रुतयः? श्रूयन्ताम्। "[1]यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः। अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते॥" (अथ० ११।४।

---

(१) यः (प्राणः परमात्मा) विश्वजन्मनो विश्वात् परमात्मनो जन्म यस्य तस्य चेष्टतः व्यापारं कुर्वतोस्य विश्वस्य जगत ईशे ईष्टे, अन्येषु तद्भक्तभिन्नेषु तद्भक्तद्रुक्ष्वित्यर्थः, क्षिप्रधन्वने क्षिप्रं दण्डप्रदानोद्यताय हे प्राण तस्मै ते तुभ्यं नमोस्तु।

२३) [1]"यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः। एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत्सुश्रवः ॥ (अथ० ११।४।१९) "प्राणाय स्वाहा" (शु०य०२३।१८) "प्राणो वा अमृतम्" (शत०) इत्यादयः। तद्योगादिति। तेन योगस्तद्योगतस्मात्। योगः सम्बन्धः। ब्रह्मणा सहैव सम्बन्धस्तत्तच्छ्रुतिषु दृश्यते न लौकिकप्राणेन सहेति ॥१।१।३२॥ इति प्राणाधिकरणम् ॥११॥

इति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–परमहंसपरिव्राजक–स्वामिश्रीभगवदाचार्यमहाराजप्रणीते वेदान्तदर्शनवैदिकभाष्ये प्रथमेऽध्याये प्रथमः पादः।

प्रथमेऽध्याये द्वितीयः पादः

ध्यायं ध्यायं तमोहन्त्रीं सर्वविद्याप्रकाशिनीम्।
पादुकां गुरुपादानां लीनामि ब्रह्मचिन्तने ॥१॥

(सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरणम् ॥१॥)

पूर्वस्मिपादे व्यासार्यपादा ब्रह्मस्वरूपं विवृत्य वेदेषु तत्तत्प्रकरणेषु प्रयुक्तानां लोकप्रसिद्धानां प्राणादिशब्दानामपि ब्रह्माभिधायकत्वं सबलं समर्थ्यापि्यतृप्ता इवास्मिन्द्वितीयस्मिन्नपि पादे ब्रह्मस्वरूपसमर्थनाय प्रयतमाना आहुः—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥१।२।१॥

अत्र प्रख्यातपर्यायः प्रसिद्धशब्दो नेति वयम्। प्रकर्षेण

(१) हे प्राण परमात्मन्, यथा इमाः सर्वाः प्रजास्तुभ्यं बलिहृतः सन्ति, एवा एवं तस्मै बलिं हरान् त्वं जीवनसामग्रीं हर प्रापय यस्त्वा त्वां शृणवच्छृणोति त्वदाज्ञां पालयति हे सुश्रवः यशस्विन्!

सिद्धः प्रसिद्ध इत्यर्थकोयं शब्दः। सिद्धत्वं च कथञ्चिदपकर्ष-राहित्यम् । तत्र प्राकर्ष्यं च सातत्यरूपम् । यत्र सातत्येनापकर्षराहित्यं तत्प्रसिद्धपदाभिलप्यम् । तादृशं तु ब्रह्मैव । एवं च सर्वत्र वेदेषूपासनादिप्रकरणेषु प्रयुक्तैस्तैस्तैः शब्दैर्लोकरूढार्थं परित्यज्य ब्रह्मरूपोर्थ एव ग्रहीतव्यः । कुतः ? प्रसिद्धोपदेशात् । तत्तत्स्थलेषु सातत्येनापकर्षरहितस्य ब्रह्मण एवोपदेशात् । तत्रोदाहरणं यथा—"इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः । परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः ॥" (अथ०८।४।१) इतिमन्त्रे पठितयोरिन्द्रसोमयोर्न लोकप्रसिद्ध इन्द्रः सोमश्चार्थः किन्तु ब्रह्मैव। इन्द्रे सोमे च लोकालोकावगते नास्त्येव सातत्येनापकर्षराहित्यमिति न तिरोहितम् । अन्येपि पूर्वमुपपादिताः प्राणादिशब्दा अपि स्मर्तव्या एवात्र । प्रख्यातार्थकप्रसिद्धशब्दग्रहणे तु प्रसिद्धाप्रसिद्धयोः प्रसिद्धस्यैव ग्रहणस्य न्याय्यतया प्रसिद्धानां प्राणाकाशादीनामिन्द्रसोमादीनां च जडानामेवोपास्यत्वं प्राप्येत विरुध्येत च तल्लोकादपि वेदाच्चापि ॥१।२।१॥

सर्वत्र द्व्यर्थकबह्वर्थकशब्दैः प्रसिद्धार्थत्यागपुरस्सरं नित्य-

(१) वृषणा वृषणौ बलवन्ताविन्द्रसोमौ, रक्षस्तपतं तापयतमुब्जतमार्जवोपेतं च कुरुतम् । तमोवृधोऽज्ञानमानवर्धकान्न्यर्पयतं नितरामपसारयतम् । अचितश्चिद्रहितानविवेकनः क्रूरान् परा शृणीतं सर्वथा नाशयतम् । नि ओषतं दहतं हतं निष्प्राणान् विधत्तम् । अत्रिणो निरपराधजीवभक्षकान्नुदेथां नुदतं नि शिशीतं च निर्बलान्कुरुतम् । धर्मभेदादेकस्यैव परमात्मन इन्द्रशब्देन सोमशब्देन च सम्बोधनम् । धर्मभेदधियैव द्विवचनसमासोपपत्तिः ।

सिद्धब्रह्मग्रहणेपरमपि हेतुमाह—

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥१।२।२॥

वक्तुमिष्टा विवक्षिताः। विवक्षिताश्च ते गुणाश्चेति विवक्षितगुणास्तेषामुपपत्तिः। सिद्धिस्ततः। चः समुच्चये। विवक्षितानां गुणानां ब्रह्मण्येवोपपत्तिर्भवति नान्यत्र। के खलु विवक्षिता गुणाः? उच्यन्ते। "इन्द्रसोमा तपताम्" इत्यादिमन्त्रे रक्षसां दुष्टकर्मणां दुर्हृदयानां च हननं नाशनं पराभवः प्रणोदो निर्बलीकरणमन्यत्र च ब्रह्मधर्मतापत्तिर्विशुद्धमनोग्राह्यत्वप्राणधारकत्वज्योतिस्स्वरूपत्वसत्यसङ्कल्पत्वादयो बहवः सन्ति विवक्षिता गुणाः। एतेषां ब्रह्मण्येवोपपत्तेः सर्वत्र तस्यैव ग्रहणं कर्तव्यम् ॥ ॥१।२।२॥

ननु जीवेपि मनोमात्रग्राह्यत्वं तत्स्थितौ प्राणस्थितिरिति-प्राणधारकत्वमित्यादयो गुणाः संभवन्त्येव कथं न तर्हि तस्यैव तस्यापि वा ग्रहणमित्याशङ्क्याह—

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥१।२।३॥

तुः पूर्वपक्षव्यावर्तकः। शारीरो जीवः। उपासनाप्रकरणेषु सत्यपि जीवलिङ्गे जीवो न ग्रहीतव्यः। कुतः? अनुपपत्तेरसिद्धेः। विवक्षितगुणानामित्येव। वाक्यैकदेशोपीहानुवर्तते। छान्दसीयमनुवृत्तिः। ननु नेदं छन्दः, सूत्रमिति। सत्यं सूत्रम्। सूत्राण्यपि च्छन्दोवद्भवन्ति। तथा च विवक्षितगुणानामनुपपत्तेर्न

शारीरसङ्ग्रहः। न हि सर्वशक्तिनि विभुनि ब्रह्मण्युपदिष्टा गुणा अल्पशक्तावल्पपरिमाणे च जीवे सम्भवन्ति। ननु जीवानामपि विभुतया नाल्पपरिमाणता प्राणिति तत्रेति चेद्गाढम्। विभुत्वेपि तेषां न ब्रह्मगुणागारता। वेदेषु तु न जीवविभुत्वमुपलभ्यते। विभुर्वा स्याज्जीवोविभुर्वा जीवधर्मा एव तत्र तिष्ठन्ति न ब्रह्म-धर्मा इति तु ध्येयम्।

ननु मनोमात्रग्राह्यत्वप्राणधारकत्वादिकं ब्रह्मगुणत्वेन संमतं जीवेस्त्येवेत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्। अचार्वेव तत्। नास्ति जीवे ग्राह्यता। न केनापि करणेन कारणेन च स गृह्यते। नास्ति वेदेषु तद्ग्रहणसंवादः। अहं जीवोहं दासोहं प्रपन्न इत्यादिग्रहणं तु चिरप्रवृत्ताज्ञानशास्त्रादिसहकृतमनोव्यापारो न तु मनोमात्र-व्यापारः। स्वार्थायैव चैतद्ग्रहणं न परार्थम्। ब्रह्मण्यवस्थिता ग्राह्यता तु न ब्रह्मार्था परार्थैव। ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवतीति ब्रह्म-ग्रहणफलम्। ग्रहणं ज्ञानमेव। एवं प्राणधारकत्वं च जीवस्य पूर्वजन्मकर्मकलापायत्तं न स्वातन्त्र्येण। ब्रह्मणि तु सर्वं स्वात-न्त्र्येणैव तत्स्वरूपतया स्थितम्। न कोपि बद्धदशामनुभवन्नस्वा-स्थ्यं च संभजञ्जीवो ज्योतिस्स्वरूपो भवितुमर्हति यदा च ज्यो-तिस्स्वरूपता तस्य, जीवता च तदा परिहृतस्वरूपा सती क्वापि विलीना भवति। जीवतीति जीवः। जीव प्राणधारणे। प्राणधारणवेलायामेव प्राणधारणवेलासंभावनायामेव वा जीवत्वव्यवहारः। अनेन शारीरोपि व्याख्यातो वेदितव्यः॥१।२।३॥

अपरमपि हेतुमाह--

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥१।२।४॥

"कर्तुरीप्सिततमं कर्म" "स्वतन्त्रः कर्ता" इतिपाणिनिमुनिसङ्केतिते कर्मकर्तृणी न प्राग्भवीयव्यासमहर्षिप्रयुक्ताभ्यां ताभ्यामर्थान्तरे। व्यपदेशो व्यवहारः। चः समुच्चायकः। नेति शारीर इति च पदद्वयं पूर्वसूत्रादिहाप्युपतिष्ठते। एवं च कर्मकर्तृव्यपदेशादपि तत्तत्प्रकरणेषु तत्तद्वाक्येषु शारीरो जीवो न ग्रहीतव्य इति सूत्रार्थः। अयमाशयः। "अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्" (शु० य० ४०। १६) इत्यत्राग्न इतिसम्बोधनपदादुपस्थितयुष्मच्छब्देन व्यवहार्यं ब्रह्म कर्तृ, अस्मानित्यस्मत्पदवाच्या जीवाः कर्म। "तमीशानं जगतस्तस्थुषः पतिं धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम्" (शु०य०२५।१८) इत्यत्र प्राप्ये ब्रह्मणि तमीशानमितिकर्मत्वमुपासकेषु च जीवेषु "वयम्" इति कर्तृत्वम्। एवं च सर्वत्रोपास्योपासकयोर्भेदप्रदर्शनायैकतरस्मिन्कर्तृत्वव्यपदेशोन्यतरस्मिंश्च कर्मत्वव्यपदेशः। नेदं बोध्यं नियमेन परब्रह्मणि प्राप्यतया कर्मत्वं प्रापकतया च जीवे कर्तृत्वमिति। उभयोरपि क्वचित्कर्मत्वं क्वचिच्च कर्तृत्वम्। जीवब्रह्मणोर्भेदप्रख्यापनार्थमेवेदं सूत्रम्। ततश्च कर्मेति कर्त्रितिच उपलक्षणरूपमन्येषामपि कारकाणाम्। तथा च "कृणोत्यस्मै वरिवो य इत्थेन्द्राय सोममुशते सुनोति" (ऋ०४।२४।६) इत्यत्रास्मा इन्द्राय वरिवो वरिवस्यां कृणोति करोतीति सम्प्रदानमुपास्ये। तेजोसि तेजो मयि धेहीत्यधिकरणसप्तम्युपासके। एवमन्या अपि विभक्तय उन्नेया

वेदेभ्यः। एवं चोपास्योपासकयोर्भेदनिश्चयेन न ब्रह्मधर्माणामुपपत्तिः शारीरे।

अत्र शारीर इत्येकवचनपाठः। अत्रायं विशयो भगवतो व्यासस्य जीवैकत्वं विवक्षितं जीवबहुत्वं वेति? कुतोयं संशयः? एकवचनपाठादेव। जातावप्येकवचनं भवति दुष्टो नोपगन्तव्य इति। वाढम्। वेदपदानुसारी हि भगवान्बादरायणः। यद्वेदा वदन्ति तदेव तस्य प्रमाणम्। "इमे जीवा वि मृतैरावद्गत्रन्०" "इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि" (अथ० १२।२।२२,२३) "जीवानामायुः प्रतिर" (अथ०१२।२।४५) इति बहुवचननिर्देशेन जीवबहुत्व एव वेदानां पक्षपातः। "जीवं रुदन्ति" (अथ० १४।१।४६) इत्यादिष्वेकवचननिर्देशस्तु जातिविवक्षयैव। नियते ह्येकत्वे बहुवचनमवचनं स्यात्। तथा च जीवबहुत्ववादिनैव भगवता व्यासेन भाव्यम् ॥१।२।४॥

हेत्वन्तरमाह—

शब्दविशेषात् ॥१।२।५॥

चकारोध्याहार्यः। शब्दविशेषादित्यस्य विभक्तिविशेषादित्यर्थः। न हि सर्वत्रोपास्योपासकयोः कर्मकर्तृविभक्ती एव भवतः। अन्या अपि विभक्तयः संभवन्ति। सूपपादितमेतदव्यवहितपूर्वसूत्र इति ग्रन्थविस्तरभयाद्विरमामः ॥१।२।५॥

हेत्वन्तरमाह—

स्मृतेश्च ॥१।२।६॥

स्मृतिशब्देन नात्र भगवद्गीता ग्रहीतव्या। भगवता व्यासे–

नैव सा संगृहीता। न हि कोप्यभियुक्तः स्वपक्षं रक्षितुं स्वस्यैव वचनान्तरं प्रामाण्येनोपस्थापयितुमर्हः। यद्यभियुक्तवचनमेव तद्वक्तव्यसमर्थने प्रमाणं स्यात्तर्हि किमर्थो वचनान्तरगवेषणाश्रमः? पूर्ववचनेनैव सर्वं समीहितं सम्पत्स्येत। ननु भवतु नाम भगवद्गीतासंग्राहको भगवान्व्यासः, तन्निहितसमीहितहिततत्त्वं तु भगवतो वासुदेवस्यैव। तथा च वासुदेवोपदिष्टसिद्धान्तरूपाया गीतायाः स्मृतित्वेन ग्रहणे का खल्वसूया भवताम्? ओम्। अस्त्येवात्रास्माकमसूया। प्रत्येकमक्षरं श्रीकृष्णोक्तमेव तत्र संनिहितमिति शपथशतपथमन्तरेण प्रकारेण केनान्येन निर्णेयम्? अतो भगवतो बादरायणात्पूर्वभवस्य मनोः स्मृतिरेवात्रोदाहर्तव्येति युक्तमुत्पश्यामः। तथाहि, "यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्। तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते॥" (मनु० १।११) इत्यादिः। यदि नेयं स्मृती रचिता मनुना किन्तु भृगुणेति मतं, मृग्यमन्यत्स्मृतिप्रमाणम्। कल्पग्रन्थानामपि स्मृतित्वमेव। प्रथमोपदेशः श्रुतिः। श्रुतिं श्रुत्यर्थं चानुस्मृत्य प्रणीतान्यन्यानि शास्त्राणि व्याससमयस्थितानि व्यासपूर्वजकृतानि च सर्वाण्येव स्मृतिशब्देनात्र ग्रहीतव्यानि॥१।२।६॥

ननु "पञ्चस्वन्तःपुरुष आ विवेश" (शु०य०२३।५२) "अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" (शु०य० ३१।१) "एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः।" (अथ०१०।८।२८) इत्यादिषु संहितावचनेषु पुरुषस्याल्पदेशत्वबोधनेनाणुपरिमाणवतो जीवस्यैव पूर्वोक्तेषु प्रदेशेषु ग्रहणं न ब्रह्मण इत्याशङ्क्याह—

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥१।२।७॥

अर्भकोल्पः। "अर्तिगृभ्यां भन्" (उणादिसू०४३२) इत्यनेन जौहोत्यादिकाद् ऋ गतावित्यस्माद्धातोर्भन्प्रत्ययः। संज्ञायां च कन्। अथवा "अर्भकपृथुकपाका वयसि" (उणा०७३२) इत्यनेन ऋधु वृद्धावित्यस्माद्वुन्। अकादेशः। धकारस्य भकारः। लघूपधगुणश्च। यद्यपि पोतः पाकोर्भको डिम्भ इत्यमरादर्भकशब्दः शिशुमात्रं कथयति तथापि लक्षणया "अर्भकः कथितो बाले मूर्खेपि च कृशेपि च" इतिमेदिनीबलाद्वात्रार्भकशब्दस्याल्पार्थकत्वं सुवचम्। अथवा मा भूल्लक्षणा मा च भूदापरकालिककोषसाहाय्यम्। मूत्रप्रयोगबलाज्ज्ञायते तदानीमर्भकशब्दस्याल्पार्थकत्वमासीदिति। अर्भकोल्प ओकोवकाशो यस्य तदर्भकौकास्तत्त्वं तस्मादर्भकौकस्त्वादल्पप्रदेशत्वादित्यर्थः। अल्पशक्तित्वादितितात्पर्यार्थः। तद्व्यपदेशाच्च=अल्पशक्तित्वव्यपदेशाच्च। वेदे सर्वत्रैव जीवा अल्पशक्तित्वेनोपवर्णिताः। तथा हि, [1]"यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।" (अथ०२०।३४।९)[2]भूरि त इन्द्र वीर्यं तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघ-

---

(१) यस्माद्दते जनासो जना न विजयन्ते युध्यमानाश्चावसे आत्मानमवितुं यं हवन्त आह्वयन्ति।

(२) हे इन्द्र ते तव वीर्यं भूरि महदस्ति। तव स्मसि वयं तवैव स्मः। हे मघवन् सर्वधनस्वामिन्, अस्य स्तोतुः काममभिलाषमा पृण सर्वथा पूरय।

वन्काममा पृण।" (अथ०२०।१५।५) [1]"एको देवत्रा दयसे हि मर्तान्" (अथ०२०।१२।५) [2]"प्रमदा मर्त्यान्प्र युनक्षि धीरः।" (अथ०१९।५६।१) [3]"यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः" (अथ०१९।४०।१)[4]" मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्तपः"(अथ०१९।४०।३) इत्यादिषु सर्वत्रैवाल्पशक्तित्वं जीवानामभिद्योतितम्। एवं चार्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च जीवस्यैव ग्रहणं कर्तव्यमित्याशङ्कासि चेत् । न। निचाय्यत्वात् , एवं (व्यपदेशः) निचाय्यत्वेन दशाङ्गुलपरिमाणके हृदयप्रदेशे ज्ञेयत्वेनोपास्यत्वेन वा, एवम्=अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलमित्युपदेशो न त्वल्पशक्तित्वव्यपदेशार्थो नो वाणुत्वव्यपदेशार्थः। अणुत्वं व्यपोहितुं स्वयमाह सूत्रकारः—व्योमवच्चेति। व्योमास्त्यस्मिन्निति व्योमवत्। तद्ब्रह्म यत्र्यल्पमणु वा स्याद्व्योमवन्न स्यात्। व्योम्नो बहुप्रदेशव्यापित्वाद्ब्रह्मणश्चाल्पप्रदेशत्वाद्व्योम्नः श्रुत्युक्तमाधारत्वं ब्रह्मणि न युज्येत । व्योमवदित्यत्राधारवाचको हि मतुप्। "[5]अन्तरिक्षमुतोदरम्"(अथ०१०।७।३२) इत्यत्रान्तरिक्षमाकाशस्तस्योदरत्वेन निरदेशि। सर्वापेक्षया सूक्ष्मं व्यापकं च भौतिकं तत्त्वमाकाश एव। सोपि यस्योदरीभूतस्तस्य व्यापकत्वस्य का नाम कथा? अथवा व्योमवदित्यस्य व्योमेवेत्यर्थः। यथा व्योम व्यापकं तथैव ब्रह्मापि। अथवा व्योम्नो व्यापकत्वेपि घटा-

---

(१) देवत्रा भक्त्यधीनो भक्तत्राणकर्ता वा त्वमेक एकाक्येव मर्त्यान् मनुष्याणां दयसे।

(२) धीरस्त्वं मर्त्यान्मरणधर्मणो मनुष्यान्प्रमदा प्रकृष्टेनानन्देन युनक्षि संगमयसि।

(३, ४, ५) निगदव्याख्याताः।

काशमठाकाशेत्यादिव्यपदेशवद्ब्रह्मणो व्योमादिनिखिलपदार्थव्यापकत्वेप्युपासनार्थमेवाल्पप्रदेशत्वव्यपदेशः । ब्रह्मणो निचाय्यत्वं च वेदेषु प्रतिपादितम् । तथा हि, [1]"वैश्वानरं मनसाग्निं निचाय्या हविष्मन्तो अनुषत्यं स्वर्विदम् । सुदानुं देवं रथिरं वसूयवो गीर्भी रण्वं कुशिकासो हवामहे ॥" (ऋ० ३।२६।१) इति ॥१।२।७॥

ननु हृदयादिदेहप्रदेशेष्ववस्थितस्य ब्रह्मणो जीवस्येव सुखदुःखादिसम्भोगप्राप्तिरपि संभाव्येतेत्याशङ्क्याह—

सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ।१।२।८॥

वैशेष्यं विशेषः । स्वार्थे ष्यञ् । जीवब्रह्मणोर्विद्यते हि विशेषः । तेन सुखदुःखादिसम्भोगानां प्राप्तिर्जीवस्येव ब्रह्मणो न भवति । कीदृशोसौ विशेषः ? उच्यते । जीवः सुखदुःखादिहेतुभूतशुभाशुभकर्मकर्ता ब्रह्म च सुखदुःखादिविलासप्रतिभासानवभासितम् । एवं च नान्तर्वर्तितया किन्तु शुभाशुभकर्मकर्तृतया तात्कर्मकर्त्रभिमानितया वा सुखदुःखादिसम्भोगाधिगतिमान्भवति जीवः । नैकस्मिन्नगरे नगरैकदेशे वा समानागारे वा निवासमात्रेण सर्वेषां सुखं वा दुःखं वा निर्विशेषेण भवति । भवति च तत्र कस्यचित्सुखं सुखाभावश्च कस्यचित् । तत्रैव निवसतां ज्ञानिनां

---

(१) अस्य मन्त्रस्याग्निर्देवता । हे अग्ने हविष्मन्तो वसूयवो धनाभिलाषिणो वयं कुशिकासः कुशिकगोत्रोत्पन्ना अनुषत्यं सत्यस्वरूपं स्वर्विदं सुखवेत्तारं सुखस्वरूपं वा सुदानुं मोक्षदातारं रथिरं रमयितारं रण्वं सर्वगं वैश्वानरं सर्वहितैषिणं देवमग्निं प्रकाशस्वरूपं मनसा चेतसा निचाय्य विदित्वा हवामहे ।

विवेकिनां वा निर्दग्धकर्मफलबीजानां न भवति सुखदुःखाद्यनुभवः । एवं शरीरे जीवेन सहैवावतिष्ठमानस्यापि ब्रह्मणो न सुखदुःखसम्भोगरोगसंयोगः । तथा च श्रुतिः [1]"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥" (ऋ०१।१६४।२०; अथ०।९।९।२०) । व्याख्यातार्थोऽयं मन्त्रष्टिप्पण्यां विस्तरेण पूर्वम् ॥१।२।८॥ इति सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणम् ॥१॥

(अथात्त्रधिकरणम् ॥२॥)

"महान्वै भद्रो यभ मामद्ध्यौदनम्" (अथ०२०।१३६।१३) इत्यत्रान्यत्र चादनप्रसङ्गोपसञ्जनात्कोऽत्तेतिविनिर्णयार्थमाहाचार्यः—

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥१।२।९॥

तदेव ब्रह्म स एव परमात्माऽत्तेत्यप्युच्यते । अत्ता भक्षणक्रियाकर्ता । प्रलयकर्त्तेति यावत् । चराचरस्वरूपं निखिलं जगत्तस्मिन्नेव श्रान्तं श्रान्तं विश्राम्यति । स्वान्तःस्थापयितृत्वमेवात्रात्तृत्वं ब्रह्मणः । अन्तःस्थापनं च न हि लोक इव किञ्चित्कुतश्चिद्गृहीत्वान्यत्र रक्षणम्, किन्तु कारणे ब्रह्मणि कार्यविलयः । तथैव श्रुतिः । तथाहि, "वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ॥" (अथ०२।१।१) "तत्सम्भूय भवत्येकमेव" (अथ०१०।८।११) "विश्वं भवत्येकनीडम्" (शु०य०३२।८)

---

(१) व्याख्यातः ।

इत्येतेषु मन्त्रेषूपवर्णितैकनीडता वा प्रलय एव। नन्वनलोपि कथं नात्ता भवतु? श्रुतौ तस्याप्यत्तृत्वेन श्रवणात्। तथाहि, "यो नो द्वेष्टि तमद्धयग्ने" (अथ०१२।२।३)। अस्त्येव सोप्यत्ता। को निवारयति तस्यात्तृत्वम्? तृणात्ता हि स न तु चराचरात्ता। अत्र तु चराचरात्तृत्वं श्रूयते तेन ब्रह्मण एव ग्रहणं नानलस्य। ननु "यो नो द्वेष्टि तमद्धी"तिकथनेन लौकिकाग्निरपि चराचरात्तैवेति चेत्, भ्रान्तोसि। तत्र श्रुतोग्निशब्दो न लौकिकमग्निं बोधयति, परमात्मानमेव। सामर्थ्यात्। मा भूदनलस्य ग्रहणं जीवस्य कुतो नात्तृत्वेन ग्रहणम्? श्रूयते हि तस्यात्तृत्वं "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ती"त्यत्र। जीवस्यापि न ग्रहणम्। स हि पिप्पलं स्वाद्वत्ति केवलं न तु चराचरम्। पिप्पलं तु कर्मफलानुकूलभोगः। किं च जीवो वृक्षस्य पिप्पलमत्ति न तु वृक्षमेव। चराचरस्वरूपो हि वृक्षः। स एव संसारः। न हि जीवश्चराचरयोः संहारकर्मणि शक्तिं समाहरति। अल्पशक्तिर्हि स इत्यसकृदवोचाम। ननु ब्रह्मण्यपि न विद्यते संहारशक्तिः। तथैव कठोपनिषदि श्रूयते। "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः" इति। अत्र ब्रह्म च क्षत्रं चेति पृथक्कृत्य ग्रहणेनैवोभयत्वस्य लाभात्पुनरुभे इति ग्रहणादुभये ब्राह्मणक्षत्रिया एव तस्यौदनतां भजन्ते। तयोरेव सोत्ता भवति नान्येषामितिगम्यते। न गम्यत एतत्। भ्रान्तोसि भासमानेपि भास्वति पथि। न खलु दृश्यन्ते लोके मुखजा बाहुजाश्चैव परासवो भवन्तो न वा दृश्यन्तेजरामरां वा नावमधिरूढा ऊरुजाः पादजा वा। सर्वे हि स्वक-

र्मफलभोगावसाने चरमां गतिमाचुम्बन्त्येव । एवमचरा अपि काले कालेपक्षयतां पक्षयन्त एव वीक्ष्यन्ते । न प्रत्यक्षतोनुभूयमानमपलपितुं शक्यं भवति वस्तु । एवं च ब्रह्मक्षत्रयोः कठश्रुतावुपादानमवशिष्टानामकलनीयमहाकालचक्रचङ्क्रमणेन पिष्यमाणानां विश्वेषां चराचराणामुपलक्षणार्थं मन्तव्यम् । श्रुतिरप्यत्र भवति "अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः[2] । यो मा ददाति स इदेवमावा[3] अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥" (साम०५९४) । अस्यामृचि सर्वेषामेवान्नमदतां मुखबाहूरुपादजातानां खगोरगमृगादीनां कीटपतङ्गानां च केवलं तद्ब्रह्मैवात्ता भवति नान्य इति स्पष्टतरम् । चराचरेत्यत्र चरशब्देन नात्मग्रहणं वेदितव्यम् । नात्मादनीयो भवति । नित्यो हि सः । केवलं गमनादिक्रियाः कुर्वाणाश्चरशब्दवाच्या अत्र वेदितव्याः ।

ननु किमर्थमिदमुच्यत "अत्ता चराचरग्रहणात्" इति ? "जन्माद्यस्य यतः" इति सूत्रेणैवात्र प्रतिपाद्यार्थस्य गतार्थत्वात् ।

---

(१) अहं परमात्मा ऋतस्य सत्यस्यास्तित्वमतो जगतः प्रथमजा प्रथमोत्पन्नोस्मि । देवेभ्यः प्राणिभ्यः पूर्वं प्रथमजातोस्मि । अमृतस्य मोक्षस्य नाभिः केन्द्रमस्मि । यस्तत्त्वज्ञो मा मां जिज्ञासुभ्यो ददाति स इत् एव आवा रक्षकः । अहं सर्वेषामन्नमस्मि । अद्यत इत्यन्नम् । ज्ञानिभिरहमद्य इव स्वपोषणार्थम् । मादृशमन्नं सर्वशोकनिवर्तकमदन्तं सेवमानं ध्यायन्तं वा ज्ञानिनमद्मि स्वान्तलीनं करोमि ।

(२) नामेतिपाठान्तरम् ।

(३) मावा दहम० इतिपाठान्तरम् ।

सत्यम् । उक्तमेवार्थं स्मरत्यत्राचार्यः शब्दान्तरसन्निधानेन । अत्तृत्वश्रवणेन भविष्यन्तं भ्रमावतारमपाकर्तुमेवायमुद्योगः ॥ ॥१।२।९॥

किमविशेषेण सर्वत्रैव वेदेऽत्तृशब्दो ब्रह्मपरक एवेत्यत आह—

प्रकरणाच्च ॥१।२।१०॥

प्रकरणं प्रस्तुतः प्रसङ्गः । चकार एवकारार्थः । प्रस्तुतप्रसङ्गादेव निर्णीयते कुत्रादनकर्मणि ब्रह्म ग्रहीतव्यं कुत्र वा जीवः । "पिप्पलमत्ती"ति न ब्रह्मणो ग्रहणं प्रकरणात् । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीत्यादौ पठितेनान्यशब्देन जीव एव सन्निधाप्यते न ब्रह्म । [1]"यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम् । यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु" (अथ० ६।७१।१) यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि" (अथ० ६।७१।२) इत्यादिष्वपि जीव एवात्ता न ब्रह्म। प्रकरणादेव । [2]"उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् ।

(१) अहं ब्रह्मर्षिर्बहुधा विरूपमग्राह्यं यदन्नमद्मि यदेव च हिरण्यं सुवर्णादिकमश्वं गाम् अजाम् अविं च प्रति जग्रह प्रत्यगृह्णाम् प्रतिगृह्णामि वा तत्सर्वं होताग्निः सुहुतं सुजग्धं सुगृहीतं च कृणोतु करोतु ।

(२) उक्ष्ण उक्षाणो भक्तिरसेन तृप्तिकर्तारो भक्ता मे मदर्थं पञ्चदश पञ्च प्राणान् पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च पञ्च पचन्ति नियमयन्ति, विंशतिमुपर्युक्तानि पञ्चदशान्तःकरणचतुष्टयं प्रथमं स्पन्दनं चान्तःकरणचतुष्टयस्य पचन्ति नियमयन्ति; साकं सहैव पञ्चदश विंशतिं च अग्निरादित्यश्चन्द्रमाः पवमान आपः पशवः प्रजा इति सप्त प्राणान् पौर्णमास्यष्टकामावास्या श्रद्धा दीक्षा यज्ञो दक्षिणाश्चेति सप्तापानान् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्नक्षत्राण्यृतव आर्तवाः

उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ "(ऋ०१०।८६।१४) इत्यस्मिन्मन्त्रेत्ता परमात्मैव न जीवः। इन्द्रत्वं विश्वस्मादुत्तरत्वं च न ब्रह्मण ऋतेन्यत्र कुत्रापि संगच्छते। वेदानुसारिणी हीयं ब्रह्मविवेचना। वेदेषु समागतानां ब्रह्मबोधकपदानामर्थनिर्णयस्यावश्यकत्वात्प्रस्तावादत्तृशब्दविचारो नाचारोल्लङ्घनम् ॥१।२।१०॥ इत्यत्त्रधिकरणम् ॥२॥

(अथ गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ॥३॥)

तच्च ब्रह्म सर्वथा निगूढं विद्यत इत्याह—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥१।२।११॥

आत्मानौ जीवपरमात्मानौ गुहां प्रविश्य स्थितौ। हि यतः। तद्दर्शनात्—तस्य=प्रवेशस्य दर्शनं तद्दर्शनम्। तस्मात्। दर्शनमनुभवः। उभयोर्गुहाप्रवेशस्यानुभवो भवति तदनुभूतिभूतिचित्तानाम्। ननु प्रकृतं हि ब्रह्म। अतो ब्रह्मजिज्ञासेतिप्रतिज्ञानात्। तच्चैकम्। कथं तर्हि गुहां प्रविष्टावात्मानाविति द्विवच-नदर्शनम्? उच्यते। आत्मा हि द्विधा। जीवात्मा परमात्मा

संवत्सर इति सप्त व्यानानथर्ववेदोक्तान् (अथ०१५।१५।१७) पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि चत्वारि चान्तःकरणानीति पचन्ति नियमयन्ति; अनासक्ताः सन्तो यथायोग्यमुपयुञ्जन्ति। तानहमद्मि लक्षणया स्वस्मिन्स्थापयामि। पीव इत् स्थूल एव तेन भवामि तृप्यामीतिभावः। हि यतः उभा इत् उभावेव मे मम कुक्षी कुक्षेर्दक्षिणवामपार्श्वौ ते पृणन्ति सर्वथा सन्तोषयन्तीति तात्पर्यम्। तव तर्पणेन को लाभ इति चेत्, अहमिन्द्रः परमैश्वर्यसम्पन्नः सर्वस्मादुत्तर उत्कृष्टः।

चेति । उभयोरात्मत्वं समानम् । अत सातत्यगमने । सततमततीत्यात्मा । व्यापकत्वेन परमात्मनो गतेः सातत्यम् । शरीराच्छरीरान्तरं समये समये गच्छतो जीवस्यापि सातत्यगमनं नातङ्कप्रयोजकम् । परमात्मा सततं सकलं व्याप्नोतीत्यात्मेत्यभिधानं भजते । जीवश्च सततमेकस्माच्छरीरादन्यद्व्रजतीत्यतः सोपि भजत्येवात्मेत्यभिधानम् । तिष्ठतु तावदेतत् । अन्यत्पृच्छामि । कामं पृच्छ । ब्रह्मविचारावसरे जीवविचारस्य किं प्रयोजनम् ? ब्रह्मविचारस्तु मुक्तिमुक्ताव्यक्तये भवतीति वेदवचनैर्व्यक्तं तमेव विदित्वाति मृत्युमेतीति । न जीवविचारफलं वेदेषु प्रदर्शितम् । कथमननुशिष्टमप्रतिज्ञातं चेहानवसरे प्रस्तुतम् ? वाढं पृष्टम् । गृह्यतां प्रतिवचनम् । जिज्ञास्यं हि ब्रह्मेति तु त्वयाप्यूरीक्रियते । जिज्ञासुश्च क इत्यन्वेष्टव्यम् । न हि जिज्ञासुनान्तरेण जिज्ञास्यमन्तरा जिज्ञासा प्रवर्तितुं शक्नोति । जिज्ञासोः स्वरूपनिरूपणायोभयोर्जीवब्रह्मणोः सामानाधिकरण्यप्रतिपादनाय स्पष्टतो जीवब्रह्मभेदप्रतिपत्तये च जीवात्मविचारोपि प्रस्तुतः । उभयोर्गुहाप्रविष्टत्वं चानुभवाद्वेदोपदेशाच्च दृश्यते प्रतीयते । गुहां प्रविष्टाविति वचनादेव श्रीमद्भगवद्व्यासदेवानुभवप्रकाशः । वेदवचनानि तु संगृह्यन्ते । [१]"पूषा राजानमाघृणिरपगूढं गुहा हितम् । अविन्दच्चित्रबर्हि-

---

(१) आघृणिर्द्युतिमान्पूषा पोषणकर्ता सन्मार्गे स्थित्वात्मोद्धारपरायणो जीवो गुहा गुहायामग्रावध्यप्राप्तत्वादतिगूढे प्रदेश उपगूढं प्रच्छन्नं हितं हितकरं चित्रबर्हिषं सर्वविलक्षणं राजानं राजमानं परमात्मानमविन्दत् प्राप्नोति ।

षम् ॥" (ऋ० १।२३।१४) [1]"य ईं चिकेत गुहा भवन्तम्" (ऋ० १।६७।७) [2]"अविन्दद्दिवो निहितं गुहा निधिम्" (ऋ० १।१३०।३) [3]"अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधिं पणीनां परमं गुहा हितम्। ते विद्वांसः प्रतिचक्ष्यानृता पुनर्यत उ आयन् तदुदीयुराविशम् ॥" (ऋ० २।२४।६) इत्यादिभिर्ऋग्भिर्ब्रह्मणो गुहाप्रवेशो निरूपितः। [4]"गुहा चरन्तं सखिभिः शिवेभिर्दिवो यह्वीभिर्न गुहा बभूव।" (ऋ० ३।१।९) [5]"त्वया यथा गृत्समदासो अग्ने गुहा वन्वन्त उपराँ अभि ष्युः। सुवीरासो

(१) यः कश्चिज्ज्ञानी ईम् एतं गुहा गुहायां भवन्तं स्थितिमन्तं चिकेत जानाति।

(२) गुहा गुहायां निहितं स्थापितं दिवो द्युलोकस्य निधिमविन्दत्।

(३) अभिनक्षन्तोऽन्वेषणार्थमितस्ततो भ्रमन्तो ये जीवाः पणीनां स्तोतॄणां तं परमं निधिं परमात्मानं गुहा गुहायां हितं निहितमानशुः प्राप्नुवन्ति वा। ते विद्वांसो ब्रह्म जानाना अनृता अनृतानि परिचक्ष्य ज्ञात्वा यतो यस्मात्स्थानादायन्नागच्छंस्तद् उ तदेवाविशमावेष्टुमुदीयुरुपरि गता गच्छन्ति वा।

(४) शिवेभिः शिवैः सखिभिः समानख्यातिमद्भिर्जीवैः सह यह्वीभिरन्यत्रगमनशीलाभिः कामक्रोधादिरूपाभिर्नदीभिः। करणे तृतीया। दिवोऽन्तःकरणस्य गुहायां निलयनस्थाने चरन्तं न बभूव ज्ञातुं समर्थो नाभवत्।

(५) हे अग्ने परमात्मन्, त्वया हेतुना गुहा गुहां वन्वन्तः संभजन्तो गृत्समदासो गृत्सैर्मेधाविभिः सह वासेन मद आनन्दो येषां तथा भूताः सन्तो यथा उपरान् उग्राणि पापानि अभि ष्युरभिभवेयुस्तथा कुरु। कीदृशास्ते ? सुवीरासः सुवीरा आत्मबलवन्तः सहाया येषां ते। अभिमातिषाहः कामक्रोधादीनां पराभवितारः। किं च गृणते स्तुवद्भ्यःसूरिभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रसिद्धं समृद्धिशिष्टं वयो धनं मोक्षरूपं धा धेहि।

अभिमातिषाहः स्मत्सूरिभ्यो गृणते तद्वयो धाः ॥" (ऋ०२। ४।९) ¹"येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।" (ऋ०२।१२।४) इत्येताश्चर्चों जीवानां गुहानिवासं वर्णयन्ति। इदमत्राकूतम्। सन्निहितेऽत्राधिकरणे "समाने वृक्षे परि षस्वजाते" इति मन्त्रः स्मृतिपथमारोहदाचार्यस्य। समान-वृक्षावासस्मरणेन समानगुहाप्रवेशोपि स्मृतः। ततश्चेदमधिकर-णम्। प्रच्छन्नावकाशोलक्ष्यज्योतिषोलक्ष्यस्थानं वा गुहेत्युच्यते। शरीरमपि तदलक्ष्यस्थानत्वाद्गुहैव। यदेव शरीरं कर्मकर्ता कर्म-फलानुभवार्थमात्मा प्रविष्टस्तदेव सर्वसाक्षी सर्वविहारी तत्तत्क-र्मफलप्रदाता परमात्मापि प्रविष्टः। सामानाधिकरण्यमेवोभयोः। एतेन परमात्मज्ञानसौन्दर्यं विद्योतितम्। दूरस्थितं स्वसमीप-मुपस्थापयितुं महान् क्लेशो भवति। अत्यन्तिकस्थो हि परमो-पास्यदेवः परमात्मा। गुहां चरन्तं सखिभिः शिवेभिरित्युक्तं विश्वामित्रेण। गुहा हितं चित्रवर्हिषमुपगूढं राजानमाघृणिर्ज्ञा-नोद्योतद्योतितः पूषा प्राप्तपोषणो जीवः कश्चिदिति वा पूषर्षिः स्वयमेव वाविन्ददिति पूषर्षिणोक्तम्। एवं च न दूरमन्वेषणीयं हि तत्। दृष्टिनिरोधाधायिकाविद्याजवनिका केवलमपसारणीया। भासां निधिरवधिश्च द्रष्टव्यानां परमात्मा परिज्ञातो भविष्यती-तिरहस्यम्॥ "पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मि-

---

(१) येनेमा इमानि विश्वा विश्वानि च्यवनानि क्षरणस्वभावानि सन्ति तनि कृतानि रक्षितानि। यश्च दासमुपक्षपयितारं वर्णं प्रख्यातं जनं गुहा गुहा-यामधरं नीचैरकः अकरोत्।

न्यग्रक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः" (अथ० १०।८।४३। इत्याद्यपीह स्मर्तव्यम्।

"हि तद् दर्शनात्" इति सूत्रांशोऽन्यथापि व्याख्येयः। गुहां प्रविष्टौ तूभावेवात्मानौ। किन्तूपास्यं तु तद्धि=तदेव ब्रह्मैव न जीव इति भावः। कुतः? दर्शनात्=स्वानुभवाद्वेदानुभवाच्चेति ॥१।२।११॥

यद्यप्युभयोरेव गुहाप्रवेशः समानस्तापि ब्रह्मैवोपास्यमित्यत्र दर्शनादिति हेतुमुपन्यस्य द्वितीयमपि हेतुमुपन्यस्यति—

विशेषणाच्च ॥१।२।१२॥

चोऽप्यर्थः। विशेषणादप्यवगम्यते समानेऽपि गुहाप्रवेश उभयोरुपास्यत्वं तु परमात्मन एवेति। किं तद्विशेषणम्? एतद्वित्। "कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा विभर्ति न ददाति पित्रे। अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ॥" (ऋ० ५।२।१) इत्यत्र कुमारो जीवः। माता माया। सा च युवतिः। सबलेति यावत्। समुब्धं ताडितं निगूढं वा जीवं माया गुहायां स्वोदरेऽप्रकाशे विभर्ति पित्रे पालकाय परमात्मने च न ददातीति भावार्थः। अत्र मायया ताडितो गुहायां विधृतो ब्रह्मणे चादत्त इति विशेषणत्रयेण सन्नपि गुहानिहितः प्रतिबद्धप्रकाशो नोपास्यपदवीं प्रतिपद्यते जीवः। "अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुः" इत्यत्र परमात्मन एव प्राप्यत्ववर्ण-

नादुपास्यत्वमपि तस्यैव स्फुटम् । अन्यदपि विशेषणम्—¹"समानं नीडं वृषणो वसानाः सं जग्मिरे महिषा अर्वतीभिः । ऋतस्य पदं कवयो नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि ॥" (ऋ० १०।५।२) ²"यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्रिणां जातवेदः । तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने ॥" (अथ० १।८।४) ³"वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम् ॥" (अथ० २।१।१) इत्यत्र सर्वत्रोभयोर्गुहानिष्ठत्वं ब्रह्मणश्चैत्रोपास्यत्वं विविधैर्विशेषणैः प्रतिपादितम् ॥१।२।१२॥ इति गुहाप्रविष्टाधिकरणम् ॥३॥

(अथान्तराधिकरणम् ॥४॥)

अन्तर उपपत्तेः ॥१।२।१३॥

अन्तरः समीपस्थ एव स परमात्मा । कुतः ? उपपत्तेः । गुहाप्रवेशवर्णनेन सर्वान्तर्गमिता ब्रह्मण उपदिष्टा पूर्वसूत्रेण ।

(१) वृषणः कर्मफलजलैरात्मनः सेक्तारः समानं नीडं जगद्रूपं वसाना आश्रयन्तोऽपि अर्वतीभिः परमात्मप्रापकमतिभिर्महिषा महान्तो विद्वांस इत्यर्थः । सं जग्मिरे संगता भवन्ति । ऋतस्य सत्यस्य ब्रह्मणः पदं कवयो विद्वांस एव नि पान्ति रक्षन्ति प्राप्नुवन्तीतिभावः । पराणि परेविद्वांस गुहा गुहायामेव नामानि नमनानि प्रह्वीभूतचित्तानि दधिरे ।

(२) हे अग्ने, यत्र गुहा गुहायामेषामत्रिणां सततगमनशीलानां सतां जनिमानि जन्मानि निवासान वा त्वं वेत्थ वेत्सि, ब्रह्मणा ज्ञानेन तान्वावृधानो वृद्धिं गमयन् एषामितस्ततोऽज्ञानगुहायां भ्रमतां शततर्हमनेकानि दुःखानि जहि विनाशय ।

(३) व्याख्यात एष मन्त्रः ।

तद्वर्णनाधिगतार्थान्तरमाहान्तर इति । अयमाशयः । त्रिविधं हि दौर्यं स्वीकृतं भवति सर्वत्र । देशकृतं कालकृतमज्ञानकृतं चेति । न देशकृतं दौर्यं परमात्मनि प्राप्तम् । सर्वव्यापकत्वेन सर्वसन्निहतत्वात् । न वा कालकृतम् । नित्यत्वात्तस्य । अवशिष्टं चाज्ञानकृतं दौर्यम् । अज्ञानमेव नेदिष्ठमपि परमात्मानं दविष्ठं करोति । अतिसंनिहितोपि प्रतिक्षणमक्षुण्णकारुण्येन जीवान्पाताद्घाताच्च सन्त्रायमाणोपि किङ्कर इवानुचर इवानिद्रं जीवकल्याणमेवेह–मानो जीवाननुगच्छन्नपि परमात्मा चिरसंचिताविघ्नकराशिरशनानिबद्धैर्विद्धैश्च कामक्रोधाद्यन्तर्मलकुटिलकठोरकण्टकैर्जीवैर्नाधिगम्यते । निरस्यतामज्ञानम् । उपास्यतां भगवती विद्या । आस्यतां स्वरूपे । रस्यतां च रसस्वरूपो भगवानित्यन्तरशब्दप्रसूताशयः । तथैवोपपत्तिरपि । यदि स स्याद्दूरस्थो गुहाप्रवेशोऽनुपपन्न एव स्यात् । ननु क्व दृष्टोन्तरशब्दः सामीप्यवाचक इति जिज्ञासा चेदुच्यते । सर्वज्ञो हि भगवान्वेदोन्तरशब्दं सामीप्यार्थे प्रयुङ्क्ते । तथाहि–[1]"यज्ञो हीडो वो अन्तर आदित्याः" (ऋ०८।१८।१९) "नि हि षत्सदन्तरः पूर्वो अस्मत्" (ऋ० १०।५३।१) "न यत्परो नान्तर आदधर्षत्" (ऋ०२।४१।८) इत्यादिषु मन्त्रेषु दृश्यमानः श्रूयमाणश्चान्तरशब्दः सामीप्यार्थक

(१) हे आदित्या अदितेरविनाशिनः पुत्रा जीवाः ! वो युष्माकं हीडो गन्तव्यः प्राप्तव्यो यज्ञः परमात्मा अन्तरः समीपस्थः ।

(२) अस्मत्पूर्वोऽस्माकं पूर्वज इत्यर्थः समीपस्थः सन् नि षत्सद् हि निषीदति खलु । युष्माकं समीप एव स तिष्ठतीति भावः ।

एवेति वेदविदां वित्तिः ॥१।२।१३॥

अत्रैवोपपत्तिमाह—

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१।२।१४॥

जीवकर्मफलानुभवाय भावितं भवं गुहारूपं प्रविश्य स्थितस्य परमात्मनः स्थानादिव्यपदेशोपि श्रूयते श्रुतिषु। स च समीपस्थस्यैव संभवति न दूरस्थस्य। तथाहि, [1]"यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ "यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै०" "यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसो भवन्। दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै०" (अथ०१०।७।३२-३४) "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" (शु०य०३१।१) "पादोस्य विश्वा भूतानि" (शु०य०३१।३) इत्यादिभिर्वेदवचनैः परमात्मनः स्थानव्यपदेशो विधीयते। न केवलं स्थानव्यपदेशो रूपव्यपदेशोपि, [2]"हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे" (शु०य० ३३।८४) (तै०सं०१।४।२४) "हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुपह्वये" (तै०सं०१।४।२८) "हिरण्यकेशो रजसो विसारि" (तै०सं०३।१।११) "हिरण्यबाहवे हरिकेशाय" (शु०य०१६।१७) इत्यादिभिः सांहितैर्मन्त्रैः क्रियते। एतादृशः स्थानव्यप-

---

(१) स्पष्टार्थः।

(२) हिरण्यजिह्वो हितरमणीयजिह्वस्त्वं नव्यसे नवतराय सुविताय (सु इताय) सुखाय।

देशो रूपव्यपदेशश्च ब्रह्मणः सर्वस्थानेषु सर्वेषु च रूपेषु व्यापकतया संनिधायावस्थितस्यैव घटते नान्यथा ॥१।२।१४॥

अत्रैवान्यामप्युपपत्तिमाह--

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥१।२।१५॥

सुखेन विशिष्टाः सुखविशिष्टास्तेषामभिधानं कथनं निरूपणं वेति सुखविशिष्टाभिधानं तस्मात्। तत्सन्निधानेन जीवानां सुखविशिष्टत्वस्याभिधानादपि प्रतीयते स परमात्मान्तर इति। सन्निहिता हि सूर्यरश्मयस्तापयन्ति, संनिहितो हि हैमनः पवनः शिशिरयति, संनिहितो हि वह्निर्दहति, सन्निहितश्च प्रदीपः प्रकाशयति। एतादृगेवानुभवः सर्वेषाम्। अतिबलदुःखानलकवलिता हि जीवाः सुखावाप्तये प्रयतमाना दृश्यन्ते। सुखं तु न जगति न वा जागतेषु पदार्थेषु न वा जीवेषु। तन्निधानं तु ब्रह्मैव। तत्सन्निधानेन विना तन्नाप्यते। "मदेम तत्र परमे व्योमन्" (अथ०७।५।३) इत्यत्र मदेमेत्यनेन सुखविशिष्टत्वं जीवानां तत्सनिधावेवाभिहितम्। परमे व्योमन्निति सामीप्यार्थे सप्तमी। कूपे तिष्ठतीतिवत्। एतेन ज्ञायतेन्तर एव परमात्मा न दूरस्थः ॥१।२।१५॥

स्वाभिलपितं समर्थयते--

अत एव च तद्ब्रह्म ॥१।२।१६॥

तदतिसंनिहितमस्ति सर्वत्राबाधितप्रवेशं चास्ति तत्सन्निधानेन च जागततापप्रतप्ता जीवाः सुखविशिष्टा भवन्त्यत एव

च तद्ब्रह्मेत्युच्यते। बृंहणाद्ब्रह्म भवति। बृहि वृद्धौ। सर्वांस्तद्वर्धयति सुखशान्त्यादिप्रदानेन। अथर्ववेदेप्युक्तम् "तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते। सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते॥" (११।८।३२) इत्यादिनेदमेव। हि यस्मादस्मिन् पुरुषे पुरुषु बहुषु सर्वेषु पदार्थेषु शयनशीले नितरामन्तरे सर्वा देवताः सर्वे पदार्था आसते तिष्ठन्ति तस्माद्विद्वांस्तत्त्वज्ञस्तं पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते। ननु नानेन मन्त्रेणैतत्सूत्रप्रतिपाद्योर्थः प्रतिपाद्यते। नानेनान्तरः परमात्मेत्युच्यते। सत्यम्। तस्मिंस्तेषां पदार्थानां स्थितिप्रतिपादनमुखेन परमात्मनोनन्तरत्वमप्युच्यत एवेति ॥१।२।१६॥

अत्रैव हेत्वन्तरमप्याह--

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥१।२।१७॥

श्रुतेत्यत्र श्रुधातुरनुष्ठानार्थको मनननिदिध्यासनयोरुपलक्षणं वा। न ह्युपनिषच्छ्रवणमात्रेण श्रुतिषु गीयमानस्य यानस्याधिगमः। एवमुपनिषच्छब्दस्तत्त्वज्ञानपरः। उपनिसादयति ब्रह्मणः सायुज्यं प्रापयतीतिव्युत्पत्तिबलात्। श्रुतोपनिषद्येन स श्रुतोपनिषत्कोनुष्ठिततत्त्वज्ञान इत्यर्थः। तस्य गतिः श्रुतोपनिषत्कगतिस्तस्या अभिधानम्। तस्माच्छ्रुतोपनिषत्कगत्याभिधानात्। चोप्यर्थकः। तथा चायं सूत्रार्थः–श्रुतोपनिषत्कस्यानुष्ठिततत्त्वज्ञानस्योपलब्धतत्त्वज्ञानप्रतिष्ठस्य ब्रह्मैव गतिर्गन्तव्यं प्राप्तव्यमित्यस्याभिधानादपि संनिहितं तद्ब्रह्मैव। अयमाशयः। अत्रोपनिषच्छब्देन न प्रसिद्धोपनिषद्ग्रन्थानां ग्रहणम्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैवेतिगीता-

वाक्यगतब्रह्मसूत्रपदेन ब्रह्मसूत्रग्रन्थाग्रहणवत् । यथा ब्रह्मसूचकपदानि ब्रह्मसूत्राणि भवन्ति तथैव ब्रह्मगमयितारो मन्त्रा उपनिषत्पदभाजो भवन्ति । तथा च ब्रह्मावेदकवेदश्रवणेन श्रुतार्थस्य मननेन मतार्थस्य निदिध्यासनेन च स्थिरतत्त्वस्य मुमुक्षोर्जीवतोपि शनैःशनैर्महता कालेन निर्मथितकषायकणस्य विद्वच्चणस्य ब्रह्मवित्ता भवति। तदानीमेव तस्य ब्रह्मरूपतापि समापद्यते । ननु श्रुतोपनिषत्कस्य ब्रह्मैव गतिरित्यभिधाने किं खलु कार्तार्थ्यमन्तरशब्दस्य ? उच्यते । अन्तरः सामीप्यार्थक इत्युक्तम् । समीपस्थ एव गतिर्भवति न तु दूरस्थः । गतिर्हि शरणं त्राता वा । समीपस्थो हि दण्डोनिष्टताडनोपयोगी न दूरस्थः । समीपस्थो हि सखा साहाय्यदाने समर्थो न दूरस्थः । समीपस्थो हि दीपः प्रकाशप्रदानक्षमो न दूरस्थः । ननु दूरस्थोपि सूर्यः प्रकाशं प्रयच्छत्येवेति न सामीप्यमतीवोपयुक्तम् ? विचारमूढोसि । दूरस्थस्यापि भगवतो भास्करस्य भासस्तस्मात्प्रसृता इह पदार्थसंगताः सत्यः परार्थान् प्रकाशयन्तीति गृहाण । "त्वमग्ने यज्यवे पायुरन्तरोऽनिषङ्गाय चतुरक्ष इध्यसे ।" (ऋ० १।३१।१३) इति मन्त्रेपि मदुक्तार्थ एव संश्लिष्टः । तथाहि, हे अग्ने परमात्मन् , अनिषङ्गाय दुरितसंसर्गनिरोधाय भवभवविभवपराभविनो भविनो यज्यवे यज्योर्याजकस्योपासकस्यान्तरः समीपस्थः सन्नेव पायु रक्षको भवसि चतुरक्षश्चतुरे ज्ञानिनि क्षियसि निवससीति चतुरक्षश्च इध्यसे दीप्यस इत्येवं प्रतिपादयन्ति वेदाक्षराणि विदधत्येवानुकूल्यमस्मदुक्तेः ॥१।२।१७॥

ननु स्थानरूपव्यपदेशो जीवसन्निधानेपि जीवानां सुख-विशिष्टत्वं श्रुतोपनिषत्कस्य गतित्वं च जीवेपि संगच्छेरन्, ब्रह्मण इव तस्यापि व्यापकत्वात् । न संगच्छेरन् । कुतः ? अणुत्वात्तस्य । कथमणुत्वं तस्य ? कथं च व्यापकत्वं तव मते तस्य ? जीवो ब्रह्मैव नापर इत्याद्युक्त्या ब्रह्मण इव तस्यापि व्यापकत्वमपराहतम् । सत्यम् । जीवो ब्रह्मैव नापर इत्याद्युक्तिरेव त्ववैदिकी । न हि चतुर्ष्वपि वेदेषु कुत्रापि जीवब्रह्मणोरभेदः प्रतिपादितः । तदेवाग्निस्तद्वायुरित्यादिना तु भौतिकपदार्थानां ब्रह्मरूपत्वं प्रदर्शितं न तु जीवब्रह्मणोरभेदः । इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरित्यादिनापि नोभयोरभेदः प्रतिपाद्यते प्रतिपाद्यते च येषां भौतिकशरीराणामिन्द्रमित्रवरुणयमेत्यादयः संज्ञास्तेषामभेदः । तस्माज्जायमानस्य तत्त्वमिति प्रतिपादने वेदस्य तात्पर्यम् । अङ्गादङ्गात्प्रभवसि हृदयादधिजायसे । आत्मा वै पुत्रनामासीतिरीत्यैव तस्माज्जातस्य तत्त्वं प्रतिपाद्यते । यदि जीवोपि कश्चन भूतादिरिव भौतिकपदार्थ एव तर्हि नास्माकं विवादो भवतु सोपि परमात्मरूप एव । जीवसत्ताभेदे तु न जीवब्रह्मणोरभेदः सुसाधः । सूक्ष्मेक्षिकया तु प्रतीयते वैदिको जीवो जन्य एव । "स नो बन्धुर्जनिता स विधाता" "स नः पिता जनिता" (अथ० २।१।३) इत्याद्युक्तयो बहवः सन्ति वेदे । "तेन ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः"(ऋ० १। १६४।५०) "यत्र देवा अमृतमानशानाः" (अथ० २।१।५) इत्यादिवचनेभ्यश्च जीवानां नित्यत्वमपि निर्बाधम् । जन्यत्वं नित्य-

त्वं च विरुद्धम् । यदि नित्यो जीवो न जीवब्रह्मणोरभेदो यदि सोनित्यस्तथापि नोभयोरभेदः । नित्यानित्ययोर्विरुद्धधर्माक्रान्तयोर्जीवब्रह्मणोरभेदः पराहत एव । मोक्षव्यवस्था तु नित्यत्वे जीवानां जीवत्वहानावनित्यत्वे च जीवहानौ सम्पादनीया । "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (शु०य०४०।७) इत्यत्र तु भूतजीवात्मैकत्वं प्रतिपाद्यते न तु जीवब्रह्मैकत्वम् । "यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः" इति तन्मन्त्रपूर्वार्धे स्पष्टप्रतिपत्तेः । भवतु, अर्थान्तरमेतत् । जीवाणुत्वविचारस्तु कर्तव्यः । अणुत्वे तस्य न किमपि प्रमाणमुपन्यस्यते । न हि सर्वत्र सर्वदा प्रमाणस्यावश्यकता । विभ्वणु चेति परिमाणद्वयमेव । विभुपरिमाणं सर्वत्र ब्रह्मण्येव व्यवस्थापितम् । पारिशेष्याज्जीवस्याणुपरिमाणमितिसिद्धम् । न सिद्धम् । तृतीयमपि परिमाणं मध्यममिति नाम । तदेव किं न स्याज्जीवस्य ? न स्यात्तत् । जीवस्य मध्यमपरिमाणत्वस्वीकारे नरशरीरे तदाकारो गजशरीरे गजशरीराकारः पिपीलिकाशरीरे च तदाकारो भवन्सोपचयोपचयौ विकारौ भजमानो नित्यत्वाद्भ्रश्येत । जीवनित्यत्वानित्यत्वयोरुभयोर्नित्यत्वमेवास्माकं पूर्वजपरम्परातोभिमतम् । तथा च विभुत्वमध्यमत्वयोरसंभवादणुत्वमेव जीवानाम् । भवतु स्वरूपतोणुत्वं तस्य । ज्ञानतस्तु विभुत्वमेव । जीवधर्मभूतं ज्ञानं विभ्विति विशिष्टाद्वैतवादिनः । तद्द्वारा सर्वत्रावस्थानं तस्य न विरुध्यते । एवं च धर्मभूतज्ञानद्वारा जीवस्य व्यापकत्वात्संभवन्त्येव ब्रह्मधर्मा जीवेपि । न सम्भवन्ति । कुतः ? न ह्यनुमितम-

नुमतं तद्धर्मभूतज्ञानं तस्य सर्वज्ञत्वाय सर्वशक्तित्वाय च कल्पते। दीपो हि तत्रोदाहरणम्। यथा दीप एकदेशस्थोपि स्वप्रकाश-किरणद्वारा दूरस्थान्यपि वस्तूनि प्रकाशयति तथैवैकदेशस्था जीवो दूरस्थानपि पदार्थान् पश्यति। नैष दृष्टान्तः सन्तोषा-वहः। न स दीपो जगदण्डान्तर्वर्तीनि सकलान्येव वस्तूनि प्रकाशयति किन्तु तद्गृहान्तर्वर्तीन्येव गृहाद्बहिरपि नातिदूरव-र्तीन्येव। एवं जीवधर्मभूतज्ञानमपि जीवाधिकरणीभूते देहे योगाभ्यासादिद्वारा कथञ्चित्पृथग्देशेपि चेष्टादि प्रकाशते। नैतावता तस्य व्यापकत्वं समायातम्। किं च तद्धर्मभूतज्ञानं न निरपेक्षं किञ्चित्साधयितुं समर्थम्। व्यापकं तथाविधं सदपि तद् मनःसहकारेणैव शिरसि मम वेदना पादे मे वेदनेत्यादि ज्ञानं वितरति स्वधर्मिणे। तदप्ययौगपद्येनैव न यौगपद्येन। तथैव सर्वेषामनुभवः। भवतु भवतां तथाविधोनुभवः किं नस्तेन? ज्ञानविभुत्वेन जीवविभुत्वमेव। विभुत्वाच्च तस्योपरिनिर्दिष्टा ब्रह्मत्वसाधनसमर्था धर्मा जीवेपि स्युरित्याशङ्क्याह—

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥१।२।१८॥

इतरो जीवो न भवितुमर्हति ब्रह्म, न वा लभते पूर्वोक्ता-न्ब्रह्मधर्मान्। कस्मात्? अनवस्थितेः। न हि जीवानां नियता क्वचिदवस्थितिः। कानिचित्कर्मफलान्यनुभूयैकं शरीरं परित्य-ज्यापराणि कर्मफलान्यनुभवितुमपरं शरीरं गृह्णतस्तस्य न संभवत्येकत्रावस्थानम्। तेन च न कस्याप्यात्यन्तिकदुःखपरा-जुभूषयाश्रयणीयतां व्रजेदसौ। अपरोयं हेतुः—असम्भवाच्चेति।

न हि भिक्षुको भिक्षुकान्तरं याचते । न वा भीतो भीतस्यापरस्य भीतिमपहरति । सर्व एव हि जीवा भवविषमविषधरदंशविसृतविषविमूर्छिता अविकलाकलिकलाधरकलाकलापकमनीयमदमनीयदयालङ्कारप्रभाप्रभावितं परमरमणीयं परमात्मानं शरणं याचमाना हि दृश्यन्ते । कस्कः कस्य कस्य गतिर्भवेत् ? एवं च जीवो न ब्रह्मेति सिद्धम् ॥१।२।१८॥ इत्यन्तराधिकरणम् ॥४॥

(अथान्तर्याम्यधिकरणम् ॥५॥)

अवसितेनान्तराधिकरणेन ब्रह्मणः सर्वान्तरत्वमभिधाय सर्वान्तर्यामितोपदेशायाह—

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥१।२।१९॥

अन्तरं तद्ब्रह्माधिदैवादिष्वन्तर्यामि । अत्रादिशब्देनाधिभूतमध्यात्ममित्यादीनां ग्रहणम् । दैवेषु भूतेषु मनस्सु च जीवानामन्तःस्थितः संस्तत्सर्वं यमयति नियमयतीत्यन्तर्यामि । उक्तं च वेदे "स सव्येन यमति व्राधतः" (ऋ०१।१००।९) इति । स परमात्मा सव्येन दक्षिणेन व्राधतो महतोपि सूर्यपृथिव्यादीन् पदार्थान् यमति यमयतीत्यर्थः । "इन्द्रो विश्वस्य दमिता" (ऋ०५।३४।६) इत्यनेनापि विश्वस्य नियन्ता परमात्मेत्युक्तम् । "दमूना देवः सविता" (अथ०७।१४।४) इत्यनेनापि सवितुर्जगदुत्पादयितुर्देवस्य दिव्यगुणविशिष्टस्य परमात्मनो जगद्दमयितृत्वमभिहितम् । ननु सर्वेषामन्तःस्थितः सन्परमात्मा यमयति नियमयत्युपरमयति चानिष्टाद्व्यापाराच्चेत्कथं तर्हि निरर्थकं क्लेशकारणं भुवो वेपनमकाले घनगर्जनमव्यवहार्यस्य व्यवहरणं

मनुष्येषु दृश्यन्ते ? परमात्मना नियमितानां पदार्थानां मनुष्याणां चापथगामित्वं न संभवेत् । सत्यम् । इदं न प्रष्टव्यम् । अतिप्रश्नोयम् । अतिप्रश्नेन मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥१।२।१९॥

ब्रह्मातिरिक्तस्य प्रधानस्यान्तर्यामित्वमाशङ्क्य समाधत्ते—

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥१।२।२०॥

श्रुतिविहितं श्रौतमित्युच्यते । स्मृत्योपकल्पितं स्मार्तमित्युच्यते । श्रौतभिन्नं स्मार्तमित्याशयः । स्मार्तपदेनाचिदिह समचीयत । तथा चायं सूत्रार्थः—न स्मार्तमचिज्जातमन्तर्यामि भवितुमर्हति । कुतः ? अतद्धर्माभिलापात्=तस्याचिज्जातस्य धर्मास्तद्धर्मास्तेषामभिलापः । न तद्धर्माभिलापोतद्धर्माभिलापस्तस्मात् । अन्तर्यामिणो ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वसर्वव्यापकत्वादीनां धर्माणामचित्यभिलापाभावान्न तत्रान्तर्यामित्वम् ॥ ॥१।२।२०॥

चित्पदसङ्केतितस्य जीवस्याप्यन्तर्यामित्वं निवारयितुमाह—

शारीरश्च ॥१।२।२१॥

उपरिष्टाद्दृष्टो नकारोत्रानुषज्यते । शरीरसम्बन्धी शारीरः । स च जीवः । कर्मफलानुगुणायातसुखदुःखानुभवादिभिः शरीरेण सह जीव एव संबध्यते नान्यः । सोपि नान्तर्यामी । कुतः ? अतद्धर्माभिलापादेव । ननु चित्त्वनित्यत्वादयो धर्मा ब्रह्मसमानाः सन्त्येव तस्मिंस्तर्हि कुतो नान्तर्यामित्वं तस्य ? न हि चित्त्वनित्यत्वमात्रं ब्रह्मत्वोपधायकम् । सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वसर्वव्यापकत्व-

जगत्स्रष्टृत्वादिधर्मा ब्रह्मणः परिचायकाः । न ते संभवन्त्यल्पशक्तौ जीवे । ततो न जीवान्तर्यामीति ॥१।२।२१॥

अन्यमपि हेतुमाह—

उभयेपि हि भेदेनैनमधीयते ॥१।२।२२॥

उभयेपि भेदवादिनोभेदवादिनश्चाप्येनं जीवात्मानं परमात्मानं वा भेदेन हि भेदेनैवाधीयते पठन्ति । तथाहि [1]"न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते । अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥" (ऋ० ७।३२।२३) "अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः । ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥" (ऋ०७।३२।२२) "अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः" (ऋ० १।१६५।९) "ते ह नाकं महिमानः [3]सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" (ऋ० १।१६४।५०) इत्यादयो भेदवादिनां मन्त्राः । अभेदवादिनां चेमे—"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥"(ऋ० १।१६४।४६)"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०" (ऋ० १।१६४।२०) तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन" (ऋ० १।१५६।३) "अग्निं विश्वा अभि पृक्षः

(१) त्वावांस्त्वादृशोन्यो दिव्यः पार्थिवो न अस्ति न वा जायते । न जातो न वा जनिष्यमाणः । हे मघवन्निन्द्र अश्वायन्तोऽश्वमिच्छन्तो वाजिनो धनमिच्छन्तो गव्यन्तो ज्ञानमिच्छन्तो वा त्वा त्वां हवामह आह्वयामः ।

(२) स्पष्टेयमृक् ।

(३) सचन्त सेवन्ते ।

सचन्ते समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः ।" (ऋ० १।७१।७) इत्याद्याः । हे मघवन्परमात्मन् , न केपि त्वत्तः श्रेष्ठा न वा त्वत्सदृशाः; ते ज्ञानिनोनन्यभक्ता वा नाकं सचन्ते सेवन्ते, इति ब्रुवाणा भेदवादिनो मोक्षावस्थायामपि परमात्मनो जीवस्य भेदमेव प्रदर्शयन्ति । अभेदवादिनोपि विप्राः, विश्वा पृक्षः=प्रजाः, स्तोतारः पिपर्तनेत्यादीनि बहुवचनपदानि प्रयुञ्जानाः भेदमेव विशदयन्ति । अयमत्राशयः । गर्भं जनुषा जन्मना पिपर्तन पूरयन्ति समापयन्ति, इत्यादिकथनेन ये जन्मात्यन्ताभावमापादयन्ति ते नाल्पा न वा कल्पितब्रह्मभेदाः । एतेन मोक्षदशायामपि जीवब्रह्मभेदमेव साधयन्ति ते ॥१।२।२२॥ इत्यन्तर्याम्यधिकरणम् ॥५॥

(अथादृश्यत्वादिगुणाधिकरणम् ॥६॥)

पुनस्तज्जिज्ञासितं ब्रह्म कीदृशमित्याह—

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥१।२।२३॥

अदृश्यत्वादयो गुणा यस्मिन्सोऽदृश्यत्वादिगुणकः । परमात्मानमभिप्रेत्य पुंस्त्वम् । स हि परमात्माऽदृश्यत्वादिगुणको भवति । कथं विज्ञायते ? धर्मोक्तेः । अदृश्यत्वादिधर्माणामेवोक्तेः । तथा हि "(१)को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति" (ऋ० १।१६४।४ अथ० ९।९।४) इत्यनेन मन्त्रेण प्रथमं जातस्य प्रथमतो वर्तमानस्य ब्रह्मणो दर्शनं प्रतिषिध्यते । "स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम् " (शु०य०४०।८) इत्यनेनापि

(१) प्रथमं जायमानं जातं को ददर्श यदनस्थास्थिरहितः सन्नस्थन्वन्तमस्थिमन्तं बिभर्ति धारयति पालयति च ?

तस्य कायराहित्यं व्रणराहित्यं स्नायुराहित्यं च प्रतिपाद्यते। "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" (शु०य०।३१।१) इत्यनेनापि ब्रह्मणोऽशरीरत्वमेव द्योत्यते। शरीर्येव दृग्गोचरतामुपैति। अशरीरत्वे हि तस्य, शारीरगता दृश्यस्पृश्यत्वादयो धर्मा न तत्स्पृशन्ति। शरीरित्वे हि तस्य 'जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यती, ति वाष्यायण्यभिमताः षड्विकाराः पादार्पणं तस्मिन्कुर्वीरन्ननित्यत्वं तथा च दुर्वारं स्यात्तस्य १।२।२३॥

अदृश्यत्वादिगुणकं तद्ब्रह्मेत्युक्तौ प्रकृतिपुरुषयोरप्यदृश्यत्वादिगुणकत्वाद्ब्रह्मतापत्तिरित्याशङ्क्य समाधत्ते—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥१।२।२४॥

विशेषणं च भेदव्यपदेशश्च विशेषणभेदव्यपदेशौ ताभ्याम्। विशेषणाद्भेदव्यपदेशाच्चेतरत्प्रधानमितरश्च शारीरो नादृश्यत्वादिगुणकौ। न ततस्तयोर्ब्रह्मतापत्तिः। कीदृशं विशेषणं कीदृशश्च भेदव्यपदेशः? उच्यते। [1]"यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा। निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ॥" (अथ०१०।७।२३) इतिमन्त्रेणाज्ञेयत्वविशेषणं ब्रह्मण उपदिष्टम्। [2]"यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्मजेष्ठमुपासते। यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात्॥" (अथ०१०।७। २४) इत्यनेन ब्रह्मविदां ज्येष्ठं ब्रह्मोपास्यत्वेनोपदिष्टम्। [3]"यदजः प्रथमं सं बभूव स ह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्य-

---

(१) यस्य यम्। द्वितीयार्थे षष्ठी। निधिं निधीयते सर्वं यस्मिंस्तं परमात्मानं त्रयस्त्रिंशद्देवाः सर्वदा रक्षन्ति। देवा यूयं यं निधिमभिरक्षथ तमद्य को वेद विरल एव वेत्तीत्यर्थः।

(२, ३,) निगदव्याख्याताः।

त्परमस्ति भूतम् ॥" (अथ०१०।७।३१) इत्यनेन सर्वापेक्षया परत्वं ब्रह्मणः प्रतिपादितम्। "यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा। यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति०" (अथ० १०।७।३९) इत्यनेन सर्वदेवपूज्यत्वं ब्रह्मण उपपादितम्। [1]"सर्वाणि तस्मिञ्ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥" (अथ० १०।७।४०) इत्यनेन सर्वज्योतिराधारभूतं ब्रह्मेत्युपवर्णितम्। इतिब्रह्मविशेषणम्। अथजीवविशेषणम्। [2]"अनच्छये तुरगातु जीवमेजद्ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्। जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। (अथ०९।१०।८) [3]"अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः। ता शश्वन्ता विषु-

---

(१) तस्य ज्ञानिनस्तमो दुःखमपहतं पाप्मना पापाच्च स व्यावृत्त इति पूर्वार्धार्थः। प्रजापतौ परमात्मनि यानि त्रीणि ज्योतींषि भूतभविष्यद्वर्तमानार्थज्ञानानि सर्वज्ञत्वमित्यर्थः। तानि सर्वाणि तस्मिञ्ज्ञानिन्यपि भवन्तीत्यर्थः।

(२) पूर्वार्धेन देहस्थितिवर्णनम्। कदाचित् अनत् प्राणत् जीवं सजीववत् तुरगातु शीघ्रगामि सत् एजद् गतिं कुर्वच्छये शेते शरीरम्। कदाचिच्च ध्रुवं निश्चेष्टं सत् पस्त्यानां गृहाणां मध्ये आ शेते भूमौ पतितं तिष्ठति। मृतस्य शरीरस्य च जीवो मर्त्येन सयोनिः शरीरयोनिसमानख्यातिमांस्तथाप्यमर्त्यः स्वधाभिः स्वकर्मभिः सह चरति शरीरान्तरं व्रजति।

(३) मर्त्येन शरीरेण सयोनिः समानयोनिरमर्त्यो जीवः स्वधया कर्मभिर्गृभीतो गृहीतोपाङ् एति नीचैर्गच्छति प्राङेति उच्चैश्च गच्छति। ज्ञानस्य न्यूनता नीचैर्गमनं बाहुल्यं चोच्चैर्गमनमिति ध्येयम्। ता तौ जीवपरमात्मानौ शश्वन्ता शाश्वतौ विषुचीना सर्वत्राञ्चनशीलौ वियन्ता वियन्तौ यत्र तत्र लोके वा देशे वा गच्छन्तौ (एकः कर्मफलभोगायापरः कर्मफलप्रदानाय)। तयोर्द्वयोरन्यं जीवं नि चिक्युर्लोका जानन्ति परमन्यं परमात्मानं न नि चिक्युर्न जानन्ति।

चीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥ (ऋ० १।१६४।३८) इत्याभ्यां जीवस्य जनिमत्त्वं मृतिमत्त्वं चानुमोद्येते। [1]"न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।" (ऋ० १।१६४।३७) इत्यनेन जीवस्य स्वरूपानभिज्ञत्वं बद्धत्वं च निगद्यते। [2]"गयस्फानो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः। सुमित्रः सोम नो भव ॥" (ऋ० १।९१।१२; तै०सं०४।३।१३।५) इत्यनेन पुष्टिसमर्जनार्थं जीवस्य प्रार्थयितृत्वमुच्यते। [3]"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥" (ऋ० ५।८२।५) इत्यनेन दुरितापाकृतये भद्रावाप्तये च प्रार्थयितृत्वं जीवस्य निर्दिश्यते। इति जीवविशेषणम्। विशेषणं धर्मः। विशेषणभेदेन धर्मिभेदो भवति। स्वरूपस्वभावादिभिः परस्परभिन्नयोरुभयोश्चैतन्ययोः प्रधानादपि भेदो निर्दिष्टो वेदेषु सर्वत्रैव। ब्रह्मरचितत्वाद्ब्रह्मनियाम्यत्वाच्च प्रधानकार्यं प्रधानं च ब्रह्मतो भिन्नमेवेति लोकेपि सुस्पष्टम्। अतोदृश्यत्वादिगुणकं ब्रह्मैवेति ॥१।१।२४॥

---

(१) यत इव यद्यपि निण्योन्तर्हितज्ञानतया मूढचेता अहं संनद्धः कर्मभिर्मनसा वा मनोधीनो भूत्वेत्यथश्चरामि परन्तु इदमस्मीति न वि जानामि कोहं कीदृशोहमित्यादि न जानामीतिभावः।

(२) हे सोम चन्द्रवच्छीतल रमणीय च गयस्फानो धनवर्धकोमीवहा रोगनाशनो वसुविद्धनलम्भकः पुष्टिवर्द्धन आध्यात्मिकाद्युन्नतिकारकः सुमित्रः शोभनमित्रयुक्तो नोस्माकं भव।

(३) देव सवितः। विश्वानि दुरितानि परा सुव विनाशय। यच्च भद्रं तन्नोस्मभ्यमा सुव सम्पादय।

हेत्वन्तरमाह—

रूपोपन्यासाच्च ॥१।२।२५॥

रूपस्योपन्यासो रूपोपन्यासः। तस्माच्च। चः समुच्चये। रूपोपन्यासो रूपनिर्देशो रूपनिरूपणं वा। यत्र नास्ति स्वकीयं रूपं तथाविधं तत्रैव रूपकालङ्कारः प्रयुज्यते। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इतिमन्त्रे मुखविरहिते ब्रह्मणि मुखनिरूपणम्। अबाहुनि च तस्मिन्बाहुनिरूपणम्। अपादे च तस्मिन्पादनिरूपणम्। अन्येऽपि रूपनिरूपकाः प्रागुक्ता मन्त्रा इहामन्त्रयितव्याः। न हि कुत्रापि जीवे रूपनिरूपणं दृश्यते। प्रारब्धवशाद्रूपवत्त्वात्कायवत्त्वाच्च तस्य। प्रकृतेरपि न तन्निरूपणम्। सर्वाण्येव रूपाणि तस्या एवेति। अतः सिद्धमदृश्यत्वादिगुणकं ब्रह्मेति ॥१।२।२५॥ इत्यदृश्यत्वादिगुणाधिकरणम् ॥६॥

(अथ वैश्वानराधिकरणम् ॥७॥)

न केवलमेतदेवापि तु—

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥१।२।२६॥

वैश्वानरोऽपि ब्रह्म। वैश्वानरशब्देनापि तद्ब्रह्माभिधीयत इत्यर्थः। कुतः? साधारणशब्दविशेषात्। साधारणस्य वैश्वानरशब्दस्य ब्रह्मासाधारणैर्धर्मैर्विशेषाद्विशेष्यमाणत्वादित्यर्थः। विशेष्यत इति विशेषः। अथवा साधारणशब्दयोरात्मवैश्वानरयोर्विशेषः साधारणशब्दविशेषस्तस्मात्। यथा तत्तत्स्थलेष्वात्मशब्दो ब्रह्मणि साधारण एवं वैश्वानरशब्दोऽपि साधारण एव। यथातनादात्मा साधारणशब्दतां गतस्तथा विश्वेषां नराणां

हितत्वाद्वैश्वानरोपि ब्रह्माभिधाने साधारणः। किमुदाहरणम्? श्रूयताम्। "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।" (ऋ०१।९८।१) "इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण।" (शु० य० २६।७) वैश्वानरो न ऊतये आ प्रयातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप॥" (शु०य०१८।७२) "वैश्वानरो न ऊत्याऽऽप्रयातु परावतः। अग्निरुक्थेन वाहसा॥" (तै०सं०१।५।११) "वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु।" (अथ०६।६२।१) इत्यादीन्यत्रोदाहरणानि। ननु लौकिकाग्निरपि वैश्वानरः। "विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।" (ऋ०१०।८८।१२) इत्यादौ। बाढमस्त्येव वैश्वानरशब्दो लौकिकाग्निवाचकः। तत्र नास्माकं विरोधः। वैश्वानरशब्दोग्निमेव नियमेन ब्रूत इत्यत्र विरोधः। क्वचित्सोग्निमपि बोधयति क्वचिच्चोपासनावसरे प्रयुक्तो ब्रह्माप्यभिधत्ते। सर्व एव वैदिकमन्त्रा आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति त्रिविधमर्थराशिमुपहारीकुर्वन्तीति तु धीर्नापगच्छत्वित्येतदर्थमयमायासः॥१।२।२६॥

अत्र प्रकरणे स्मर्यमाणानां वचनानां गतिमाह—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति॥१।२।२७॥

वैदिकप्रमाणपरिचयार्थमितिश्रुतेरिति वेतिश्रूयत इति वेतिश्रुतमितिवेत्यादिरीत्या श्रुधातुः प्रयुज्यते। वेदभिन्नप्रमाणपरिचयार्थमितिस्मृतेरिति वेतिस्मर्यत इति वेति स्मृतमिति वेत्यादिरीत्या स्मृधातुः प्रयुज्यत इति बोद्धव्यम्। अस्मिन्सूत्रे

स्मर्यमाणमितिपदमपि स्मृधातोर्निष्पन्नं सच्छ्रुतिभिन्नमेव प्रमाणं परिचाययति। स्मर्यमाणमिति कर्मणि वर्तमाने शानच्। विष्णुपुराणादिकं व्यासेनैव समस्क्रियत इति बहुलजनवादः। ततः पुराणादिकं स्मृतिरेव भवितुमर्हति। तदानीं व्यासकाले कानिचित्पुराणानि प्रणीयमानान्यासान्कानिचिच्च प्रणीतान्यासन्निति महाभारतादवगम्यते। तेन स्मर्यमाणं पुराणं मनुधर्मशास्त्रमप्युपासनाप्रकरणे वैश्वानरशब्दस्य परब्रह्मबोधकत्वे मानं स्यात्किन्तु तदनुमानमेव स्यात्। अनु पश्चाज्जातमानमनुमानं गौणं मानमित्यर्थ इति पूर्वं गतम्। श्रुतीनां सहकारिप्रमाणं स्मर्यमाणं स्यादितिसूत्रतात्पर्यम्। न हि श्रुतिवचनेषु स्मृतिव्यपदेशो युक्तः। व्यभिचारात्। सूत्रान्तस्थेति शब्दस्य हेत्वर्थता युक्ता। यतस्तत्स्मर्यमाणं ततोनुमानमित्यर्थः। स्यादिति संभावनायां लिङ्। सांख्यादिदर्शनेष्वपि स्मृतिशब्दप्रयोगो व्यासस्येष्ट इति तु प्रतिभाति। वेदेभ्योन्यत्रापि यदि वैश्वानरशब्दो ब्रह्मणि प्रयुक्तश्चेत्तदनुमानत्वेनैव ग्रहीतव्यमिति सूत्रार्थः ॥१।२।२७॥

असन्तुष्यन्निव वैश्वानरशब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वसमर्थने शङ्काशय्यामास्तीर्य व्यपोहति भगवान्—

शब्दादिभ्योन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ १।२।२८॥

अग्न्यर्थवाचको हि बहुषु स्थलेषु प्रयुक्तो वैश्वानरशब्दः।

कुत्र? वेदेषु। तथाहि, वैश्वानरं ज्योतिः" (तै०सं० १।१।४) "संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः" (तै० सं०२।२।५)"वैश्वानरं भस्मना" (तै०स०५।७।९।६) "वैश्वानरमृताय जातमग्निमित्याह वैश्वानरं हि देवतयाऽऽयुरुभयतो वैश्वानरो गृह्यते" (तै० सं०६।५।२) "वैश्वानर्यर्चा पुरीषमुपदधातीयं वा अग्निर्वैश्वानरः" (तै०सं०५।६।६) इत्यादिषु। एतैर्वचनैर्ज्ञायते लौकिकानल एव वैश्वानरशब्दवाच्यः। शब्दादिभ्य इत्यत्रादिशब्दः प्रकारे। प्रकारश्च सादृश्यम्। तथा च वैदिकाः शब्दा ग्रहीतव्या लौकिकाश्चापि। के ते लौकिकाः? तदानीं प्रायेण सर्वैः सर्वत्र भाष्यमाणाः। यदि तैत्तरीयसंहिताया वेदाभिधानं न रोचते कस्मैचित्तदा तत्रोक्ताः शब्दा अपि लौकिका एव। तदा वैदिको वैश्वानरशब्दो "विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरम्" (ऋ० १०।८८।१२) इतिपूर्वोक्तो ग्राह्यः। एतेभ्यः शब्दादिभ्योवगम्यते लौकिक एव वैश्वानरो न ब्रह्मेति। तथा, अन्तः-प्रतिष्ठानाच्च लौकिक एव वैश्वानरः। किमिदमन्तःप्रतिष्ठानं नाम? यावान्पदार्थराशिर्विद्यते महति जगति सर्वत्रैवान्तः-प्रतिष्ठा वैश्वानरस्य। अरण्योर्लौहयोरपि घर्षणतो जायमानो हि बहुधावलोकितः सः। "पुरुषेन्तःप्रतिष्ठितं वेद" (शत०१०।६।१।११) इत्यनेन नरोदरप्रतिष्ठितो जाठरः प्रतीयते। एताभ्यां हेतुभ्यां भवत्येवावगतिर्वैश्वानरो लौकिकोग्निरिति। एतत्सर्वमचारु। नैवं मन्तव्यं लौकिकोग्निरुपास्यत्वेन निर्दिष्ट इति। ननु प्रदर्शिता एव मया बहुशस्तथा प्रयोगाः।

कामं प्रदर्शिताः। न तु ते तव पक्षमक्षतं रक्षितुं क्षमन्ते। कुतः? दृष्ट्युपदेशात्। दृष्ट्या ह्युपदेशः। उपासकैरुपासनाकाले सर्वस्मिन्नेव ब्रह्मशरीरे शरीरिदृष्टिर्ब्रह्मदृष्टिः कर्तव्येति तथोपदेशः। नैतदत्राग्रहीमो नास्ति लौकिको वैश्वानर इति। किं तर्हि? न सर्वत्रैव लौकिको वैश्वानर इत्यनुरुन्ध्महे। यदप्यन्तःप्रतिष्ठानात्तदपि न। कुतो न? असम्भवात्। कुतोसम्भवः? पुरि शरीरे तिष्ठतीति पुरुषः। स चात्मैव न देहः। कथं तर्हि निरवयवे निरवकाशे चात्मनि स्यादन्तःप्रतिष्ठानमवयविनोवकाशापेक्षिणश्च लौकिकस्य वैश्वानरस्य? किं चैनं वैश्वानरं पुरुषमप्यधीयते। के तेध्येतारः? वाजसनेयिनः। तथा हि, "स एषोग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवाग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेन्तःप्रतिष्ठितं वेद" (शत०१०।६।१।११) इति। तेन नोपासनाप्रकरणे लौकिको वैश्वानरो ग्रहीतव्यः ॥१।२।२८॥

अतीव प्रत्याचिख्यासितं लौकिकवैश्वानरं दूषयितुं पुनराह—

अत एव न देवता भूतं च ॥१।२।२९॥

सर्वेष्वेव पदार्थेषु तदधिष्ठात्री देवता निवसतीतिविश्वासः श्रद्धाधनधौरेयाणाम्। कथं न वैश्वानरशब्देन तस्या एव ग्रहणमित्याशङ्कां समाधत्ते—अत एव=पुरुषमपि चैनमधीयते वाजिनोत एव वैश्वानरनियामिकायास्तदधिष्ठात्र्या देवताया अपि न ग्रहणम्। अत एव च भूतमपि लौकिकः कूपीटयोनिरपि नोपासनाप्रकरणे ग्राह्य इति ॥१।२।२९॥

अस्मिन्विषये जैमिनिमतमुपन्यस्यति—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥१।२।३०॥

यदि वैश्वानरः साक्षात्=प्रसिद्धो लोकानल एव गृहीतः स्यात्तदा तमप्यविरोधं विरोधरहितं जैमिनिर्मन्यते स्म १।२।३०॥

कुतो न लोकानलग्रहणे विरोध इत्यत्र जैमिनिमतानुवर्तिनाश्मरथ्येन कृतं समाधानमाह—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥१।२।३१॥

अभिव्यक्तेरिति पञ्चम्यन्तम् । अभिव्यक्तिर्यथाकथञ्चित्प्राकट्यम् । ज्योतिष इति शेषः । सामर्थ्यात् । एवं च साक्षादनलोपासनेनापि ज्योतिषोभिव्यक्तिः स्यादित्याश्मरथ्यो मन्यते स्म ॥१।२।३१॥

जैमिनिमतानुसारिणो बादरेर्मतमाह—

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥१।२।३२॥

अनुस्मृतिः पौनःपुन्येन स्मरणम् । लोकानलमुपादायापि ब्रह्मणोनुस्मृतिर्भवितुमर्हतीत्यनुस्मृतेर्हेतोरेव साक्षादनल उपासनीय इति बादरिर्मन्यते । एतदेव "यथाभिमतध्यानाद्वा" (योग०१।३९) इतिसूत्रभाष्ये सांख्यप्रवचने भगवता व्यासेनोक्तम् । तथाहि "यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत् । तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति" ॥१।२।३२॥

अत्र जैमिनेः स्वमतं दर्शयति—

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥१।२।३३॥

सम्पत्तिः प्राप्तिः। साक्षादनलोपासनेनापि निरन्तरज्योतिर्ध्यानधाराभिः परिपूतान्तःकरणे ज्योतिरवाप्तिर्भवतीति जैमिनिर्मेने। तथाहि स दर्शयत्युदाहरणादिभिः ॥१।२।३३॥

उपसंहरति—

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥१।२।३४॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्य्यैः श्रीमद्व्यासमहर्षिभिः कृते वेदान्तदर्शने प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

अस्मिन्वैश्वानरे वैश्वानरशब्दबोध्ये ब्रह्मण्येनमुपासकं जीवमामनन्ति। के? आम्नाया वैश्वानरस्य सुमतौ स्यामेत्याद्याः। न हि लौकिकाग्नेः सुमतिर्विद्यते यदनुवर्तित्वमुपासकस्य स्यात्। अतः सर्वत्र वैश्वानरशब्देन परमात्मैव ग्राह्यः। परमात्मसुमतिवर्तित्वं न बाधितमुपासकस्य। परमात्मसुमतिवर्तित्वं हि परमात्मवर्तित्वम्। न हि परमात्मनस्तत्सुमतिर्भिद्यते। सुमतिर्ज्ञानम्। ज्ञानरूपो हि परमात्मा। वैश्वानरस्य सुमताविति भेदेन प्रयोगस्तु राहोः शिर इतिवत्। अनेनान्तिमसूत्रेणालम्बनार्थं लौकिकोनलोप्युपास्य इति नोच्यते उच्यते च मुख्यस्य परमात्मनो ध्यानम्।

अत्र किञ्चिदालोचनीयम्। वैश्वानरशब्देन किं ग्राह्यमिति विचारयता ध्यानाय लौकिकोप्यग्निर्ग्राह्य इति जैमिनेर्मतमुपस्थापितम्। तदनुवर्तिनोराश्मरथ्यबादर्योश्च तदनुग्राहकमेव मतं प्रतिपादितम्। सम्पत्तेरिति सूत्रेण पुनस्तदेवाम्रेडितम्। कोसौ जैमिनिः कोसावाश्मरथ्यः कोसौ च बादरिरिति तु न जानीमो वयम्।

जैमिनिरपि स्वमीमांसादर्शने बादरिं बादरायणं जैमिनिं चोल्लिलेख। तथा हि तस्य सूत्राणि-"द्रव्यगुणसंस्कारे बादरिः"(मीमां० ३।१।३) "कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्" (मीमां०३।१।४) "विधिं तु बादरायणः" (मीमां०१०।८।४४) "विधिवत्प्रकरणविभागे प्रयोगं बादरायणः" (मीमां०११।१।६५) "कालाभ्यासेपि बादरिः कर्मभेदात्" (मीमां०८।३।६) तदावृत्तिं तु जैमिनि०" (मीमां०८।३।७) इत्यादीनि। शबरस्वाम्येतेषां सूत्राणां भाष्ये सर्वत्रैव "बादरिराचार्यो मन्यते स्म" "जैमिनिराचार्यो मेने" "बादरायणो मन्यते स्म" इति परोक्षभूतक्रियां व्यवजहार। तेनेदमपि निष्पादयितुं शक्यते कोप्यन्योपि जैमिनिरासीन्मीमांसादर्शनकारजैमिनेः पूर्वमिति। व्याससूत्रेभ्यः पूर्वमेव मीमांसादर्शनमस्तित्वमवालम्बतेतिनिर्विवादप्रायम्। पूर्वजायामपि कर्ममीमांसायामवरजस्य सूत्रकृद्व्यासस्य नामोल्लेखोन्यं बादरायणमपि कल्पयितुं प्रभवेत्। व्यासेनात्र पादान्तः उल्लिखिता निखिला आचार्या व्यासात्पूर्वभाविनस्तत्समकाला वेत्यत्रापि न विवादः। परन्तु तेषां का सा कृतिर्यत्रैतन्मतं प्रतिपादितमिति दुरूहमेव।

किं च "ब्रह्मणा ब्राह्मणानां च तथानुग्रहकाङ्क्षया। विव्यास वेदान्यस्मात्स तस्माद्व्यास इति स्मृतः॥ वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्। सुमन्तुं जैमिनिं पैलं शुकं चैव स्वमात्मजम्॥ प्रभुर्वरिष्ठो वरदो वैशम्पायनमेव च॥" (महाभार० आ०प०, अ०६४।३०,३१,३२) इत्येतेन महाभारतीय-

व्यासवचनेनैव ज्ञायते जैमिनिर्व्यासशिष्य आसीदिति। शास्त्रदीपिकाया युक्तिस्नेहप्रपूरण्याख्यव्याख्यायां श्रीरामकृष्णपण्डितेन मीमांसाया एका परम्परा निरदेशि। सा चेत्थम्—"ब्रह्मा प्रजापतये मीमांसां प्रोवाच, सोपीन्द्राय, सोप्यग्नये। स च वसिष्ठाय, सोपि पराशराय, पराशरः कृष्णद्वैपायनाय, सोपि जैमिनये। स च स्वोपदेशादनन्तरमिमं न्यायं ग्रन्थे निबद्धवानिति।" एतेनापि ज्ञायते जैमिनिर्व्यासशिष्य एवेति। यदीदं सर्वं प्रमाणं तर्हि विवेचनीयमिदं विद्वद्भिर्गुरुर्व्यासः स्वोक्तौ जैमिनिं साक्षित्वेनोपस्थापयितुं शक्नोति न वेति।

किं च व्याससूत्रेष्वत्र बहूनि सूत्राणि निस्तत्त्वचिन्तापराण्यत एव निरर्थकानीति मन्यामहे। जैमिनीयमीमांसादर्शनेपि तथाविधानि निरर्थकान्यत्यल्पार्थकानि वा कानिचित्सूत्राणि तृतीयाध्याये चतुर्थे पादे सन्तीति सर्वेषां मीमांसादर्शनविदुषां नाप्रत्यक्षम् ॥१।२।३४॥ इतिवैश्वानराधिकरणम् ॥७॥

इति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र—परमहंसपरिव्राजक—स्वामिश्रीं-भगवदाचार्यमहाराजैः प्रणीते वेदान्तदर्शन—वैदिकभाष्ये प्रथमेध्याये द्वितीयः पादः

अथ प्रथमेध्याये तृतीयः पादः

स्मारं स्मारं गुरोर्वाचमाचामति मदन्तरम्।
विष्णवद्व्यासपादानां वचो लोकोत्तरं रसम् ॥१॥

(अथ द्युभ्वाद्यधिकरणम् ॥१॥)

पौनःपुन्येन बद्धमतिसुबद्धं भवतीति न्यायमनुस्मृत्य प्राशस्त्येन बुभुत्सितब्रह्मस्वरूपमवगमयितुं रमयितुं चाधिकाधिकाः श्रुतीर्ब्रूते—

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥१।३।१॥

द्यौश्च भूश्चादी येषां ते द्युभ्वादयस्तेषामायतनं द्युभ्वाद्यायतनम्। दिवि भूशब्दं प्रत्युपपदत्वमारोप्य वर्षाभ्वादिवत्कथंचिद्यण्सिद्धिः। स्ववाचकः शब्दः स्वशब्दस्तस्मात्। मध्यमपदलोपी तत्पुरुषः। स्वशब्देन ब्रह्म ग्रहीतव्यम्। द्युभ्वादीनां पदार्थानां यदायतनमाश्रयस्तद्ब्रह्म वेदितव्यम्। द्युभ्वाद्याश्रयमात्रं ब्रह्म विवक्षितं न तु द्युभ्वादिसहितमपि। द्युभ्वादीनामनात्मत्वान्न तत्र ब्रह्मत्वव्यवहारः। सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यौपनिषदव्यवहारस्तु तस्माज्जातेपि तत्त्वमित्याश्रित्य बोद्धव्यः। अन्यथा वाक्यार्थानुपपत्तिः। अनेकेषु हि सर्वव्यवहारः सर्वसम्मतः। सर्वमिदमित्यस्य दृश्यमानानि सर्वाणीमानि जागतानि वस्तूनि ब्रह्मेत्यर्थः। प्रातिस्विकरूपेण सर्वत्र ब्रह्मव्यवहारे ब्रह्मानेकत्वं प्रसज्येत। किञ्चाद्वैतिनये जगतो मिथ्यात्वे परमार्थाभिधायिन्या श्रुत्या किमभिप्रेत्येदं सर्वमिति ब्रूयात्? विशिष्टाद्वैतिमतेपि शरीरवाचकशब्दानां शरीरिपर्यन्तधावनमितिक्लिष्टकल्पनैव। अतस्तस्माज्जातेपि तत्त्वव्यवहारोनानार्यः। कथं ज्ञायते द्युभ्वादीनामायतनं ब्रह्मेति? स्वशब्दात्=ब्रह्मवाचकशब्दादित्यर्थः। अयमाशयः। वाजसनेयिनः काण्वाश्चाधीयते "तस्मिन्निदं सं

च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु" (शु०य० ३२।८; काण्वसं०३५।२७) इत्यस्मिन्मन्त्रेऽस्याखिलस्य प्रतीयमानस्य जगत ओतत्वं प्रोतत्वं च तच्छब्दप्रतिपाद्येनाद्ये ब्रह्मण्येव प्रतिपादितम्। "वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" इति ह्येतन्मन्त्रस्य पूर्वार्धः। अत्र पठितौ तत्सच्छब्दौ ब्रह्मबोधकत्वात्स्वशब्दत्वेनाभिमतौ। विविधं भवतीति विभूः। कार्यरूपेण कारणरूपेण च ब्रह्मैव वैविध्यं लभते नान्यत्। तदेवाभिन्ननिमित्तोपादानकारणं हि विश्वस्य। ननु किमिदं क्वचिज्जगतो मिथ्यात्वमुच्यते क्वचित्तस्यैव मिथ्याभूतस्य जगतो निमित्तोपादानादिकारणान्वेषणा क्रियते क्वचिच्चासत उपादानत्वं प्रतिपाद्यते? आश्चर्यमिदम्! सत्यमाश्चर्यमेवेदम्। सर्वस्मादपि तन्महदाश्चर्यं यस्य ब्रह्मणो विचारः क्रियते। तदित्थमेवेति-सिद्धान्तिते तदियदिति वा सिद्धान्तिते नानन्त्यं तस्य भवेत्। आनन्त्यं त्ववश्यं परिपालनीयं तस्य। अत एवोक्तमृग्वेदे [1]"न हि ते अन्तः शवसः परीणशे" (१।५४।१) [2]"यस्मिन्विश्वा चर्षणय उत च्यौत्ना ज्रयांसि च। अनु घेन्मन्दी मघोनः" (ऋ० ८।२।३३) "यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः" (अथ०१०।८।३७,३८)

---

(१) ते तव शवसो बलस्यान्तः परीणशे परितः सर्वतोऽशितुं व्याप्तु न शक्यते। तव बलं परिच्छेत्तुं न कोपि समर्थ इति भावः।

(२) यस्मिन्परमात्मनि विश्वा सर्वाश्चर्षणयः प्रजाश्च्यौत्ना च्यौत्नानि बलानि ज्रयांसि शत्रुविषयाणि हननादीनि च वर्तन्ते। ज्रि अभिभवने। स परमात्मा मघोनो ज्ञानधनवतोऽनु मन्दी अनुमोदकः प्रसादको भवतु। घेत पादपूरकौ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम" (शु० य० २३।१) इत्यादिभिरपि सांहितैर्मन्त्रैर्द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैवेति बोध्यते। यस्मिन्विश्वेत्यृच इन्द्रो देवता। स एव तत्र स्ववाचकः शब्दः। "यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः" इत्यस्यात्मा देवता। स एव तत्र स्ववाचकः शब्दः। याजुषस्य च मन्त्रस्य कस्मा इत्यस्य प्रकृतिभूत आनन्दवाचकः कशब्द एव स्वशब्दः। ननु नायमानन्दवाचकः कशब्दः? कुतो न? सर्वनामकार्यदर्शनात्। न हि तथाभूतः शब्दः सर्वनामकार्यभाग्भवेत्। सत्यम्। आनन्दवाचक एवायं कशब्दः। सर्वनामकार्यं तु च्छान्दसम्। अथवा कस्मा इत्यस्यैकस्मा इत्यर्थः। छान्दसो ह्येकारलोप इति शबरस्वाम्यभिप्रायः ॥१।३।१॥

अत्रैवापरं हेतुं पुरस्करोति—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च ॥१।३।२॥

उपसृप्यमुपगन्तव्यं प्राप्यमित्यर्थः। मुक्तैरुपसृप्यं मुक्तोपसृप्यम्। तस्य व्यपदेशस्तस्मात्। चः समुच्चये। मुक्तानामप्युपगन्तव्यं ब्रह्मैवेति व्यपदेशाच्च तद् द्युभ्वाद्यायतनं भवति। द्युभ्वादीत्यत्रादिपदेन मुक्तानां ग्रहणम्। "तमेव विदित्वाति मृत्युमेति" इत्यनेनाज्ञानक्लेशलेशासम्बद्धस्य प्रकाशस्वरूपस्य ब्रह्मणो ज्ञानेनैवोपासकस्य मृत्योरत्ययनमुपदिश्यते। मृत्योरत्ययनमेव ब्रह्मोपसर्पणम्। स च मोक्षः। "ते ह नाकं महिमानं सचन्ते" (शु०य०३१।१६) इतीयं श्रुतिरत्यन्तदुःखविरहितार्थकनाकशब्दबोधितस्य परस्य ब्रह्मणः सेवनमशुश्रुवत्। कं

सुखम् । न कमकं दुःखम् । नाकं यस्मिंस्तन्नाकम् । नाकमित्यत्र नशब्देन समासो न तु नञा । ब्रह्मणि क्लेशलेशाश्लेषप्रतिबोधनायैवेदृशसमासक्लेशः । स्तृतिमृतिरूपा हि महत्य आपदः । ताभ्यः पृथग्भूय स्वरूपावाप्तिपुरस्सरब्राह्मभावानुभवो हि मोक्षः । तादृगनुभववन्तो भाग्यवन्तो हि मुक्ता उच्यन्ते । तेषामुपसृप्यं केवलं सर्वविधानित्यसुखदुःखादिसम्बन्धासम्बद्धं ब्रह्म । यद्यपि ब्रह्मोपसृप्यैव ते मुक्ता भवन्ति, एवं च ये मुक्तास्तेषां नोपसृप्यं ब्रह्म येषां चोपसृप्यं न ते मुक्ता मुमुक्षवो हि ते । तथापि वस्तं वयेतिवत्प्रयोगो मुक्त इति । स्वरूपज्ञानमेव मोक्षोऽविद्यानिवृत्तिरेव वा मोक्ष इति मतं येषां तेषामिदं सूत्रं क्लेशकरमिति त्ववधेयम् ॥१।३।२॥

अन्यस्य द्युभ्वाद्यायतनत्वं निषेधति—

नानुमानमतच्छब्दात् ॥१।३।३॥

तस्य वाचकः शब्दस्तच्छब्दः । तच्छब्दस्याभावोऽतच्छब्दं तस्मात् । तच्छब्देनानुमानस्यैव ग्रहणम् । सन्निहितत्वात् । संनिहितपरामर्शित्वमेव सर्वनाम्नाम् । शब्दप्रामाणिकानां विद्वदपश्चिमानां मते मतं हि प्राथम्यं केवलमाप्तशब्दरूपमानस्य । अन्यानि मानानि गौणानि । अत एव तानि सकलान्यनुमानानि भवन्ति । अथवा सर्वप्रथमस्य सांख्यदर्शनस्याभिमतं मूलप्रकृतिरूपं तत्त्वमनुमानसिद्धमितिमत्वा तत्संकेतितस्य प्रधानस्य ग्रहणमनुमानशब्देन । यस्येह ग्रहणाय नास्ति शब्दप्रमाणसंकेतस्तदूद्वयमेव । जडमजडं चेति । अजडं च द्विधा । जीवः

परमात्मा चेति। प्रत्यपाद्येव द्युभ्वाद्यायतनत्वमजडस्य परमात्मनः। अवशिष्टं च जीवरूपमजडम्। जडजीवरूपाजडयोर्द्वयोः पूर्वं ब्रह्मेतरस्य जडस्य द्युभ्वाद्यायतनत्वं निराकरोति—न आनुमानमिति। अनुमानप्रमितमनुमानगम्यं वा जडं द्युभ्वाद्यायतनं भवितुं नार्हति। कुतः? अतच्छब्दात्। न ह्युपर्युपस्थापिते परमाप्ते वेदवचसि जडस्य तथात्वप्रतिपादकः कोपि शब्दः श्रूयते। उपस्थापितवचनभिन्नेष्वप्यन्येषु केषुचिद्वेदवचनेषु नास्ति जडस्य द्युभ्वाद्यायतनत्वप्रतिपादनम्।

नन्वस्त्येव तत्प्रतिपादनम्। क? वेद एव। तथा हि "यस्मिन्विश्वा भुवनानि तस्थुः" (ऋ०७।१०१।४) अस्या ऋचो देवता पर्जन्यः। पर्जन्यो हि जडः। प्रधानकार्यत्वात्पर्जन्येपि प्रधानत्वमुपचरितं स्यात्। तस्मिन्नेव विश्वेषां भुवनानामवस्थितिमाह वेदः। नैतत्। पर्जन्यस्य वर्षणद्वारा सुखमनुभवन्तीनां प्रजानामायतनत्वमुपचारेण न प्राधान्येन। तर्ह्येष मन्त्रः "दिवि सोमो अधि श्रितः" (ऋ०१०।८५।१) इत्यत्र सोमस्याश्रयो द्यौरित्युक्तम्। द्यौरपि प्रधानकार्यत्वात्प्रधानमेव। एषोपि न दोषः। "दिवि सोमो अधि श्रितः" इत्यत्र यस्यां दिवि सोमः श्रितस्तस्या आधारस्तु ब्रह्मैव नान्यः कोपि। एष तर्हि मन्त्रः। "अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः" (ऋ०१०।८५।२) इति। एषोपि न दोषः। नक्षत्रसहिताया एव दिवो ब्रह्मणा धार्यमाणत्वात्। एष तर्हि मन्त्रः। "सतो बन्धुमसति निरविन्दन्" (ऋ०१०।१२९।४) इत्यत्र सतः विद्यमा-

नस्यास्तित्वमुपगतस्य सर्वस्य पदार्थस्य बन्धुं मित्रमसति प्रधाने प्रधानरूपाश्रये निरविन्दन्महर्षयः। यदि ब्रह्मण एवाश्रयः प्रधानं किमु वक्तव्यं तर्ह्यन्येषाम्? नैष दोष एषोपि। नह्यत्र बन्धुशब्दो मित्रवाचकः। बध्नातीति बन्धुर्बन्धनम्। सतो जीवस्य बन्धनमसति भौतिके जगति निरविन्दन्महर्षय इत्यर्थोऽस्य मन्त्रस्य। भौतिकेषु हि भावेषु भावं भजन्तो जीवा दुःखमेवानुभवन्तीत्यस्य तात्पर्यम्। एवं द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैवेति निष्कण्टकम्॥ ॥१।३।३॥

ब्रह्मभिन्नं द्युभ्वाद्यायतनत्वेन संभावितमजडमपि निषेधति—

प्राणभृच्च ॥१।३।४॥

चः समुच्चयार्थकः। प्राणान्बिभर्तीति प्राणभृत्। जीवः। जातावेकवचनम्। सांख्यमिव जीवबहुत्ववाद्येवेदं व्यासदर्शनम्। अव्यवहितपूर्वसूत्रान्नेति, अतच्छब्दादिति च पदद्वयमिहापि पदमर्पयतः। जीवस्य जीवयोर्जीवानामपि वा नास्ति द्युभ्वाद्यायतनत्वम्। कुतः? अतच्छब्दादेव। अज्ञानपरम्पराप्रतारितो न कोपि जीवः स्वरूपेणाणीयानल्पबलव्याकुलो द्युभ्वाद्यायतनत्वं सोढुं समर्थः, न वा कोपि ज्ञानविज्ञानप्रकाशराशिप्रकाशित आविर्भूतस्वरूपो मुक्तो जीवः। नास्ति वेदेषु तस्य तथात्वप्रतिपादनम्। कस्मान्नास्ति:? नैतत्प्रष्टव्यम्। स्वतन्त्रो हि भगवान्वेदः। न हि भवति स प्रयोज्योनुयोज्यो वा कस्यचित्कदाचिदपि। स यद्वदति तदेव प्रमाणम्। तदेव सत्यम्। अथवा पृच्छयतां नाम कामम्। उच्यते। असामर्थ्यं हि तस्य द्युभ्वा-

दिधारणे। अणुर्हि जीवः बृहती च द्यौर्भुवादिश्च। न ह्यणुर्जीवोऽनणूनां दिवादीनामायतनं भवितुमर्हति। आश्रितापेक्षयाश्रयेण बृहता भाव्यम्। आश्रयत्वेनाभिमन्यमानो जीवो नास्ति बृहन्। नन्वणुरप्यनणूनां पदार्थानामायतनं भवत्येव। किमुदाहरणम्? अण्वेव कीलकं बृहत्कुम्भकारचक्रस्यायतनम्। अण्व्यामपि नावि बृहत्प्रमाणकानि काष्ठलोहादीनि पदार्थजातानि निधीयन्ते तेन तेषामायतनं भवत्येव सा नौः। अल्पमानमपि साइकिल् सार्धत्रिहस्तपरिमाणं पुरुषं पुरुषद्वयं वा वहति। एवं चाणुरपि जीवो बृहतामपि पदार्थानामायतनं भवितुमर्हत्येव। नार्हति। कुतः? सामर्थ्याभावात्। प्रतिवस्तु हि नियतं सामर्थ्यम्। विशालोऽपि कदलीवृक्षदण्डो न भारवाहाय भवति। भवति चाल्पोऽपि वंशदण्डो भारवहनसाधनम्। अल्पीयस्यपि मृद्घटे सलिलं प्राप्नोति सलीलमालम्बनं न परं महत्यपि कम्बले कार्पासे वा सूक्ष्मसूत्रोतपटपुटे। एवं च यत्राणुन्यपि द्रव्ये विद्यते सामर्थ्यं तद्भवत्येवायतनं स्वापेक्षया महतोऽपि द्रव्यस्य। यत्र च सामर्थ्याभावो न शक्नोति तत्सदपि महद्धारयितुमल्पमपि वस्तु। अणुरेव वा स्याज्जीवो विभुरेव वा, न तेन कश्चिदर्थः। अणीयानपि परमात्मा बृहतीमपि वसुन्धरां बृहन्तमपि सागरं भारालयमपि हिमालयमश्रमं स्वस्मिन्धारयत्येव। किं च "तं त्वा प्रपद्ये तं त्वा प्रविशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनुः सह यन्मेऽस्ति तेन॥" (अथ०५।६।११) इत्यनेन जीवस्यापि विभुत्वं प्रतिपादितमेव तथापि न जीवो द्युभ्वाद्यायतनम्। सामर्थ्याभावा-

देव। ननु जीवोऽर्हत्येव जगदायतनं भवितुम्। तथा हि वेदे, "अनड्वान्दाधार पृथिवीमुतद्यामनड्वान्दाधारोर्वन्तरिक्षम्। अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमा विवेश॥" (अथ०४।११।१) इत्यनेन मन्त्रेण स्पष्टमेवानुडुहो द्युभ्वाद्यायतनत्वम्। अनः शकटं वहतीत्यनड्वान्। स च प्राणभृदेवेति। सत्यं तथापि न समीचीनम्। न ह्यत्र वृषभस्य वर्णनम्। अत्रान्यदेव हि शकटमन्य एव तस्योढा। तथाहि, ऋग्वेदे शकटस्वरूपनिरूपणमिदं द्रष्टव्यम्—"मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदिः। शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या गृहम्।" "ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः। श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः॥" "शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः। अनो

---

(१) अनड्वान्विश्वशकटनिर्वोढा परमात्मा पृथिवीं भूलोकं द्यां द्युलोकमुरु बृहदन्तरिक्षं षडुर्वीर्महतीः प्रदिशश्च दाधार धारयति विश्वं सकलं भुवनं चाविवेशाविष्ट आविशति च।

(२) अस्या सूर्येतिनामिकायाः परमात्मनः शक्तेर्मन एव रथ आसीदास्ति। तस्या मनोरूपस्य रथस्य द्यौर्द्युलोकश्छदिरुपरिपिधानमासीत्। शुक्रौ दीप्तिमन्तौ सूर्याचन्द्रमसावनड्वाहौ रथस्य वाहकावास्ताम्। यदा सूर्या सा परमात्मशक्तिर्गृहमयात् सृष्टिरूपं गृहं निर्माय यदा तत्प्राविशदित्यर्थः॥१०॥

(३) ते तव ऋक्सामाभ्यामृक्सामे गावौ बलीवर्दावभिहितौ कथितौ इतो गच्छतः। तौ च सामनौ समानमनसौ। श्रोत्रं श्रोत्रे तस्य शकटस्य चक्रे आस्ताम्। दिवि दिव्यलोके हृदयप्रदेशे वा चराचरो गमनागमनसाधनभूतः पन्था आसीत्॥१२॥

(४) यात्या गच्छन्त्याः सर्वं व्याप्नुवत्यास्ते तव शकटस्य शुची पवित्रे चक्रे श्रोत्ररूपे। व्यानो व्यानवायुरक्ष आहतः कथितः आसीत्। पति

मनस्मयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम् ॥" (ऋ० १०।८५।१०-१२) इत्येतद्धि विश्वशकटम्। एतादृशस्य विश्वरथस्य वहनादेव स परमात्मैवानड्वान्नान्यो वृषभादिः। न हि शब्दमात्रं दृष्ट्वा व्यामोह ऊहनीयः। अन्यत्खलु शब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तमन्यच्च व्युत्पत्तिनिमित्तमिति ॥१।३।४॥

अन्यमपि हेतुमुपन्यस्यति जीवस्य तत्त्वं वारयितुम्—

भेदव्यपदेशात् ॥१।३।५॥

भेदोत्र विदलनं विशरणं वा। न तु जीवात्मपरमात्मनोः पार्थक्येन विवरणम्। विदलनं विनाशो विशरणं च। विनाशस्तु शरीराच्छरीरान्तरप्रवेशः। गमनागमने कुर्वाणोस्थिरत्वान्न भवति जीवः कस्याप्यायतनम्। नन्वस्थिर एव स्वाङ्गुल्यग्रभागो भवत्येवास्थिरस्यैव भ्रमतश्चक्रस्यायतनमिति। सत्यम्। अस्थिरता च नेह कम्पनरूपा। शरीराच्छरीरान्तरप्रवेशरूपैव सेत्यधुनैवाबूबुधाम। एवंविधस्य भेदस्य व्यपदेशस्तु [1]"अभि त्वा

पालकं हृदये स्थापयितारं भक्तगणं प्रयती गच्छन्ती सा सूर्या भगवच्छक्तिर्मनस्मयं मनोमयमनो रथमारोहत् ॥ जीवानां मनोरूपं रथमारुह्य सा सूर्या परमात्मनः काचन शक्तिर्यदा स्वपालकं हृदयेन स्वधारकं भक्तगणं प्रति गच्छति भक्तेषु जगत्सु च यदा स व्याप्नोति तदा तस्य शकटस्य मन्त्रोक्ता अवयवा आसन्निति भाव ॥१२॥

(१) रज्ज्वा गामुक्षणमुक्षाणं चेव जरिमा वार्धक्यं त्वा त्वामभि आहित अबध्नात्। यो मृत्युर्जायमानं सन्तमेव त्वा त्वां सुपाशया महाजालेन अभ्यधत्ताबध्नात्। ते तव तं मृत्युपाशं सत्यस्य हस्ताभ्यां त्वया सेवितं सत्यं द्वारीकृत्येत्यर्थः, बृहस्पतिर्बृहतां पतिः परमात्मा उदमुञ्चन्मोचयति।

जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा। यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया। तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद्बृहस्पतिः॥ (अथ० ३।११।८) "जरायै त्वा परिददामि जरायै नि [1]धुवामि त्वा०" (अथ० ३।११।७) [2]"शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।" (अथ० ३।११।४) [3]"जरा मृत्यवे परि नो ददातु" (अथ० १२।३।५५) [4]"योस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः" (अथ० ३।२७।१) इत्यादिषु मन्त्रेषु द्रष्टव्यः॥१।३।५॥

अन्तिमं हेतुमुपन्यस्यति—

प्रकरणात्॥१।३।६॥

प्रकरणं हि यस्य कस्याप्यपेक्षया शब्दार्थनिर्णये सर्वोपरि निर्णायकत्वं भजते। सैन्धवमानयेत्युक्ते प्रकरणादेव परिज्ञायते लवणमित्यश्व इति वानेयः। प्रकरणादेव परिज्ञायत एकरूपो गुणः सत्त्वादिरूपो वा। यत्र द्युभ्वादिसर्ववस्त्वायतनत्वस्य विचारस्तत्र ब्रह्मैव प्रस्तुतं न जीवः। तथाहि, [5]"सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद् यो नाश्नीयादनडुहो विजानन्" (अथ० ४।

(१) नि धुवामि प्रापयामि।

(२, ३, ४) निगदव्याख्याताः।

(५) यो जनोनडुहो भगवतः स्वरूपं विजानन् नाश्नाति जागतिकं विषयभोगं नानुभवति स सुप्रजाः शोभनप्रजादिमान् सन् आरे दूरे परमात्मन इति भावः, न सर्षत्र गच्छति। अथवा उदारे इत्येकं पदम्। उदरे इत्यर्थः। सांहितिको दीर्घः। जनन्या उदरे न पुनर्गच्छतीत्याशयः।

११।३) इत्यस्मिन्मन्त्रेनडुज्ज्ञानवतो न पुनः संसरणापसरणं श्रूयते। "[1]यो वेदानडुहो दोहान्सप्तानुपदस्वतः। प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः॥" (अथ० ४।११।९) इत्यस्मिन्मन्त्रेनडुहो विनाशाभावं भावयति भगवती श्रुतिः। इदं सर्वं न कथमपि हलवाहके वृषभे घटते। एवम् "उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति" (ऋ० १०।३१।८) इत्यपि ज्ञेयम्। अतः प्रकरणादवगम्यते नात्र प्राणभृद् द्युभ्वाद्यायतनमिति ॥१।३।६॥

उपोद्बलकं हेतुमुपन्यस्य समापयत्यधिकरणम्—

स्थित्यदनाभ्यां च ॥१।३।७॥

स्थिती रक्षणम्। अदनं भक्षणं विनाशनं प्रलय इतियावत्। न हि परं ब्रह्म केवलं द्युभ्वादीनामनारतमनार्तमायतनमपि तु तेषां रक्षणप्रलयावपि विदधाति। तथाहि, "प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।" (अथ० ३।२७।१) इत्यस्मिन्मन्त्रे जगतो रक्षितृत्वं ब्रह्मण्येव प्रत्यपद्यत। "नमोऽग्रेवधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च" (शु०य० १६।४०)

(१) योनुपदस्वतोविनश्यतोनडुहः परमात्मनः सप्त दोहान्दोहनपात्राणि वेद जानाति स प्रजा लोकं पारमेश्वरं चाप्नोति। सप्त ऋषयस्तथा विदुर्जानन्ति। दोहनपात्रं दुग्धस्थापनपात्रम्। यस्मिन्पात्रे दुग्धरूपं तत्त्वं निधीयते तद्दोहनपात्रमुच्यते। परमात्मा किं दोग्धि कुतो दोग्धि कुत्र च दोग्धीति विचारणीयम्। भौमेषु भोगेषु पारमेश्वराः पुत्रा अस्तं गताः। तेभ्य एव तान् स दोग्धि समाकृष्य बहिर्निस्सारयति। निस्सार्य च ततस्तान्यत्र स्थापयति तानि विवेकशमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धासमाधानेत्याख्यानि सप्त पात्राणि सन्ति। सप्त ऋषयश्च पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति।

इत्यादौ जगत्प्रलयकर्तृत्वमपि तस्मिन्नेव समार्तिथपत। रक्षण-प्रलयक्रिययोरपि न शक्यत आनुमानं प्राणभृद्वा कर्तृत्वेन निर्देष्टुम्। परं ब्रह्म तु निर्विवादं तयोः क्रिययोः कर्त्रिति तदेव जगदायतनम्। किं च द्युभ्वादिशब्देन विश्वमेव विश्वं विवक्षितम्। विश्वान्तःपातिनावेवानुमानप्राणभृतौ। एवं च तयोरेवाधारत्वमाधेयत्वं च विरुद्धम्। न हि स्वस्य स्वमाधारो भवति। एवं च सुतरां सिद्धं द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैवेति ॥१।३।७॥ इति द्युभ्वाद्यधिकरणम् ॥१॥

(अथ भूमाधिकरणम् ॥२॥)

ब्रह्मणः परिमाणमभिमतं समर्थयते—

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥१।३।८॥

अन्यत्र भूमा बहुत्वरूपार्थे सिद्धः। अत्र तु वैपुल्यार्थकः। ब्रह्मापरपर्यायः स परमात्मा भूमा विपुलो विभुपरिमाणोवगन्तव्यः। प्रतिरजःकणमणीयस्तया प्रतिगिरं महीयस्तया च स व्याप्यावतिष्ठत इत्यर्थः। अत्र हेतुः सम्प्रसादादिति। "कं भुवनानामभिश्रीः" इत्यादिवेदवचोभिरानन्दस्वरूपता तस्यैव सिद्धा नान्यस्य। तत्प्रसादादेवान्ये जीवाः प्रसादवन्तो भवन्ति। यदि स भूमा न स्यात्सर्वत्र तस्य व्याप्तिर्न स्यात्। व्याप्त्याभावाद्यौगपद्येन प्रसादमभिलषतो जीवान् स प्रसादयितुमसमर्थ एव स्यात्। सम्प्रसादयतीति सम्प्रसाद इति तस्य व्युत्पत्तिः। अपरमाह हेतुम्। अध्युपदेशादिति। अधिक उपदेशोऽध्युपदेशस्तस्मात्। अध्युपदेशो हि वेदोपदेशः। वेदोपदेशोपि तथाविध एव।

तथाहि, "अग्निर्देवेषु संवसुः स विक्षु यज्ञियास्वा। स मुदा काव्या पुरु विश्वं भूमेव पुष्यति देवो देवेषु यज्ञियो नभन्तामन्यके समे ॥" (ऋ०८।३९।७) इति। अस्यार्थः, अग्निः प्रकाशस्वरूपः परमात्मा देवेषु सत्पुरुषेषु संवसुर्निवासशीलः। यज्ञियासूत्कृष्टकर्मयोग्यतावतीसु सुसंस्कारसम्पन्नासु विक्षु प्रजासु चा आ समन्तात् संवसुः। स भूमाग्निः व्यापकः परमात्मा काव्या काव्यानि स्तुतिवचांसि श्रुत्वेतिशेषः, मुदा मोदेन पुरु महद्विश्वं जगत् पुष्यति पुष्णाति। देवेषु मध्ये यज्ञियः सत्कर्मप्रसाद्यः स देवः। तत्प्रसादादन्यके परे शत्रवः समे सर्वे नभन्तां हिंस्यन्ताम्। णभ हिंसायाम्। भूम सदेव तद्ब्रह्म परमानन्दप्रदानेन जगत्पुष्णातीतिवेदवचनेनोपदिश्यते ॥१।३।८॥

तत्रैवापरं हेतुमाह—

धर्मोपपत्तेश्च ॥१।३।९॥

धर्मस्योपपत्तिधर्मोपपत्तिः। चः समुच्चये। "अकामो धीरः अमृतः स्वयम्भूः (अथ० १०।८।४४) "यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः" (अथ० १०।८।३७–३८) "प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानः" (अथ० १०।८।१३) "रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव" (ऋ० ६।४७।१८) इत्यादिषु मन्त्रेषु समाम्नाता अमृतत्वाकामत्वधीरत्वस्वयम्भूत्वसर्वगर्भचरणशीलत्वसर्वरूपभवनत्वादयो धर्मा अपि तदानीमेवोपपद्येरन्यदि स्यात्तद्ब्रह्म भूमेति ॥ १ । ३ । ९ ॥ इति-भूमाधिकरणम् ॥२॥

(अथाक्षराधिकरणम् ॥३॥)

ब्रह्मणोऽविनाशित्वमुपपादयितुमाह—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥१।३।१०॥

तद्ब्रह्माक्षरमविनाशीति। जन्यं हि सकलं महाकालकवलितं भवति। यदि ब्रह्मापि क्षरमेव स्यादकिञ्चित्करमेव तत्स्यात्। "स दाधार पृथिवीम्" इत्यादिश्रुतिश्रुतं सर्वधारकत्वादि निराधारमेव स्यात्। तस्याक्षरत्वे हेतुमाह—अम्बरान्तधृतेरिति। अम्बरमन्तो येषां तेऽम्बरान्ताः क्षित्यबनलानिलाकाशाः सर्व एव पाञ्चभौतिकाः पदार्थाः। तेषां धृतेर्धारणात्। यदि तदक्षरं न स्यान्न स्यात्समेषां क्षराणामक्षराणां च धारकम्। न ह्यन्धोऽन्धं सुपन्थानं नयति। "ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्" इत्यादावप्यक्षरमेव परं ब्रह्मेति ॥१।३।१०॥

अम्बरान्तधृतिं वेदमुखेन प्रतिपादयितुमाह—

सा च प्रशासनात् ॥१।३।११॥

कुतोऽवगम्यतेऽम्बरान्तधृतिर्ब्रह्मणा सम्पाद्यत इति? प्रशासनात्। प्रकृष्टं शासनं प्रशासनम्। अप्रतिहतानुशासनमित्यर्थः। ब्रह्माम्बरान्तान्निखिलान्पदार्थाञ्शास्ति स्वानुशासने स्थापयतीत्येतादृशं प्रशासनमुपलभ्यते। तथा हि, "यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः" (ऋ०१०।१२१।२) "य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः" (ऋ०१०।१२१।३) "युवं तासां दिव्यस्य प्रशासने विशां क्षयथो अमृतस्य मज्मना" (ऋ०१।११२।३) "विद्वाँ अस्य प्रशासनम्" (ऋ०८।७२।१) "यां देवा अनु-

तिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम्। तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना॥" (अथ० ११।१०।२७) "तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते" (अथ० १३।४।२७) "तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह।" (अथ० १३।४।२८) इत्यादिभिर्दृष्टश्रुतश्रौतप्रवाहैः सर्वेषु जागतिकेषु वस्तुषु परमात्मनोऽप्रतिहतानुशासनं प्रवर्तत इति स्पष्टम्। तद्ब्रह्म सर्वं प्रशास्ति। धृतिमन्तरेण च प्रशासनस्यासंभवात्तत्राम्बरान्तधृतिः सुतरां स्वयमेव सिध्यति ॥१।३।११॥

चरमं हेतुमुपन्यस्यति—

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥१।३।१२॥

अन्येषां भावोऽन्यभावः। तस्य व्यावृत्तिर्निराकरणम्। तस्याः। अक्षरशब्दवाच्यत्वं वर्णस्यापि जीवस्यापि प्रकृतेरपि। "अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः" (ऋ० १।१६४।२४) इत्यत्र वर्णवाचकत्वमक्षरस्य। "उषसः पूर्वा अध यद्व्यूषुर्महद्वि जज्ञे अक्षरं पदे गोः।" (ऋ० ३।५५।१) इत्यत्र जीववाचकोऽक्षर शब्दः। पूर्वाः प्राचीना उषसः यद् यदा व्युषुर्व्यपगता भवन्ति अध अथ—यदा च पुनः सर्गारम्भो भवति तदा गोः पृथिव्याः पदे स्थाने महदक्षरं जीवो विजज्ञे प्रादुर्भवतीत्यस्या ऋचोऽर्थः। "गर्भे मातुः पितुष्पिता विदिद्युतानो अक्षरे" (ऋ० ६।१६।३५) इत्यत्राक्षरशब्दः प्रकृतिवाचकः। मातुः [1]पृथिव्या अक्षरे गर्भे इति वर्णनात्पृथिव्याः प्राकृतत्वात्तद्गर्भोऽपि प्राकृत एव। प्राकृतो न

(१) द्यौर्वः पिता पृथिवी माता (ऋ० १।१९१।६) इति मन्त्रो द्रष्टव्यः।

प्रकृतितो भिद्यते। प्रकृतिभूतस्य गर्भस्यैव विशेषणमक्षर इति। एवं च सर्वेषां ¹वर्णजीवाचितां भावस्य सत्त्वस्य व्यावर्तनादक्षरशब्दवाच्यत्वं ब्रह्मण एव। नन्वस्य विश्लेषणस्य कावश्यकतापतिता? आपतितैवावश्यकता। "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" इत्युक्तम्। तत्राक्षरशब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वं स्थिरीकर्तुमेषोऽशेषः प्रयत्नः। यदि न तत्र विवादस्तर्हि मास्त्वेष प्रयासोऽपि। सूत्रार्थस्तु तदेत्थम्—अन्येषां भावानां व्यावृत्तिर्निराकृतिर्दूरप्रक्षेपणं विनाशो भवति नातस्तेऽक्षराः। ब्रह्मणस्तु व्यावृत्तेरभावादक्षरत्वमिति ॥१।३।१२॥ इत्यक्षराधिकरणम् ॥३॥

(अथेक्षतिकर्माधिकरणम् ॥४॥)

सिंहावलोकनं करोति—

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥१।३।१३॥

अतो ब्रह्मजिज्ञासेति हि प्रथमेन सूत्रेण प्रतिश्रुतम्। अद्यावधि तल्लक्षणं तत्स्वरूपं तद्व्यवहारं तद्धर्मं चोपादिक्षद्व्यचीचरच्चाचार्यः। इदानीमनुयुङ्क्ते पूर्वपक्षी कथं ब्रह्मैव जिज्ञास्यं नान्यत्किञ्चिदिति? ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र जिज्ञासा हि विचार इति पूर्वमेवावोचाम। तत्र पूर्वपक्षिणोऽयमाशयः—बहवः सन्त्यपरेऽपि

(१) ननु "ओ३म् क्रतो स्मर" (शु०य०४०।) इत्यत्रोमित्यक्षरोपासना श्रूयते। ओङ्कारश्च वर्णसमूह एव। कथं तर्हि वर्णस्याक्षरपरमात्मवाचकत्वं प्रतिषिध्यत इति चेच्छृणु। यश्चोपासनीय ओमिति न स वर्णसमूहः किन्तु वर्णसमूहेन यथाकथञ्चिद्बोध्यश्च। न ह्यकारोकारमकारादिमान्समूहः केनाप्युपासकेनोपास्यते। यमर्थमयं समूह उपलक्षयति तमेव परमात्मानमुपासते सततमुपासका इति।

परामर्शार्हाः पदार्थाः कथं तर्हि परमात्मन्येव पक्षपातः ? कथं न मुमुक्षुभिर्जीवविचार एवाचरणीयः ? कथं न वाचिच्चिन्तनीया ? चिदचिदीश्वरेष्वचिद्धि प्रत्यक्षतमा ? प्रत्यक्षतरा हि चित् । अप्रत्यक्षतमो हीश्वरः । प्रत्यक्षतरं प्रत्यक्षतमं च वस्तु विहायाप्रत्यक्षतमे पुरुषोत्तमे जिज्ञासायाः को हि महानवसरः ? चिदचितोर्ज्ञानं मोक्षपरिपन्थित्वेनाभिमतं चेत्तथापि न क्षतिः । परिपन्थिस्वरूपानुसन्धानेनापि स्यादेवाज्ञानग्रन्थिनिर्भर्त्सनम् । उच्यते । अचिद्विचारेण केवलं भौतिकविज्ञानसम्पत्तिः सिध्येन्नान्यत्किञ्चित् । तया च सम्पदा न जीवः कल्याणपदे पदमर्पयितुमपि शक्नोति । यद्धि विचार्यं ताद्रूप्यमेव चित्तस्य । अचितश्चिन्तनेनाचित्त्वमुपचिन्वच्चित्तं न कमपि महिमानमश्नुवीत । चितश्चिन्तनं तु परमेश्वरचिन्तनान्वगेवेति सर्व एवानुभविनः । एवं च परिशेषाद्ब्रह्मचिन्तनमेव कर्तव्यमित्यायातम् । किं च नापरोक्षः परमात्मेति विपश्चितां प्राचामर्वाचां च वाग्व्यवहारः । अप्राप्तमेव प्राप्तुं प्रापयितुं च दयार्द्रचेतसां परममहसां विदुषामायासः । परमात्मदर्शनेनैवादर्शनतां भजते भवपुनर्भवभाव इति तेषामनुभूतिरहस्यम् । अत्रैव वेदानामपि तात्पर्यमिति विशदयितुं सूत्रमिदम् । ईक्षतिर्दर्शनम् । दर्शनं तु ज्ञानमेव न चर्मचक्षुषावलोकनम् । ईक्षतेः कर्मेक्षतिकर्म । तत्त्वेन व्यपदेश ईक्षतिकर्मव्यपदेशस्तस्मात् । उपासकानां तस्मिन् परमात्मन्येव दर्शनकर्मताव्यवहारः । सम्यग्द्रष्टारो हि तमेव पश्यन्ति । तदद्रष्टारश्च तमेव दिदृक्षन्ते । पूर्वजाश्च तमेवाद्राक्षुरभाक्षुश्च श्रेयो निश्श्रे-

यसं च। तथा हि श्रुतयः, [1]"धीरासः पदं कवयो नयन्ति नाना हृदा रक्षमाणा अजुर्यम्। सिषासन्तः पर्यपश्यन्त सिन्धुमाविरेभ्यो अभवत्सूर्यो नॄन्॥" (ऋ०१।१४६।४) [2]"तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥" (अथ०१०।२।३२) "उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥" (शु०य०२०।२१) "उद्वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥" (अथ०७।५८।७) इत्यादिषु सर्वत्रैव परमात्मन्येवेक्षतिकर्मव्यपदेशः। अतः स एव जिज्ञास्यो नान्यः॥१।३।११॥ इतीक्षतिकर्माधिकरणम्॥४॥

(अथ दहराधिकरणम्॥५॥)

"भूमा सम्प्रसादाद्०" इत्यादिना परमात्मनो विभुत्वम्

---

(१) धीरासो धीरा धीमन्तः कवयः क्रान्तदर्शिनः सर्वज्ञा वा नाना नानिति न प्राणिति भगवद्विरोधिषु पदार्थेषु या सा नान् तया नाना परमात्मलीमया हृदा बुद्ध्या रक्षणा रक्ष्यमाणाः सिन्धुं स्यन्दमानं भक्तिजलं सिषासन्तः संभक्तुमिच्छन्तो जीवान् सांसारिकान् पर्यपश्यन्त परितोपश्यन् पश्यन्ति ततः परं तानजुर्यमविनाशि पदं नयन्ति प्रापयन्ति। एभ्यस्तेभ्य इत्यर्थः, नॄन् नृभ्यः सूर्यः सर्वत्रसरणशीलः सलीलः परमात्मा आविरभवत् आविर्भवतीति भावः।

(२) अरे अरत्रयसंयुक्ते त्रिप्रतिष्ठिते त्रिषु अनन्यभक्तिः परमात्मविज्ञानं परमात्मविषयकं च कर्मेत्येतेषु त्रिषु प्रतिष्ठिते हिरण्यये हिरण्मये परमसुन्दरे बहुमूल्ये कोशे शरीरे आत्मन्वत् आत्मवान् यद्यक्षं यो यक्षः पूजनीयः परमात्मा तिष्ठति ब्रह्मविदो ब्रह्मज्ञानिनस्तमेव ब्रह्म विदुः। मनोवचःकर्माणीति त्रयोराः। एभिरेव शरीरतद्व्यवहारयोः स्थितिः।

"अक्षरमम्बरान्त०" इत्यादिना चाविनाशित्वं प्रतिपादितमसहमान आह पूर्वपक्षी—

दहर उत्तरेभ्यः ॥१।१४॥

दहर इत्यल्पार्थकः शब्दः। निघण्टौ दहरक इति काचित्कः पाठो दहेरक इत्यपि च। स परमात्मा दहरोल्पो ह्रस्वो न तु विभुर्न वाक्षरः। ह्रस्वो ह्यनक्षरो भवति। लोके तथैव दर्शनात्। परमात्मनो दहरत्वे हेतुमाह—उत्तरेभ्य इति। उत्तरेभ्यो वक्ष्यमाणेभ्यो हेतुभ्यः ॥१।३।१४॥

उत्तरेभ्य इति प्रतिज्ञातान्हेतूनाह—

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ॥१।३।१५॥

गतिश्च शब्दश्च तौ, ताभ्याम्। गतिशब्देन गमनाद्याः सर्वाः क्रियाः समाह्रियन्ते। परमात्मनो गतिः श्रूयते "स पर्यगात्" (शु०य०४०।) "इन्द्रो मंदाय गच्छति" (ऋ० १।१६।८) इत्यादिषु वेदमन्त्रेषु। लोकेपि प्रसिद्धिः शरणागतानां दुःखं संजिहीर्षुः स समभ्युपैति। शब्दश्च। ब्रह्मदहरत्वे शब्दप्रमाणमपि भवति। तथाहि "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इत्यनेन मन्त्रेण जीवब्रह्मणोः सामानधिकरण्यं शब्द्यते। यस्मिन्नधिकरणे जीवस्य निवेशस्तस्मिन्नेव परमात्मनोपि। परिष्वज्यमानो द्वाभ्यां वृक्षस्त्वणुरेव। तथाहि दृष्टमिति। लोकेपि दृष्टं भवत्यणुन्यधिकरणेल्प एव तिष्ठति न विभुरिति। लिङ्गं च गमकमपि परमात्मनो दहरत्वे यद्भवति तत्प्रदर्शितं द्वा सुप-

णैत्यादिना । अन्यान्यपि लिङ्गानि नानतिप्रसिद्धानि । ततो दहरः परमात्मेति ॥१।३।१५॥

किं च,

धृतेश्च महिम्नोस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥१।३।१६॥

धृतेर्धारणाच्चाप्यस्य परमात्मनो माहात्म्यस्यास्मिन्दहर एवोपलब्धेः । तथाहि वसुन्धरा नियतपरिमाणा सत्येव सर्वं धारयति । भूधरोपि सततमवगतपरिमाण एव भुवं धारयति । जीवोप्यल्पपरिमाण एव देहं धारयति । एवं च धारणादपि स परमात्मा दहरो ह्रस्व एव । ह्रस्वेपि धारणादिकं तस्य माहात्म्यमुपलभ्यते ॥१।३।१६॥

किं च,

प्रसिद्धेश्च ॥१।३।१७॥

"प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते" (शु०य०३१।१९) इति गर्भे चरणस्य बहुधा भवनस्य च प्रसिद्धेर्दहर एव स न च विभुः ॥१।३।१७॥

किं च,

इतरपरामर्शात्स, इति चेन्नासम्भवात् ॥१।३।१८॥

इतरस्य प्रधानस्याज्ञानस्य वा परामर्शात्साहाय्ययाचनात्स परमात्मा दहर एव । न हि परमात्मा जगन्निमार्णे शक्तो भवेन्न भवेद्यदि प्रकृतिरचेतना कर्तृत्वसंचारयित्री वाविद्या तस्मिन् । ततः स दहर एव । सर्वान् हेतून् निराकरिष्यन्नाह–इति चेत्

नेति। कुतो न? असम्भवात्। यदि परमात्मा निर्गुणं भवेत्तदुक्तधर्माणां तस्मिन्नसंभव एव स्यात्। "स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्" इत्युक्तम्। न हि कश्चनाल्पो महतीमिमां धरामकल्पनीयप्रमाणां द्यां च धारयितुं शक्नोति। गतिशब्दाभ्यामिति यदुक्तं तदपि न। असम्भवादेव। "स पर्यगाद्" इति हि प्रोक्तम्। पर्ययणं च व्याप्तिः। विभुरेव सर्वं व्याप्तुं शक्नोति नाणुः। "भुवनानि पश्यन्" इत्युक्तं सर्वेषां भुवनानां दर्शनमविभोरसम्भवः। यानायाने च वर्ण्यमाने तस्य गौणे एव। मुख्ययोर्यानायानयोरसम्भवात्तस्मिन्। "प्रजापतिश्चरति गर्भे" इत्युक्तमजायमानस्यापि परमात्मनो बहुधा जायमानत्वं नाल्पे तस्मिन् संभवति। महदाश्चर्यमेतद्यदजायमानोपि नैकधैव किन्तु बहुधा विजायते। किं च तस्य गर्भे चरणं न लोकप्रसिद्धम्। गर्भ इत्यत्राधारद्योतिकया सप्तम्यैवाधारलाभः स्याद्यदि केवलमाधारविवक्षा स्यात्। उच्यते चान्तरिति। गर्भेन्तश्चरणमन्तर्यामित्वं तस्य प्रख्यापयति। तच्च विभावेव सम्भवति नाल्पे कथमपि। यदुक्तमितरपरामर्शादिति तदपि न युक्तम्। इतरस्य परामर्शो नाल्पस्य कार्यं, विभोरेव। न हि परमात्मा जगन्निर्माणे शक्तो भवेन्न भवेद्यदि प्रकृतिश्चेतना सहकारिणीत्युक्तिरसद्युक्तिः। यदा स जगतस्तस्थुश्चापीष्टे—ईशानो भवति यदा च सर्वं तस्य शरीरमेव भवति तदा कोऽवसरस्तस्याः प्रकृतेरभवनस्य? न चाविद्या तत्र कर्तृत्वं संचारयति। सवर्थापरवान्हि परमात्मा। अकामो धीरः अमृतः

१०

स्वयम्भूरिति वेदेनैव प्रतिपादितम्। स्वयमात्मना जगद्भावयतीति स्वयम्भूः। सर्वत्र सर्वक्रियासंचारयितरि पितरि परमात्मनि क्रियां संचारयितुं कथं नामाविद्या वराकी प्रभवेत्? नातः स परमात्माल्पः ॥१।३।१८॥

पुनराशङ्कते—

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥१।३।१९॥

उत्तरादुत्तरशब्दपाठादल्पत्वं चेत्, आविर्भूतस्वरूपः सः। अयमाशयः। "उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ (ऋ०१।५०।१०) इत्यस्मिन्मन्त्र उत्तरस्य ज्योतिष उत्तमस्य च ज्योतिषोधिगतिरुक्ता। ज्ञायते चैतेन तारतम्यं परमात्मनः। यश्चोत्तरः परमात्मा सोल्पो नोत्तम इति चेदुच्यते, तदुत्तरं शृणु। आविर्भूतस्वरूप इति। आविर्भूतं स्वरूपं यस्य स आविर्भूतस्वरूपः। परमात्मा सर्वदैवाविर्भूतस्वरूपत्वान्मायाच्छायाविरहितत्वाच्चोत्तम एव। पूर्वार्धर्चे श्रुतश्चोत्तरशब्दो नोत्तमशब्दाद्भिद्यते। अत एव आथर्वणा उभयत्रोत्तमशब्दमेवाधीयते। तथाहि "उद्वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥" (अथ०७।५३।७) इति। अथवा तमसोज्ञानात्परि परस्तादज्ञानमतीत्येत्यर्थः, उत्तरमुत्कृष्टं ज्योति-

(१) वयमुपासकास्तमस अविद्यायाः पापाद्वा परि उपरि वर्तमानं पापादिरहितमुत्तरमुत्कृष्टतरं ज्योतिः पश्यन्तो देवत्रा देवेषु देवं दिव्यं सूर्यं प्रकाशकमुत्तममुत्कृष्टतमं ज्योतिरगन्म प्राप्नवाम।

ज्ञीनं पश्यन्तो वयं सूर्यं प्रकाशस्वरूपमुत्तमं देवं परमात्मानमगन्म प्राप्तवन्त इत्यर्थकरणात्तस्य मन्त्रस्य तारतम्यं सर्वथा समे परमेश्वरे मा वि भात् । अस्य मन्त्रस्योत्तरार्धपाठो वाजसनेयिनां तैत्तिरीयाणां चेदृशः—"उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्" (शु०य०२०।२१; तै०४।१।७।४) इति । सूत्रान्ते तु-वैषम्यशमनार्थः ॥१।३।१९॥

इतरपरामर्शादितिसूत्रोक्तं परामर्शं परामृशति—

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥१।३।२०॥

"धमति सं पतत्रैः" इत्यादौ य इतरपरामर्शः श्रूयते स चान्यार्थः । अन्येल्पज्ञानिनोज्ञानिनो वा । कथं केन च साधनेन परमात्मा जगदिदमागमयतीति जिज्ञासूनामज्ञानिनां सन्तोषाय साधनपरामर्शः । यन्नाह्वि साधनं सर्वं तस्य तच्छरीरम् । शरीरशरीरिणोश्चाभेद इति स्वेनैव सर्वं सन्तनुते परमात्मा ॥१।३।२०॥

पुनरपि कुचोद्यं चोदयति—

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥१।३।२१॥

ननु गतिशब्दाभ्यां तथेत्यादिसूत्रे गतिशब्दाभ्यामल्पत्वं परमात्मनः समर्थितमिति चेत्, तद् उक्तम् । तस्योत्तरम् "इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात्" इतिसूत्रेणोक्तं तत्रैव द्रष्टव्यम् ॥१।३।२१॥

महौषधं महारोगिणे प्रयच्छति—

अनुकृतेस्तस्य च ॥१।३।२२॥

यत्र क्वचिद्यद्यल्पश्रुतिः स्यात्सा तस्य परमात्मनोऽनुकृतेर्वै-

दितव्या। अयं भावः। सूर्याग्निवाय्वादयः शब्दा लौकिकसूर्ये लौकिकाग्नौ लौकिकवाय्वादौ चापि प्रयुक्ताः परमात्मनि चापि। "अग्न आ याहि" इत्यादौ यत्रागमनश्रवणेनाग्नेरल्पत्वं प्रतीयेत तत्र परमात्मनोऽनुकृतेरग्न्यादेर्बोध्यम्। प्राधान्येन परमात्मन एवोपासा शास्त्रसिद्धा। तथाप्यसमर्थाः परमात्मप्रतीकबुद्ध्याग्न्यादित्यादीनुपासीनास्तत्तद्देवादीनामागतिं प्रार्थयन्ते। तत्र सर्वत्र परमात्मनस्तद्धर्माणां चानुकृतिर्बोध्येति भावः ॥१।३।२२॥

अत्रैव स्मृतिं प्रमाणयति—

अपि च स्मर्यते ॥१।३।२३॥

स्मृतिरप्येतादृश्येव। का सा? एषासौ "गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥" इत्यत्र गुरौ विष्ण्वादीनामनुकृतिर्बोद्धव्या ॥१।३।२३॥ इतिदहराधिकरणम् ॥५॥

(अथ प्रमिताधिकरणम् ॥६॥)

पुनराक्षिपति—

शब्दादेव प्रमितः ॥१।३।२४॥

येषां वेदानां शब्दमाश्रित्य परमात्मनो विभुत्वं प्रतिपाद्यते तेषामेव वेदानां शब्दात्स परमात्मा प्रमितः प्रकर्षेण मितः। स च शब्दः "अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" (शु०य०३१।१; अथ०१९। ६।१, ऋ०१०।९०।१) इति। ज्ञायते चैतेन दशाङ्गुलपरिमाणः स परमात्माल्प एवेति।

समाधत्ते—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥१।३।२५॥

अप्रमितस्यापि ब्रह्मणो दशाङ्गुलमितिदर्शनेन दशाङ्गुलपरिमाणकल्पनं न युक्तम् । तद्ध्यायिभिर्हृदयप्रदेश एव तद्ध्यायत इतिविद्वत्प्रवादः । स च प्रदेशोऽत्यल्पः । तत्प्रदेशाल्पत्वं तत्र ध्येये ब्रह्मण्यपि प्रकल्पितम् । एवं च हृद्यपेक्षयैव दशाङ्गुलपरिमाणत्वप्रतिपादनं तस्य । किं च शब्दतस्तु तस्य दशाङ्गुलत्वमपि न प्रतीयते । दशाङ्गुलं हृदयमतिक्रम्यातिष्ठदित्येव तस्यार्थः । यद्यदाक्रम्य तिष्ठति तत्तत्परिमाणमेव भवतीति न नियमः । भुवमाक्रम्य स्थिता भूधरा न भूपरिमाणाः। मूषकमाक्रम्य स्थितो बिडालो न मूषकपरिमाणः। आक्रम्यपरिमाणेनाक्रान्तृपरिमाणस्य न कोपि सम्बन्धः । न्यौन्यमेव वाधिक्यमेव वा भवति परिमाणस्याक्रामकस्य । हृद्यपेक्षयेत्यत्र हेतुमाह मनुष्याधिकारत्वादिति । हृदये तद्ध्यानस्थानं तथाविधं मनुष्याणामेव भवति । नान्येषाम् । न हि खगा मृगा वा ब्रह्म ध्यायन्तो दृष्टाः । हृदयं तु स्यादेव तेषामपि । स्वामिनं चिन्तयन्तो दृश्यन्त एव तेनेकशः । न परं तेषां ब्रह्मणो ज्ञानम् । शास्त्रानुग्राह्यं हि तत् । शास्त्रं च मनुष्यैरेव गम्यम् । विधिनिषेधप्रवर्तकानि शास्त्राणि मनुष्यमधिकृत्यैव प्रवृत्तानि न देवादीन्वा पशुपक्ष्यादीन् । न हि शृङ्गेण ब्राह्मणमन्यं वा मनुष्यं घ्नती गौर्ब्रह्महत्यानरहत्यादिप्रत्यवायैर्युज्यते । एवं च मनुष्यहृदयपरिमाणापेक्षया तथोक्तिरिति ॥१।३।२५॥

(अथप्रमिताधिकरणे तदुपर्यधिकरणम् ॥ १ ॥ (६॥)

केवलमनुष्यस्याधिकारित्वं ब्रह्मध्यानेपह्नुवतो बादरायणस्य मतमाह—

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥१।३।२६॥

तेषामुपरि तदुपरि मनुष्योपरीत्यर्थः। भगवान्बादरायणो मनुष्योपर्यपि ब्रह्मध्यानाधिकारं स्वीकरोति। पूर्वं यदुक्तं मनुष्याधिकार एव ब्रह्मचिन्तने तन्न। मनुष्यातिरिक्ता अपि ब्रह्मध्यानेधिक्रियन्ते। कुतः? संभवात्। अत्रेदमवधेयम्। इदमधिकरणमस्पष्टलिङ्गकम्। उपरिशब्दो भिन्नार्थे प्रयुक्तः। मनुष्यभिन्नाः खगमृगादयोपि देवादयोपि च। केऽत्र ग्राह्या इति न स्पष्टम्। मनुष्याणामुपरि तदधिकं किञ्चिदस्ति नास्ति वा? यद्यस्ति तत्किमित्यादिविषयावलोडनश्रमं जिहासुना बादरायणेन मनुष्यजन्मनः परमस्ति किञ्चिदित्यभ्युपगम्यैव मनुष्येतराधिकारो ब्रह्मध्याने समर्थ्यते। संभवादितिहेतूपन्यासेन नार्यस्य बादरायणस्य दृढा प्रत्यभिज्ञा मनुष्येतराणां ब्रह्मध्यानप्रवणानामस्तित्वे। तथापि परमौदार्यं प्रकटयितुमसौ मनुष्येतरस्यापि यस्य कस्यापि संभावितस्य ब्रह्मध्यानाधिकारं समर्थयते।

अथवा मनुष्येतराणां देवानामपि ब्रह्मध्यानाधिकारोस्त्येव। "यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते" (शु०य०३२।१४) इत्याम्नानात्। कथं तर्हि संभवादितिहेतोः सामञ्जस्यम्? मनुष्ययोनेरुपरि देवयोनिस्तस्या अप्युपरि स्यात्काचन योनिरिति संभाव्य तद्धेतुप्रदर्शनम् ॥१।३।२६॥

ननु स्यान्नाम ब्रह्मध्यानेधिकारो मनुष्यभिन्नानां देवादीनाम्; कर्मणि तेषामधिकारो न वेत्याह—

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ १।३।२७॥

आह प्रतिपक्षी, भवतु नाम ब्रह्मध्यानाधिकारो निर्विरोधो निर्जराणामपि, कर्मणि तु विरोधो वर्तते। कीदृशो विरोधः? ईदृशः-किञ्चिदीप्सन्नेव कश्चित्किञ्चित्कर्यारभते। ईप्सितं च तदैहिकमामुष्मिकं च भवति। इतो गतानामैहिकं फलं न संभवति। आमुष्मिकमपि न संभवति। स्वर्गकामो यजेतेत्यादिना विधिना स्वर्गं कामयमानाः कामिनो यजन्ते। स्वर्गतानां स्वरवस्थितानां च स्वर्गस्तु प्राप्त एव। किमिच्छतां तर्हि तेषां कर्मसु प्रवृत्तिः स्यात्? स्वर्गस्थिताः स्वर्गमिच्छन्तो यजन्तीत्येव विरोधः। इति चेन्न। नायं विरोधः। कुतः? अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्। अनेकेषां देवानां कर्मप्रतिपत्तेर्दर्शनात्। न केवलं स्वर्गायैव यजन्ते लोकाः। अन्यार्थमपि। स्वर्गस्थानामपि शत्रुवधादिकामास्तु भवन्त्येव। अत एव यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" (शु०य० ३१।१६) "तां देवाः। असुरेभ्योऽन्तरायंस्तां स्वीकृत्याग्नावेव परिगृह्य सर्वहुतमजुहवुराहुतिर्हि देवानां स यामेवामूमनुष्टुभा जुहवुस्तदेवैनां तद्देवाः स्व्यकुर्वत। तेऽसुरा आत्तवचसो हेऽलवो हेऽलव इतिवदन्तः पराबभूवुः॥" (शत०३।१।२।२।२३) इत्यादीनि वेदब्राह्मणवचनानि चारितार्थ्यमनुभवन्ति ॥१।३।२७॥

ब्रह्मध्याने कर्मणि च विरोधमवरुध्य शब्दविरोधं प्रादुर्भावयितुमाह—

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ १।३।२८॥

विरोध इत्यध्याह्रियते । शब्द इत्यनेन वेदो गृह्यते । मा भूद्ब्रह्मध्याने विरोधो मा वा भूत्कर्मणि । शब्दे तु विरोधोऽस्त्येव । न ते शब्दरूपवेदाधिकारिणः । वेदग्रहणयोग्यताप्रापकसंस्काराभावात् । इति चेन्न । अतः प्रभवात् । अत एव देवेभ्य एव प्राकट्यमापन्नः शब्दः । यो यस्माज्जातः कथं स तमधिकारात्प्रच्यावयेत् ? कुतोऽवगम्यते शब्दो देवेभ्यो जात इति ? प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । अत्र प्रत्यक्षशब्दः श्रुतिं लक्षयति स्मृतिं चानुमानशब्दः । तेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यामित्यस्य श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । श्रुतिश्च "अग्नेर्ऋग्वेदो वायो यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः" (शत० ११।४।२।३) इति । स्मृतिश्च, "अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा । आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रसूतयः ॥" (मनु० १।२१) इति । नन्वेवं श्रुतिस्मृत्योर्विरोधः । श्रुतिरग्न्यादिदेवेभ्यो वेदमवतारयति स्मृतिश्च स्वयम्भुवः । कथमुभयोः सङ्गतिः ? इत्थम् । स्वयम्भूशब्देनात्र परमात्मैवोक्तः । तथा चाग्नेर्ऋग्वेद इत्यादिश्रुतौ परमात्मनश्चोदनयैवाग्न्यादिभ्यो वेदावतार इति न कोऽपि दोषः । एवं "(१)यज्ञेन वाचः पदवीयमा-

(१) यज्ञेन पुण्यकर्मणा वाचो वेदवाचः पदवीयं मार्गम् आयन् प्राप्नुवन् ।

यन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्" (ऋ० १०।७१।३) "यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत" (ऋ० १०।७१।२) "यथेमां वाचं कल्याणी-मावदानि जनेभ्यः" (शु० य० २६।२) इत्यादिष्वपि न विरोधः ॥१।३।२८॥

वेदानां नियतत्वं साधयति—

अत एव च नित्यत्वम् ॥१।३।२९॥

नित्यशब्दोत्र नियतार्थकः। नित्यं भुङ्क्ते नित्यं स्वपितीतिवत्। अत एव=वेदरूपशब्दो देवेभ्यः प्रादुर्भूतस्तस्मादेव तस्य नियतत्वम्। "सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः" (शत० १।१।४;२।१।७) "सत्यप्रिया देवा अनृतप्रिया मनुष्याः" (शत०   ) इत्यादिवचनैः सत्यगिरो हि गीर्वाणाः। तेषां वचस्सु न स्यादनैयत्यम्। मात्राप्यनुस्वारोपि न शक्यते विपरिवर्तयितुम्। यादृगानुपूर्वी देवैर्गृहीता ग्राहिता च वेदानां तादृशैवानुपूर्व्या तेषु भाव्यम्। अन्यथा वेदानां वेदत्वमेव प्रतिहन्येत। चिरकालसाहित्यमपि नित्यत्वम्। नित्या द्यौर्नित्या पृथिवी नित्यमाकाशमितिवत्। यदि देववचनरूपवेदवचनमनियतं स्यात्सत्यत्वं हि देवानामुपह-

---

तां वेदरूपां वाचमृषिषु प्रविष्टां तत्त्वज्ञेषु महर्षिषु स्थितामन्वविन्दन्नलभन्त। "तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते" इत्युत्तरार्धोऽस्या ऋचः। अर्थस्तु-तां वेदवाचमाभृत्याहृत्य पुरुत्रा पुरुषु बहुषु सर्वेषु मनुष्येषु ग्रहणसमर्थवागादिन्द्रियवत्सु व्यदधुः स्थापयामासुः सर्वानध्यापयामासुरित्यर्थः। सप्त रेभाः सप्त च्छन्दांसि गायत्र्यादीनि अभि सं नवन्ते सर्वत्र गच्छन्ति ॥

(१) यत्र यस्मिन्काले धीरा धीमन्तो वाचं वेदवाचमक्रत कृतवन्तः॥

न्येत। मा भूत्तस्योपहननमिति नियतानुपूर्वीको भगवान्वेदः। नात्र ध्वंसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्। महाप्रलयस्वीकर्तॄणां मते कारणीभूताकाशस्य तदानीमभावात्कार्यभूतशब्दानामप्यभावः सुतरां सिध्येत्। न च यत आगतो वेदशब्दस्तमेव परमात्मानं प्रलये प्रविशेत्सृष्टिकाले च पुनस्तस्मात्स एव बहिरागच्छेदिति वाच्यम्। ज्ञानरूपस्य परमात्मनो ज्ञानदारिद्र्यमेव हि सम्पद्येत। न हि चत्वारो वेदाः परमात्मज्ञानस्य चरमां सीमां स्थापयन्ति। ततोऽप्यधिकेन ज्ञानेन परमात्मनि भाव्यम्। अन्यथा न स्याज्ज्ञानानन्त्यं तस्य। न चापौरुषेयत्वाद्वेदानां नित्यत्वमेवेति वाच्यम्। अपौरुषेयत्वेनैव वेदानां प्रामाण्यस्वीकारो नतु नित्यत्वेनापि। किं च तदपौरुषेयत्वमपि शपथशतनिर्णेयम्। शब्दोपदेशाय मुखाद्यवयवा अपेक्ष्यन्ते। न हि सन्ति परमात्मनस्तेऽवयवाः। किमपि लौकिकमलौकिकं वा शरीरमाधायोपदिशति वेदांश्चेदायातं पौरुषेयत्वम्। न च कर्तुरस्मरणाद्वेदानां नित्यत्वमिति वाच्यम्। "ऋचः सामानि जज्ञिरे" "छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत" (शु०य०३१।७) "यस्मादृचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमानि०" (अथ० १०।७।२०) इत्यादिवेदवचोनिचयेनैव वेदकर्तुः परमात्मनः स्मरणात्। एवं च नापि नित्यत्वेन नाप्यपौरुषेयत्वेन वेदानां प्रामाण्यं; किन्तु प्राक्तनविद्वत्समाजाङ्गीकृतत्वेनाप्तत्वेन चेति विज्ञेयम् ॥१।३।२९॥

नियतत्वादेवावृत्तौ विरोधं परिहरन्नाह—

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥१।३।३०॥

नियतान्येव वेदाक्षराणि। तत आवृत्तावपि पुनः पुनरुच्चार्यमाणेष्वपि वेदेषु तत्र नामरूपसामान्यादविरोधो विरोधाभावः। अयं भावः। अग्निमीडे पुरोहितमिति चैत्रेणोच्चारितम्। अयमेव मन्त्रः पश्चात्तदानीमेव कालान्तरे वा मैत्रेणोच्चारितोऽन्यैरपि। यदि वेदानां नियतत्वं न स्यादन्येनान्यथोच्चारितेऽन्येन चान्यथा व्यवस्था भज्येताव्यवस्था च प्रसज्येत। ततश्च "ईशानमस्य जगत" इत्यस्य स्थाने "ईशानस्येमं जगतः" इति पाठे ब्रह्मणो जगत्परवश्त्वं प्राप्येत। नियते च पाठेत्र शताब्दान्तेपि वा "अग्निमीडे पुरोहितम्" "ईशानमस्य जगतः" इत्येवोच्चार्येत। किं च "विश्वा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विश्वा ते धाम विभृता पुरुत्रा" इत्यस्य विश्वा ते। ते विश्व। विश्वा ते। ते अग्ने त्रेधा। त्रेधाऽग्ने ते। ते अग्ने। अग्ने त्रेधा। त्रेधा त्रयाणि विश्वा ते। ते विश्व त्रयाणि त्रेधा। त्रेधा त्रयाणि। त्रयाणि विश्व। विश्वा ते। ते धाम विभृता पुरुत्रा। पुरुत्रा विभृता धाम ते। ते धाम। धाम विभृत। विभृता पुरुत्रा। विभृतेति वि। भृता। पुरुत्रेति पुरु। त्रा।" इति रेखापाठेपि समाननामरूपत्वादविरोधः। पाठनैयत्यरक्षणायैवायमायासः। विरोधाभावे हेतुद्वयमाह—दर्शनात्स्मृतेश्चेति। दर्शनं वेदपाठव्यवहारवैविध्यम्। तच्च निदर्शितम्। स्मृतिश्चैषा—

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात् ॥" इति। न चेयं स्मृतिः पाणिनीयत्वात्पश्चात्तनी व्यासस्येति नात्र प्रमाणपदवीमवगाहेतेति तवाग्रहश्चेन्मृग्या तर्हि काचिदन्या। एवं च दिवौकसामपि वेदशब्दग्रहणाधिकारो बादरायणेन समर्थितः ॥१।३।३०॥ इति प्रमिताधिकरणे तदुपर्यधिकरणम् ॥१॥(६) ॥

(अथ प्रमिताधिकरणे मध्वाद्यधिकरणम् ॥२॥ [६])

देवानां मध्वाद्यधिकारे जैमिनिमतमुपस्थापयति—

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥१।३।३१॥

अध्यात्मविद्यादेवविद्यामधुविद्याद्याः सन्त्यनेका विद्याः। ताः सर्वा उद्दिश्यैवायं प्रसङ्गः। जैमिनिराचार्यो मन्यते मध्वादिषु विद्यासु नाधिकारो देवानाम्। कुतः? असम्भावात्। अयं भावः। अथर्ववेदे मधुविद्या श्रूयते। तथा हि [1]"यथा मधु मधुकृतः सं भरन्ति मधावधि। एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्" [2]"यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि। एवा मे

(१) यथा मधुकृतो मधुमक्षिका मधावधि अधिमधु मधुपुटे मधु संभरन्ति समाहरन्ति संचिन्वन्ति एवा एवं हे अश्विनौ, मे ममात्मनि वर्चो ब्रह्मवर्चसं ध्रियतां स्थाप्यताम्।

(२) यथा मक्षा मक्षिका मधौ अधि इदं मधु न्यञ्जन्ति न्यञ्जयन्ति प्रकाशयन्ति संचिन्वन्ति वा एवा एवं मे मम मयि वर्चो ब्रह्मवर्चसं तेजो मिथ्याचारासहिष्णुत्वं बलं शत्रुनिराकरणसामर्थ्यमोजोसह्यत्वं च ध्रियताम्।

अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम् ॥" "यद्गिरिषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु यन्मधु । सुरायां सिच्यमानायां यत्तत्र मधु तन्मयि" (अथ० ९।१।१६,१७,१८) "मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् । वाचा वदामि मधुमद्भूयासं मधुसंदृशः ॥" (अथ० १।३४।३) "मधु जनिषीय मधु वंशिषीय" (अथ०९।१।१४) इत्यादिर्मधुविद्या हि मानवोपयोगिषु सर्वेष्वेव धर्माङ्गेषु रुचिं रचयति । मधुमत्त्वं कल्याणकामैः स्वेष्वानेयमित्युक्त्वा तत्रैव "ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम्"(अथ०९।१।२२) इत्युत्तरार्धेन सप्त मधूनि समुपदिष्टानि । पूर्वार्धेन चैतज्ज्ञानस्य फलमाह "यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति । अत्र जैमिनेरयमाशयः—भौमान् हि निखिलान्भावाननुभूयैव क्रतुभुक्त्वं भजताममृतान्धसां सप्त मधूनि प्राप्तुं न जागर्ति योग्यता । किं चानुडुत्त्वं व्रीहियवादिभवनं च तेषां न संगच्छते । न केवलं देवानां नरदेवानामपि मधुसम्पर्कं न संभवतीति शम् ॥१।३।३१॥

अपरं हेतुमुद्भावयति—

(१) गिरिषु मेघेषु अथवा गिरिषु पूज्येषु श्रेष्ठेषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु च यन्मधु माधुर्यं, सिच्यमानायां सुरायां सुखं राति ददातीतिसुरा तस्यां वारिधारायां यन्मध्वस्ति तन्मय्यस्तु ।

(२) मे मम निक्रमणमाचारो मधुमन्माधुर्यवान् भवतु । मम परायणं दूरवासो यस्मिन्कस्मिन्नपि वस्तुनि तल्लीनता वा मधुमन्मधुमती भवतु । अन्यत्स्पष्टम् ।

ज्योतिषि भावाच्च ॥१।३।३२॥

ज्योतिषि ज्योतिस्स्वरूपे परमात्मनि भावान्मनोनिवेशान्न मध्वादिविद्यासु हविर्भुजामधिकारः ॥१।३।३२॥

वादरायणमतमुपन्यस्यति—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥१।३।३३॥

तुः पक्षविभाजकः। बादरायणो देवानामपि हि मध्वादिविद्यास्वधिकारं मन्यते। अस्ति हि। देवानामपि मधुविद्यातो ग्रहीतव्यं किञ्चिदस्त्येव। न हि सर्वे देवा ज्योतिर्द्योतितान्तःकरणाः। श्रूयन्ते तेषामपि कषायाः। तेपि रागिणः। तेपि कामिनः। अतो "मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमद्भूयासं मधुसंदृशः" इत्यादिमधुमत्त्वं तेषामप्यपेक्षितमेव। हिर्हेतौ ॥१।३।३३॥

ननु "विद्वान्सो हि देवाः" इति शतपथकथनानुमन्थनाद्विद्वांसोपि देवाः। न हि वर्णांगमवन्तोत्र देवत्वेन विवक्षिताः। ब्रह्मज्ञानवन्तो हि देवाः। तेषामप्यत्राधिकारविचारः कर्तव्यः। आप्तकामानां विदुषां नास्ति किञ्चिदधिजिगमिषितं न वा निराचिकीर्षितमतो नास्ति तेषां तत्राधिकार इति मन्वानं प्रत्याह—

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥ ॥१।३।३४॥

वादरायणमतमेव द्रढयितुमस्य प्रसङ्गस्यावतारः। प्रसङ्गोयं ताण्ड्यमहाब्राह्मणे छान्दोग्योपनिषदि समुपारूढः। जानश्रुतिः

पौत्रायणः कश्चनोदारोनपेक्षितद्रविणदारागारो वदान्यः क्षत्रिय आसीत्। कस्यांचित्रियामायां प्रासादतले कस्मिंश्चिदहश्येवकाशे शयानस्तत्र विशिश्रमिषया समागतेषु हंसेष्वेकेन कीर्त्यमानां स्वां कीर्तिं शुश्राव । अपरेण च केनापि मरालेनाविज्ञातजानश्रुतिपौत्रायणमाहात्म्येन विदितरैक्वमाहात्म्येन च जानश्रुतिः पौत्रायणोपमेने । आदृतधर्मादरस्य तस्य स्वानादरश्रवणेन शुगुत्पेदे । स तस्याः शुचः परिजिहीर्षया क्षत्रा मार्गयित्वा च रैक्वमुपदुद्रावेत्यौपनिषदी गाथा । तामेवाश्रित्य बादरायणः समाधत्ते । तदनादरश्रवणान्मरालकृतानादरश्रवणादस्य जानश्रुतेः पौत्रायणस्य शुगुत्पन्ना । तदाद्रवणात् तया शुचाद्रवणाद्गमनाद्रैक्वसमीपे । सूच्यते हि निश्चितं प्रतीयते । किं प्रतीयते ? विदुषामपि शुचा सन्तप्तमानसजुषां शोकसंमार्जनसमर्थामर्थ्यां काञ्चन विद्यां ग्रहीतुमुपव्रजनं हि तद्विद्यावतां सन्निधान इति ॥१।३।३४॥

अपरोप्ययं हेतुः—

क्षत्त्रियत्वावगतेश्च ॥१।३।३५॥

जानश्रुतौ पौत्रायणे क्षत्त्रियत्वस्यावगतिरपि भवति। गमनं हि वर्णाश्रमाभिमानस्य विद्यायाः फलम् । तस्य त्वहं क्षत्त्रियोस्मीति नरपतिरस्मीति गर्वोखर्वो बभूव । न हि विद्वत्त्वं क्षत्त्रियत्वं च सामानाधिकरण्यं भजेयाताम् । एतादृशामर्धविदुषामस्त्येव मध्वादिष्वधिकारः ॥१।३।३५॥

कथमवगतं जानश्रुतेः पौत्राणयस्य क्षत्त्रियत्वमित्याह—

उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥१।३।३६॥

उत्तरत्रास्मिन्नेव प्रकरणेऽव्यवहितोत्तरमेव गीताविगीता कापेयगाथा । तत्र चैत्ररथः क्षत्रियः "एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन् ॥ (ताण्ड्य०२०।१२) इति ब्राह्मणप्रमाणेन कर्माधिकारी क्षत्रियत्वेनैवासीच्चैत्ररथः । समानप्रकरणसंकीर्तनाद् धनकन्यादिप्रदानपुरस्सरविद्याग्रहणरूपक्षत्रियलिङ्गाच्च जानश्रुतिः पौत्रायणोपि क्षत्रिय एवासीदिति ॥१।३।३६॥

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥१।३।३७॥

परामर्शो विवेकः । संस्कारस्य परामर्शः संस्कारपरामर्शः । संस्कारविवेक इतियावत् । संस्कारस्य विवेकः कर्तव्यः । नास्ति यदि कस्मिंश्चिद्विदुषि मानापमानजनितहर्षशोकविगती रतिश्च भवति कञ्चनकामिनीकामेष्ववश्यं हि तेन "यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जति०" इतिमधुविद्यासेवनीया । जानश्रुतेः पौत्रायणस्य संस्कारपरामर्शात्, तदभावाभिलापाच्च विद्वद्धर्माभावस्याभिलापादुपवर्णनाच्च विद्याग्रहणेधिकारो दृष्टः ॥१।३।३७॥

अपरोयं हेतुः—

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥१।३।३८॥

तदभावस्य वैराग्यसंस्काराभावस्य निर्धारणे निर्भ्रमज्ञानार्जने प्रवृत्ते रैक्वस्येतिभावः । पूर्वमानीतानि गोनिष्कादिद्रव्याणि शूद्रेति तिरस्कृत्य प्रत्याख्यातानि रैक्वेण । पुनरप्यानीतानि तान्येव दुहित्रा सह तेन रैक्वाय ग्रहीतुं तदुपासितां

विद्याम् । तत्परीक्षण एव प्रवृत्तो रैक्वः । यदि जानश्रुतिर्वैराग्यवान् स्यान्न स्यात्तस्य प्रवृत्तिर्द्रविणानयने रमणीचरणानयने वा । आत्मसमर्पणेनैव गृहीता भवेद्रैक्वविद्या । तथा तु न समपद्यत । अतो निश्चिकाय रैक्वस्तं स्वोपासितविद्याधिकारीति ॥१।३।३८॥

ननु कथं रैक्वः स्वोपासितां संवर्गविद्यामेव तस्मै प्रदाय कार्तार्थ्यं गतमात्मानं मेने ? कथं नानुग्रहाधीनो भूत्वा मुख्यामात्मविद्यां परमात्मप्रवणां सर्वक्लेशकायापसारिणीं हर्षशोकमोहादिसंहारिणीं च तस्मा उपदिदेशेति संशयानं प्रत्याह—

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥१।३।३९॥

सज्जीभूते हि क्षेत्रे बीजवापो लाभाय फलाय च भवति । यावत्कश्चिदहन्ताममतालतासंवलितान्तरात्मैवावतिष्ठते न वा कामयते कान्ताया विरक्ततायां मृणालकान्तबाहुलतासम्पादितात्मकण्ठपाशं न वा व्यथते चिरपरिचितपरमेश्वराविदितानेहःसमाहृतविरहव्यथया तावत्तस्य वेदश्रवणरूपार्थस्य वेदाध्ययनरूपार्थस्य च प्रतिषेधः । तथाहि "यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् । यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥" (निरु० नै० २।१।४) इति प्रमत्ताय ब्रह्मचर्यानुपपन्नाय विद्या न वक्तव्येति श्रवणनिषेधः। प्रमत्तश्च परमात्मपदवीप्रपदनप्रमादवान् । स्मृतेश्च। स्मृतावपि विवेकिनो मनुष्यस्य विद्वदुचितज्ञानमार्गेऽधिकारो नेतरस्य। तथाहि—"विद्य-

यैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना । आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥" "विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् । असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥" "यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम् । तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥" (मनु०२।११३-११५) इत्यादि ।

अत्र तावदन्याप्यौचित्यमावहन्ती चर्चा चर्चनीया । श्रीशङ्कराचार्याः श्रीरामानुजाचार्या अन्ये चापि ततः परस्तात्समायाता आचार्या अत्र शुगस्य तदनादरश्रवणादित आरभ्य श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधादिति यावदपशूद्राधिकरणं मेनिरे । श्रीशङ्करस्वामिनोपशूद्राधिकरणं प्रारभमाणा ब्रुवते "यथा मनुष्याधिकारनियममपोह्य देवादीनामपि विद्यास्वधिकार उक्तस्तथैव द्विजात्यधिकारनियमापवादेन शूद्रस्याप्यधिकारः स्यादित्येतामाशङ्कां निवर्तयितुमिदमधिकरणमारभ्यत इति । अत्र तावद्बहु वक्तव्यम् । तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् (१।३।२६) इत्यनेन सूत्रेण मनुष्यातिरिक्तस्यापि ब्रह्मध्यानाधिकारः समर्थितो बादरायणेन । तत्र तदुपरीति शब्दो निपतितः । कमर्थमादाय भगवता सूत्रकारेण स इहोपस्थापित इत्यनिश्चितमेव । अत एवान्ते सम्भवादित्याह । उपशब्दस्य बहुधा प्रवृत्तिः । "उपर्यध्यधसः सामीप्ये" (पाणि०८।१।७) इतिपाणिनिस्मृतेः सामीप्यमप्यर्थः । उपरि चन्द्रमा इत्यत्रोर्ध्वप्रदेशोर्थः । उपरि शिरसो मुकुटं धारयतीत्यादौ केवलं शिरसो बाह्यप्रदेशे विश्राम्यति । दन्तस्योपरि रक्तिमेत्यादावपि दन्तरूपाधारं समर्पयति । "तदु-

परि किं जातमिति न जानीमहे" इत्यत्र पाश्चात्त्यं कालं बोधयति। आनन्तर्यमित्यर्थः। श्रैष्ठ्येपि। सर्वोपर्ययमित्यादौ। नायमेतस्मादुपरीत्यादौ भेदमप्यवगमयतीति। प्रसिद्धतयोपरिशब्दस्य श्रैष्ठ्यार्थ एव वृत्तिः कल्प्यताम्। एवं च तदुपरीत्यस्य मनुष्येभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः। मनुष्येभ्यः श्रेष्ठः कश्चन देवादिर्ब्रह्मध्यानाधिकारार्हः स्यान्नवेति विवादाक्रान्तम्। न हि कश्चन ब्रह्म ध्यायन्देवो दृष्टः। यदि तथा कल्प्यते तर्हीदं वक्तव्यं शूद्रस्येव देवस्यापि वेदाध्ययनं नास्ति, उपनयन संस्काराभावात्; कथं तर्हि ब्रह्मध्यानाधिकारे देवप्रवृत्तिः? यद्यनुपनीतो देवो वेदमध्येतुं शक्नोति किमपराद्धं तर्हि शूद्रेण। ब्रह्मपादजातत्वमेवापराध इति चेन्न। सुरनरादिभिः सकलैरेव ब्रह्मपादस्यार्चनीयतया निरपराधत्वाद्ब्रह्मपादस्य तज्जेपि निरपराधत्वं निर्बाधम्। शूद्रो यज्ञेनवक्लृप्त इति वचनेन मा भूद्यज्ञे तस्याधिकारो ब्रह्मध्याने कुतो न? न च ब्रह्मध्यानस्य वेदाध्ययनपूर्वकत्वाद्वेदाध्ययनस्य चोपनयनपूर्वकत्वाच्छूद्रस्य चोपनयनाभावान्नाधिकार इति पूर्वमेवोक्तमितिवाच्यम्। अनुपनीतस्य देवस्य यथा वेदाध्ययनं तथैव शूद्रस्यापीतिसमाहितत्वात्। यच्च शूद्रो यज्ञेनवक्लृप्त इति तन्न्यायपूर्वकत्वाद्विद्यायामप्यनवक्लृप्तत्वं द्योतयतीत्युक्तं तन्न समीचीनम्। यज्ञो हि कर्म। अदृढा हि सा नौः कर्मरूपापारसंसारात्पारं नेतुम्। ज्ञानं चोदीयमानमेव सर्वाविद्यान्धतमसं निर्गलितशवसं करोति। महदन्तरं हि ज्ञानकर्मणोः। कथं ज्ञानमार्गाचार्यः कर्मप्रयुक्तं न्यायं ज्ञाने योज-

यतीति नाववोद्धव्यम्। किं चास्मिन्प्रकरणे शूद्रशब्दो न कुत्रापि श्रूयते। कथं तर्ह्येतादृशं हास्यास्पदं सर्वैस्तिरस्करणीयमधिकरणं रचयितुं स प्रवृत्त इति को वेद। मीमांसादर्शने षष्ठाध्याये प्रथमे पादे सप्तममपशूद्राधिकरणं प्रस्तुवता जैमिनिना तु नान्याय्य-माचरितम्। अवश्यं कर्माणि नियताधिकाराण्येव। न हि सर्वः सर्वं कर्म कर्तुं पारयेत्। ज्ञाने तु न तथा निर्बन्धो भवितुमर्हति। यस्याज्ञानलेशो यस्मिन्नेव काले प्रयायादुपशमं तस्मिन्नेव काले तत्रोदियाज्ज्ञानप्रभा। कस्तां निर्वापयितुं शक्नुयात्?

किं च, कस्तावद्वेदाधिकारीति वेदेनैव वक्तव्यम्। तत्र तु न कुत्रापि संकेतेनापि निवारितोधिकारः शूद्राणाम्। प्रत्युत "यथेमां वाचं कल्याणीमा वदानि जनेभ्य०" इत्यस्मिन्मन्त्रे सर्वाधिकारा परमाप्ता परमात्मवाणीत्येवोपदिष्टम्। ब्राह्मणानि तदधिकारं निवारयन्ति चेन्निवारयन्तु नाम। किं तेन। कर्ममार्गप्रवर्तकान्येव तानि। कर्ममार्गे हि तेषां शासनं नान्यत्र। कात्यायनेनापि "फल-युक्तानि कर्माणि" ॥२॥ सर्वेषामविशेषात् ॥३॥ मनुष्याणां वारम्भसामर्थ्यात् ॥४॥ अङ्गहीनाश्रोत्रियषण्ढशूद्रवर्जम् ॥५॥" इत्यादिसूत्रयता परिभाषाध्याये कर्मण्येव नाधिकारस्तेषामिति स्पष्टमुद्घोष्यते। अवशिष्टस्तु धर्मसूत्रकारो गौतमः। कोयं गौतमः कदा बभूवेति न निश्चितम्। इदं तु विज्ञायते मीमांसादर्शनभा-ष्यकारश्रीशवरस्वामिसमये नासीदयं गौतमग्रन्थः। यद्यभविष्य-दवश्यं स एतद्वचनमुदाहरिष्यत्। अपशूद्राधिकरणे न स कुत्राप्ये-नमस्मार्षीत्। शङ्करसमये त्वासीदेव। कात्यायनसूत्रभाष्यकार-

कर्काचार्यसमयेप्यासीदेवायं ग्रन्थः । अतः पूर्वं, "शूद्रो यज्ञे-नवक्लृप्तः" इत्यतः पूर्वं च का व्यवस्थासीद्वेदानामध्ययनाध्या-पनयोरिति मीमांस्यम् । ऋग्वेदस्य प्रथममण्डले षोडशाधिकैक-शततमस्य सूक्तस्यर्षिः कक्षीवानस्ति । स चोशिक्संज्ञायाम-ङ्गराजस्य महिष्यां दास्यां दीर्घतमसोत्पादितः । नवममण्डलेपि चतुस्सप्ततितमस्य सूक्तस्य स एवर्षिः । तस्यैव पुत्रस्तद्गोत्रोत्पन्नो वा शबरोपि दशममण्डल एकोनसप्तत्यधिकैकशततमस्य सूक्त-स्यर्षिः । कक्षीवत एव पुत्री घोषापि दशममण्डले बहूनां मन्त्रा-णामृषिका । अतः परमगस्त्यस्वसा, अदितिः, इन्द्रस्नुषा, गोधा, नदी, यमी, शश्वती, सरमा, सूर्या, उर्वशी, आत्रेयी, इन्द्राणी, शिखण्डिनीत्यादयो ब्रह्मवादिन्य ऋषिका अप्यृग्वेदे दृश्यन्ते । एतेन "स्त्रीशूद्रौ नाधीयीयाताम्" इति वचनमपि समाहितं भवति । ऋणञ्चयनहुषादयः क्षत्रिया अपि वेदर्षयः सन्ति । वैश्या अपि भवेयुः । नैकस्य सञ्चिता सम्पत्तिर्वेदाः । सर्वेषां हि ते । कथं तर्ह्येकेनैव भोक्तव्याः ? एवं च कर्मिणामेवालये तिष्ठत्वयं विचारः कर्मसु कोधिकर्तव्य इति । ब्रह्मध्याने तु सर्वेषामधि-कारः । वेदाध्ययनेपि सर्वेषामधिकारः । गोतमवचनं त्ववैदिक-मेव यथा तथोपरि साधितम् । "समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् । समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः" (ऋ०१०।१९१।३) इत्यन्तिममण्डलस्यान्तिमसूक्तस्योपान्त्येन मन्त्रेण सर्वेषां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां समानमन्त्रत्वोपपादन-मपि वेदानां सर्वाधिकारत्वं समर्थते ।

एवं च सिद्धं सर्व एव निषेधाः कर्माण्युद्दिश्य प्रवर्तन्त इति। गोतमवचनमवैदिकत्वान्नादर्तव्यम्। न चात्र व्यासदर्शनेऽपशूद्राधिकरणम्। गोतमवचनादेव तस्य साधनीयतया गोतमस्य च वैयासिककालभिन्नकालतया तदाश्रयोस्मिन्दर्शने न कथञ्चिद्घटतेतमाम् ॥१।३।३९॥ इति प्रमिताधिकरणे मध्वाद्यधिकरणम् ॥३॥ [६]॥

(अथ प्रमिताधिकरणे कम्पनाधिकरणम् ॥४॥ [६])

नातीवावश्यकीमानुपङ्गिकीं ब्रह्मध्यानाधिकारचर्चां समर्च्य प्रस्तुतमाह—

कम्पनात् ॥१।३।४०॥

ननु कस्य साध्यस्यायं हेतुः? हृद्यपेक्षयैव परमात्मनो दशाङ्गुलत्वं स्वतस्तु सर्वव्यापकत्वमत एव विभुत्वमिति प्रक्रान्तम्। तत्रैवायं हेतुः। "सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मे रुजन्मृणन्प्रमृणन्प्रेहि शत्रून्। उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकजत्वम् ॥ (अथ०४।३१।३) "तव व्रते निविशन्ते जनासः"

(१) हे मन्यो मन्युस्वरूप! अस्मे अस्माकमभिमातिं शत्रुं सहस्व पराभव। किं च रुजन् भञ्जन्। मृणन् हिंसन्। मृण हिंसायाम्। प्रमृणन् अतिशयेन हिंसंश्च शत्रून् प्रेहि शत्रुषु पराक्रमस्व। ते तवोग्रं पाजो बलं ननु अवश्यमेव आ रुरुध्रे शत्रूनारुन्धीत। हे एकज अद्वितीय परमात्मन्, त्वं वशी असि अतो वशं नयासै शत्रून् वशं कर्तुं शक्नोषि।

(२) तव व्रते कर्मणि नियोगे जनासो जना निविशन्ते प्रविशन्ति। तवाज्ञां पालयन्तीत्यर्थः।

(अथ०४।२५।३) [1]"यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।" (ऋ०१०।१२१।६; शु०य०३२।७) [2]"द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।" (अथ० २०।३४।१४) [3]"रेजन्ते भुवनानि विश्वा।" (अथ०२०।३४।१७) [4]अस्येदु भिया गिरयश्च दृढा द्यावा च भूमा [5]जनुषस्तुजेते।" (अथ०२०।३५।१४) [6]"त्वद्भिया विश आयन्नसिक्नीः" (ऋ०७।५।३) "यस्य शुष्माद्रोदसी [7]अभ्यसेताम्" (ऋ०२।१२।१) इत्यादिषु मन्त्रेषु तस्य भिया सर्वकम्पनप्रदर्शनान्न तद्दशाङ्गुलप्रमाणमत्यल्पं वस्तु ॥१।३।४०॥ इतिप्रमिताधिकरणे कम्पनाधिकरणम्॥४॥[६]॥ इतिप्रमिताधिकरणम् ॥६

(अथज्योतिरधिकरणम् ॥७॥)

पुनरपि ब्रह्मस्वरूपं लक्षयति—

ज्योतिर्दर्शनात् ॥१।३।४१॥

"शुक्रोसि भ्राजोसि स्वरसि ज्योतिरसि" (अथ०।२।

---

(१) क्रन्दसी द्यावापृथिव्यौ अवसा रक्षणेन तस्तभाने स्थिरे। रेजमाने कम्पमाने च मनसा चेतसा बुद्ध्या वा यमभ्यैक्षेतां यमभिपश्यतः।

(२) द्यावा द्युलोकः पृथिवी चिद् भूलोकश्चापि अस्मै परमात्मने नमेते, अस्य चित् परमात्मन एव शुष्माद्बलात् पर्वता भयन्ते बिभ्यति।

(३) विश्वा विश्वानि भुवनानि रेजन्ते कम्पन्ते।

(४) यस्य इत् उ इति च्छेदः।

(५) जनुषो जनुष्मन्तस्तुजेते कम्पन्ते।

(६) त्वद्भिया असिक्नीरसितन्यः कृष्णा विशः प्रजा आयन्वशमितिशेषः।

(७) बिभ्यतः।

११।५॥ "दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम्" (अथ०४।१५। ३) "देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्" (शु०य०) इत्यादिषु ज्योतिस्स्वरूपत्वप्रतिपादनाज्ज्योतिस्स्वरूपं हि तद्ब्रह्म। न चाग्निसूर्यचन्द्रादीनामेव ज्योतिःस्वरूपब्रह्मत्वं शङ्क्यम्। "ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित् ॥ (शु०य०५। ३५) इत्यनेन तस्य विश्वरूपतायाः सर्वदेवसमित्त्वस्य च प्रतिपादनात्। समित्त्वं प्रकाशकत्वम्। समिन्धे समिन्धयतीति वा समित्। इन्धी दीप्तौ ॥१।३।४१॥

ज्योतिस्स्वरूपतां ब्रह्मणः प्रतिपाद्य सर्वरूपतां तस्याह—

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥१।३।४२॥

स परमात्माकाशः। आ समन्तात्सर्वत्र सर्वरूपेण काशते प्रकाशत इत्याकाशः। "वहुधा विजायते" इति हि वेदोपदेशः। एवं च द्यावापृथिव्योस्तदन्तराले च यत्किञ्चित्प्रतीयते सर्वं तत्तस्यैव स्वरूपम्। अत एव स आकाशः सर्वरूपः। "बहुधा विजायते" "असि विश्वरूपम्" इत्यादीनि वेदवचनानि सर्वस्य मनुष्यमात्रस्य च ब्रह्मस्वरूपत्वमभिधाय भेदायातानि यातनासहस्राण्यपवारयन्ति। अतीव व्यामोहोद्य वेदमर्यादानभिज्ञानां तत्त्वार्थज्ञानविहीनानामयं ब्राह्मणोयं चान्त्यज इति। लूता स्वयमेव तन्तुजालं निर्मांति तत्रैव रमते तत्रैव च वन्धं प्राप्य विपीदति। एवमेवाज्ञानिनः स्वयमेवायं ब्राह्मणोयं क्षत्रियोयं वैश्योयं शूद्रोयं चान्त्यजः, अयमस्मादधिकोयं च तस्मादवरः, अयं सुखा-

दुत्पन्नोयं च पादाभ्याम् अयं स्पृश्यः स चास्पृश्य इत्येवंरूपाणि त्रिविधानि कल्पनाजालानि वितायाहङ्कारमहाग्राहगृहीता असदपि सदेव जानानाः सदपि चासदेव मन्वाना महापद्धतीयां पतिता विषीदन्ति । न जागर्ति तेषां ज्ञानभानुः । न हि चरति विचारचारिमा हृदये च तेषाम् । अविद्याभारावनतेषु न तेषु समुद्भवति मानवस्वभावसुलभः स्नेहः स्वधर्मबन्धुषु । हन्त ! दुरन्ते माये नाद्यापि विरमसि विलासलासभूमेः ? धिक्त्वा क्रूरां मनुनयसंगतसंहारिणीम् । सत्यप्येकस्मिंस्तस्मिन्नर्थान्तरत्वव्यपदेशोनुभूयते ततः स आकाशः कृतशतविधरूपप्रकाश इत्यर्थः ॥ १।३।४२॥

जीवोपि ज्योतिराकाशो वा भवितुमर्हति न वेत्याह—

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥१।३।४३॥

सुषुप्तिः स्वापः । उत्क्रान्तिर्जागृतिः । उभयोरेवानयोरवस्थयोर्भेदेनोभयोर्जीवब्रह्मणोर्व्यवहारो दृश्यते । अतो न जीवो ज्योतिस्स्वरूपो बहुरूपो वा । अयमाशयः । श्रूयते हि "यो नः सुप्ताज्जाग्रतो वाभि दासात्तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः । वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान् प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥" (अथ०७।१०८।२) इति । "सुप्तानां जाग्रतां वास्माकं यो द्रोग्धा तं निर्दह हे परमात्मन् ज्ञानवन्" इति प्रार्थयमानानां जीवानां भेदेन व्यवहारोत्र दृश्यते । रक्ष्यरक्षकभावो हि भेदमावहति । यस्य जागरितावस्थायां सुषुप्तावस्थायां च सततं भीर्वा-

धते मनः कथं सज्योतिस्स्वरूपः स्वसामर्थ्येन बहुरूपो वा भवितुमर्हति ? ॥१।३।४३॥

ज्योतिस्स्वरूपबहुरूपादिशब्दप्रख्यापितं ब्रह्म जीवादर्थान्तरभूतमेवेति स्थापयितुमत्रान्तिमं हेतुं सञ्चारयति—

पत्यादिशब्देभ्यः ॥१।३।४४॥

इति श्रीमद्रामसन्त्राचार्य्यैः श्रीमद्व्यासमहर्षिभिः प्रणीते वेदान्तदर्शने प्रथमाध्याये तृतीयः पादः



पतिरादिर्येषां ते पत्यादयः। ते च ते शब्दाश्च पत्यादिशब्दास्तेभ्यः। परमात्मानमुद्दिश्य बहुशो हि पत्यादिशब्दाः प्रयुक्ताः। तेभ्योपि हेतुभूतेभ्यो विज्ञायतेर्थान्तरभूतमेव ब्रह्म-जीवेभ्यः। के ते पत्यादिशब्दाः ? श्रूयन्ताम्। "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" (ऋ० १०।१२१।१) "उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा०" (अथ० ४।३१।३) "य आत्मदा बलदा" (ऋ० १०।१२१।२) "न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते" (ऋ० ७।३२।२३) "ईशानमस्य जगतः" (ऋ० १०।११४।२) "मातेव यद्भरसे पप्रथानो जनंजनं धायसे चक्षसे च। वयोवयो जरसे यद् दधानः परि त्मना विषुरूपो जिगासि ॥" (ऋ०५।१५।४) इत्यादयः। अत्रोक्ता अर्था न जीवेषु संभवन्तीति जीवब्रह्मणोर्भेद एव। सोयं भेदो नित्य एवेतिवैदिकसिद्धान्तः। तथा हि, "कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्य-

वत्साम् । बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥" (अथ० ७।१०४।१) इत्यस्य मन्त्रस्यायमर्थः—वरुणेन वरणीयेन परमात्मनाथर्वणे विनाशरहिताय जीवाय दत्तां धेनुं कामप्रदां सुदुघां नित्यवत्सां नित्यो वत्सो वत्सवल्लालनीयो जीवो यस्य तां पृश्निं दिवादित्यादिरूपां प्रकृतिं प्रकृतिजां तनुं च जुषाणः सेवमानो बृहस्पतिना परमात्मना सख्यं च जुषाणो यथावशं यथेच्छं तन्वः तनूः कल्पयाति कल्पयतीति । अत्र त्रीणि तत्त्वान्युपदिष्टानि । प्रथमम्, इदं शरीरं भुज्यमानं परमात्मनैव जीवाय दत्तमिति । द्वितीयम्, अस्य शरीरस्य वत्सः शरीरस्थितो जीवो नित्य इति । तृतीयम्—' ब्रह्मसाहचर्यं प्राप्य कृतकृत्यः स यथेच्छया शरीरं कल्पयति स्थापयति धारयतीतिभावः । परमात्मभक्तिमनुभवन्हि सर्वदा तिष्ठति चेत् स्वेच्छया शरीरं दधाति जहाति चेति ॥१।३।४४॥ इति ज्योतिरधिकरणम् ॥७॥

इति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र—परमहंसपरिव्राजक—स्वामिश्रीभगवदाचार्यमहाराजैः प्रणीते वेदान्तदर्शन—वैदिकभाष्ये प्रथमेध्याये तृतीयः पादः

प्रथमेध्याये चतुर्थः पादः

नमोस्तु गुरुदेवाय विद्वद्भिर्वन्दिताङ्घ्रये ।
सर्वविद्यामहीपाय परमात्मस्वरूपिणे ॥१॥

(अथानुमानिकाधिकरणम् ॥१॥)

प्रतिपादितं श्रौतं ब्रह्म । इदानीमानुमानिकेन गौणेन मानेन सिद्धं भगवतः कपिलस्याभिमतं ब्रह्म प्रत्याख्यातुमाह—

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥१।४।१॥

एकेषां वेदानुयायिनामेव मत आनुमानिकं कपिलानुकल्पितं प्रधानमेव ब्रह्मेति चेत् । न । कुतः ? शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः । अशरीरिणोपि परमात्मनः शरीरूपकेण विन्यस्तस्य प्रदर्शितस्य गृहीतेः । तथाहि, "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" इत्यादिना मुखाद्यवयवशून्यस्यापि तस्य मुखहस्तोरुपादादयो रूपकालङ्कारेण प्रदर्श्यन्ते । मनो अस्या अन आसीद्यौः" इत्यादिनापि मनआदिकानि कल्प्यन्ते । "यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्" इत्यादिनाप्युदरमूर्धादीनां कल्पना । "यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः[1] ।" इत्यादिनापि चक्षुरास्यादीनां कल्पना । "अनड्वान्दुहे सुकृतस्य लोक एनं प्याययति पवमानः पुरस्तात् । पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥" (अथ०४।११।४) इत्यत्रापि परमात्मनोनुडुच्छब्दवाच्यस्य वायवः स्तनभूताः[2] पर्जन्याः पुष्टिप्रदा धारा

(१) पुनः, नव इतिच्छेदः ।

(२) अनड्वान् विश्वरूपशकटवोढा परमेश्वर एनं जीवं पुरस्तान्मोक्षप्राप्तेः पूर्वमपि पवमानः पवित्रयन्नाप्याययति । सुकृतस्य लोके सुकृतं हि सदाचारपूर्वकपरमेश्वराज्ञानुपालनरूपभक्तिसंसेवनम् । तज्जन्ये लोके मोक्षलोकेपि

यज्ञाश्च दुग्धं दक्षिणा दोहनपात्रमित्यवयवरूपकं सर्वज्ञे सर्वसामर्थ्यसम्पन्ने परब्रह्मण्येव संगच्छते नान्यत्र। ननु यदि निरवयवे ब्रह्मण्यवयवकल्पना नान्याय्या तर्हि कथं नावयवविहीने प्रधान एव सा कल्पना योज्या ? न योज्या। अश्वो योक्तव्य इति कृत्वा न कश्चनामूढस्तं शकटस्य पाश्चात्त्ये भागे योजयति। विषमुपयोक्तव्यमिति कृत्वा न कश्चनाममत्तोमुमूर्षुश्च तदभुङ्क्ते। न हि यत्किञ्चिद्यत्र कुत्रापि योक्तव्यं नियोक्तव्यं च भवति। सर्वत्र योग्यतापेक्ष्यते। चेतनेष्वेव सुरनरगोगजादिष्ववयवा मुखाद्या भवन्ति। ते च चेतन एव कल्पनीया नाचेतने। दर्शयति च। दृशिरवबोधनेत्र। श्रुतिरपि तथैव दर्शयति। याः श्रुतयः पूर्वमुपन्यस्तास्ताः सर्वा ब्रह्मोद्दिश्यैवावयवान् कल्पयन्ति। ब्राह्मणोऽस्य मुखमित्यत्रास्येति पठितम्। अस्येत्यस्य ब्रह्मण इत्येवार्थो न तु प्रधानार्थस्तत्र कथञ्चित्फलति। एवमन्यत्रापि। ननु "अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयां छक्रो वि मिमीते अध्वनः। भूतं भविष्यद्भुवना दुहानः सर्वा

दुहे दोग्धि तर्पयति। सिद्धानुवादोयम्। पर्जन्यो वर्षणमस्य धाराः। मरुतो वायव ऊधः स्तनमण्डलम्। यज्ञ उत्कृष्टं कर्मास्य पयः। दक्षिणा उत्साह एवास्य दोहो दोहनपात्रम्।

(१) सोनड्वान विश्वशकट संचालक इन्द्रः परमात्मा पशुभ्यो ज्ञानिभ्यो भक्तेभ्यश्च वि चष्टे विविधं ज्ञानमुपदिशति। शक्रः समर्थः स त्रयांस्त्रीनध्वनो मार्गान् गतीः, ऊर्ध्वगतिं मध्यगतिमधोगतिं च वि मिमीते विशेषेण माति जानातीत्यर्थः। भूतं भूतानि भविष्यद्भविष्यन्ति च भुवना व्रतानि कर्माणि चरति संचालयति।

देवानां चरति व्रतानि ॥ (अथ०४।११।२) इत्यनेन सत्त्वरजस्तमःसाम्यरूपं प्रकृत्यपरपर्यायं प्रधानं शक्रः परमात्मा विमिमीत इति स्पष्टमेव प्रधानं जगत्कर्तृपदमारोपितमिति चेन्न । कौतस्कुतोयं सुतनुर्नवतनुश्च सम्पादितोर्थस्त्वया वेदमन्त्रस्यास्य ? भोः सर्वमत्रैव विद्यते । कामधुग्घि शब्दराशिः । अवश्यं कामधुक्त्वं शब्दानाम् । न परमत्र त्वन्मनीषितोर्थः प्रसूयते । शक्रस्त्रयानध्वनो विमिमीत इत्युक्तम् । सत्त्वरजस्तमांस्येव त्रयोध्वानः । तेषामेव साम्यावस्था प्रकृतिरित्युच्यते । प्रकृतिमेव कापिलाः प्रधानमित्याचक्षते । तस्यापि विमितिकर्तृ ब्रह्मातो न प्रधानमत्र ग्रहीतव्यम् । [1]"सतश्च योनिमसतश्च वि वः" (अथ०४।१।१) इत्यत्रापि ब्रह्मणः प्रधानयोनित्वं प्रतिपादितम् ॥१।४।१॥

ननु सूक्ष्मं हि ब्रह्मेतिसिद्धान्तः । वेदवैदिकावेदितं ब्रह्म तु बृंहणाद्बृहत्वाद्वा मंहिष्ठमेव स्यान्नत्वणिष्ठम् । प्रधानं तु निखिलानुमतं सूक्ष्ममिति । तथा च सूक्ष्मं प्रधानमेव किं न स्याद्ब्रह्मेति सामञ्जस्यं सम्पादयति—

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥१।४।२॥

सत्यं बृहदेव ब्रह्म । सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्सूक्ष्मार्हत्वादित्यर्थः । अयमाशयः । अणुरणीयानणिष्ठो महान्महीयान्महिष्ठ इति षड्विधपदार्थवति जगति तस्य समव्यापकत्वं श्रुतिसदाचारसंमतम् ।

---

(१) सतः प्राणिनोसतो जडस्य च योनिमुत्पत्तिस्थानं वि वः, विवृणोति विवृतं करोति ।

न स्यात्सूक्ष्मे सूक्ष्मतरे सूक्ष्मतमे च तस्य व्यापकत्वं यदि तत्सूक्ष्मं न स्यात्। वस्तुतस्तु न विद्यते तस्मिन्सूक्ष्मत्वं बृहत्त्वं वा। सूक्ष्मत्वबृहत्त्वादयो धर्मा भौतिकेषु वस्तुषु सन्ति। तत्तद्वस्तुनि व्यापकतया तत्तत्सूक्ष्मत्वं बृहत्त्वं वोपचर्यते तस्मिन् ॥१।४।२॥

सर्वेषां पदार्थानां प्रधानसहितानां तदधीनत्वं बोधयितुमाह—

तदधीनत्वादर्थवत् ॥१।४।३॥

सर्वेषां पदार्थानां तदधीनत्वाद्ब्रह्माधीनत्वादर्थवत्तदिति सूत्रार्थः। "स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत्" (ऋ०१०।९०।१) "उतामृतत्वस्येशानः" (ऋ०१०।९०।२) ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि" (ऋ०१०।९०।४) "ईशान इमा भुवनानि ईयसे" (साम०उ०३।अर्ध०२।१) इतिश्रुतिवचनैः सर्वे हि पदार्थास्तदधीना इति गम्यते। अत एव तस्यार्थवन्नाम। ईष्टे इति ईशानः। सर्वेषां स परमात्मेष्टेतो डित्थकपित्थादिवन्न नैरर्थक्यं तन्नाम्नि ॥१।४।३॥

इतोपि न प्रधानं ब्रह्म—

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥१।४।४॥

ज्ञेयं हि ब्रह्म भवति। तज्ज्ञानादेवाविज्ञातकालतः प्रवृत्तानां सर्वक्लेशलेशानामवसानमितिवैदिकः पन्थाः। "यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति" (ऋ०९।१०।१८) इति हि वेदोपालम्भमुखेन ब्रह्मणो ज्ञेयत्वं सर्वेषां ज्ञानं संनिधत्ते। न तथैव प्रधानस्य ज्ञेयत्ववचनमुपलभ्यते। न च "संभूतिं च विनाशं च

यस्तद्वेदोभयं सह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥" (शु०य०४०।११) इत्यनेन संभूतिवेदनमुपदिश्यत एवेति वाच्यम्। अत्र संभूतिपदेनानुभवारूढभवसंभवैकहेतोः परमात्मन एव वचनात्। न च जगत्सम्भवस्य परमात्मनि कारणत्वस्वीकारे जन्यजनकभावभावनीयत्वस्यानिवार्यतया भेदवादोत्थितिरिति वाच्यम्। इष्टापत्तेः। विभवनस्य संभवनस्य चोभयोरपि वेदेषु प्रसिद्धतया नैकतरस्यैव हानोपादानयोः वृत्तिप्रवृत्ती संभवेतां संभावितानां तटस्थानां विवेकिनाम्। न च प्रधानाज्जायमानानां पदार्थानां विनाशित्वदर्शनाद्विनाशसहचारेण संभूतिपदेन प्रधानस्यैव ग्रहणस्यौचित्यमिति वाच्यम्। ब्रह्मज्ञानादिव प्रधानज्ञानान्मुक्तेरप्रतिपादनात्। "ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रता" इतिविनाशश्रवणाच्च। समीहितलाभायैव प्रवृत्तिः प्राणिनां दृश्यते। न च विनाशः समीहितः। इत्यलमतिप्रसङ्गेन ॥१।४।४॥

पूर्वपक्षिण उत्तरमाक्षिप्य परिहरति—

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥१।४।५॥

कपिल आह प्रधानस्य ज्ञेयत्वं वदत्येव श्रुतिरिति। का सा श्रुतिस्तद्वादिनी ? उच्यते। "इयं पित्र्या राष्ट्र्येत्वग्रे प्रथमाय जनुषे भुवनेष्ठाः। तस्मा एतं सुरुचं ह्वारमह्यं धर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय धास्यवे ॥" (अथ०४।१।२) इति। पित्र्या पितुरुत्पन्नेयं राष्ट्री शोभमाना प्रकृतिः प्रथमाय जनुषे जनिमते महत्तत्त्वाय भुवनेस्मिञ्जगति स्था अस्तीति श्रुतिपूर्वार्धेन प्रकीर्ति-

तैव। तस्या एव प्रथमो जनिमान्महान्। "प्रकृतेर्महान्" इति-कापिलस्मृतेः। "स हि देवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत्। महान्मही अस्कभायद्विजातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः॥" (अथ०४।१।४) इत्यस्मिन्मन्त्रे "स हि महान्" इतिप्रकृतेः प्रथमजनिमतो महत एव निर्देशः। "प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति॥" (अथ० ४।१।३) इत्यस्य योस्य महतो महत्तत्त्वस्य बन्धुः सम्बन्धी पुत्र इति यावत्, प्रजज्ञेहङ्कार उत्पन्नवान्, तस्याहङ्कारस्य विद्वान्, विश्वेषां देवानामिन्द्रियाणां जनिम जन्म विवक्ति स्पष्टतः कथयतीत्यक्षरार्थः। प्रकृतेः प्रथमः पुत्रो महान्। महतः पुत्रोहङ्कारः। स एव बन्धुशब्देनेहाभिहितः। तस्य विद्वान्, तमहङ्कारं यो विजानाति स सर्वेषामिन्द्रियाणां जन्म स्पष्टतो जानाति। अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राण्युत्पन्नानीन्द्रियरूपान्देवाञ्ज-नयन्तीति तस्य विद्वानेव जानाति। "योथर्वाणं पितरं देवं बन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्" (अथ०४।१।७) इत्यस्मिन्मन्त्रेपि देवानामिन्द्रियाणां बन्धुत्वसम्पादकानि पञ्चत-न्मात्राण्येवाभिहितानि। तेषां पितरमथर्वाणमविनाशिनं प्रधान-मिति यावत्, यो नमसा अव गच्छात् इत्यादिरूपेण तद्वेदन-मावेदितमेव। यद्यप्यत्र तन्मात्राणां पिताहङ्कार एव, परं नासावथर्वा। सर्गावसर एव स जायते विनङ्क्ष्यतश्च जगतः पूर्वमेव विनश्यति। अतोथर्वेतिनिर्देशेनाविनाशी पिता तु प्रधानमेव। तदेवाजापदवाच्यम्। अजामेकां लोहितशुक्ल-

कृष्णाम्" इति तैत्तिरीयारण्यकवचनात् । न जायत इत्यजा । प्रथमविकारनिषेधः । जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति षड्विकारान्वार्ष्यायणिर्मन्यते । प्रथमविकार-निषेधात्तदुपजीवकसर्वविकारनिषेधः । एवं च प्रधानस्यैवाथर्व-पितृत्वं न तद्विकारस्य महत्तत्त्वस्येति । एवं च "विद्वान्" "नमसाव च गच्छात्" इत्यादिना प्रधानस्य ज्ञेयत्वं वदति श्रुतिरिति चेन्न । कुतः ? प्राज्ञो हि प्रकरणात् । हिरेवार्थे । प्रक-रणपर्यालोचनात्तत्र प्रतिपादितो ज्ञेयः प्राज्ञ एव परमात्मैवे-त्यर्थः । एवं हि तत्प्रकरणपर्यालोचना । "ब्रह्म जज्ञानम्" इति मन्त्रे चरमभागे सतश्चासतश्च मूलकारणाववोधनं विहितम् । असतो जडस्य मूलकारणं भवतु नाम कथंचित्प्रधानम् ; कथं तु तद्भवेत्सतः कारणम् ? "ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार" (अथ०४।१।३) इत्यपि तत्रैवोक्तो ब्रह्मणो ब्रह्मप्रकाशो जडे न संभवति । अतो न तत्प्रधानप्रतिपादकं प्रकरणम् ॥१।४।५॥

प्रकरणं स्मारयितुमाह—

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥१।४।६॥

त्रयाणामेव तत्त्वानां तत्रोपन्यासः । कानि तानि त्रीणि तत्त्वानि ? उच्यन्ते । पित्र्येत्यनेनाचित्तत्त्वमुच्यते । पितुरिय-मितिपित्र्या । अचिदपि सर्गारम्भे ब्रह्मसंकल्पाज्जायमानेव प्रतीयते कार्याय च भवति । "प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुः" इत्यनेन चित्तत्त्वं प्रतिपाद्यते । चितोऽपि नित्याः सत्योऽपि सृष्टिसमये ब्रह्मसंकल्पादेवोत्पद्यमाना इव स्थूलजगत्सम्बन्धा-

त्स्थूलत्वमुपयन्त्य इव प्रतीयन्ते। "स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्थाः" इत्यनेन परं ब्रह्मैवाभिधीयते। परमात्मैवर्तस्था भवितुमर्हति। ऋते परमसत्ये तिष्ठतीति "ऋतस्थाः"। अथवा परमसत्यः संस्तिष्ठतीत्यृतस्थाः। नैतद्विशेषणं प्रधाने कथमपि संगच्छते। न हि नित्यं परिणमत्किञ्चित्परमसत्यं भवितुमर्हति। सर्वविकारास्पृष्टत्वमेव परमसत्यत्वम्। प्रश्नश्च। प्रश्नोपि त्रयाणामेव। इयं पित्र्येत्यादिमन्त्रेषु प्रदर्शितोपदेशवचनसामर्थ्यात्तादृशा एव प्रश्नाः परिकल्पनीयाः। अथवा "बृहन्तो नाम ते देवा ये ऽसतः परिजज्ञिरे। एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः॥" (अथ० १०।७।२५) इतिमन्त्रेसच्छब्देन प्रधानमुच्यते तत एव बृहतां देवानां जनिः प्रतिपाद्यत इत्येवं पूर्वपक्षमुद्भाव्योत्तरमुच्यते त्रयाणामेवेति। त्रीणि तत्त्वान्येवात्रापि प्रतिपादितानि। असच्छब्देनाचित्, जना इत्यनेन चितः, तदङ्गमित्यत्र तच्छब्देन ब्रह्म। कथं ज्ञायते तत्र त्रयाणां तत्त्वानामुपन्यास इति? प्रश्नश्च। त्रयाणामेव प्रश्नोस्मिन्सूक्ते। "(१)यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः। असच्च यत्र सच्चान्तं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥" (अथ० १०।७।१०) इत्यादिभिर्बहुभिर्मन्त्रैस्तत्त्वत्रयसम्बद्धा एव

---

(१) यत्र जनास्तत्त्वदर्शिनो लोकान्भूर्भुवरादीन् कोशान्देहान्मानवादीन् अपांसि कर्माणि जगदुत्पादनरक्षणप्रलयनादीनि ब्रह्म वेदमृगादिकं विदुर्विदन्ति, यत्र चासज्जडजातं सदजडजातमन्तममति गच्छति प्राप्नोति तं स्कम्भं सर्वाधारभूतमद्भुतं वस्तु ब्रूहि। कतमः स्विदेव सः, स कोस्तीतितात्पर्यम्।

प्रश्ना इति प्रकारान्तरेण व्याख्येयमिदं सूत्रम् ॥१।४।६॥

पुनरपि प्रधानस्याब्रह्मत्वं प्रतिपादयति—

महद्वच्च ॥१।४।७॥

महदिवेति महद्वत् । चः समुच्चायकः । यथा "स हि दिवः" इति मन्त्रे "महान्" इतिमहच्छब्दो न सांख्याभिमतं प्रधानमभिधत्त एवं ,'बृहन्तो नाम ते देवाः" इतिमन्त्रेपि समायातोसच्छब्दो न प्रधानमभिधावति । एतावता नानुमानिकं सांख्यसमुद्भावितं प्रधानं ब्रह्मपदवीं स्प्रष्टुमपीष्टे इति साधितम् ॥१।४।७॥ इत्यानुमानिकाधिकरणम् ॥१॥

(अथ चमसाधिकरणम् ॥२॥)

प्रधानमेव प्रधानं शत्रुर्वेदान्तस्येति पुनस्तस्यैव निरासे मतिमायासयति—

चमसवदविशेषात् ॥१।४।८॥

चमसः पानपात्रं देवानाम् । "चमसो देवपान इति । चमसेन ह वा एतेन देवा भक्षयन्ति तस्मादाह चमसो देवपान इति ।" (शत० १।३।४।१४) इतिशतपथकथनात् । चमस इवेति चमसवत् । अविशेषात्=सामान्यात् । इदमत्र तत्त्वम् । एवमत्र विवदते प्रधानवादी, वेदशब्दप्रमाणप्रमाणित एवायं प्रधानवादः । तथा हि मन्त्रः, "[1]अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरु

(१) अजाजनिमती पारमेश्वरी शक्तिरेव पिशङ्गिला पिशानि रूपाणि नामानि च नामरूपात्मकं निखिलं जगदित्यर्थः, गिलतीति पिशङ्गिला ।

पिशङ्गिला । शश आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां विसर्पति ॥" (शु० य०२३।५६) इति । इतः पूर्वस्मिन्मन्त्रे "का ईमरे पिशङ्गिला" इति प्रश्नः । तदुत्तररूपेण पठितम् "अजारे पिशङ्गिला" इति । अरे, अजा पिशङ्गिलेति । किमिदं पिशङ्गिलेति ? पिशानि रूपाणि गिलति गलादधोवतारयति या सा पिशङ्गिलेति । अजाविशेषणमेतत् । पिशङ्गिलेति कारणनिर्देशः । यद्यस्मादुत्पद्यते तत्तस्मिन्नेव लीनातीतिनियमादजात उत्पन्नानि रूपाणि प्रलयावस्थायां मध्ये मध्येपि च तस्यामेव लीनानि भवन्तीति जगत्कारणीभूताजा=प्रकृतिः प्रधानमेवात्र निर्दिश्यते । ततः प्रधानवादो नाशब्द इति । समाधत्ते । चमसवदविशेषात् । यथा वेदे श्रुतश्चमसशब्दो न याज्ञिकानां चमसरूपस्य देवपानस्योपासनाप्रकरणे वाचकस्तदविशेषात्तत्सामान्यात्=तथैव नायमजाशब्दः प्रधानस्य सांख्यप्रसिद्धस्य वाचकः । न हि स्वातन्त्र्येण सर्वः शब्दः सर्वमर्थमभिधातुं समर्थः । अर्थाभिधाने प्रकरणमपेक्ष्यते । न हि भोजनावसरे सैन्धवमानयेत्युक्तोश्वमानीय कृती भवति किङ्करः । न वा बहिर्गमनावसरे तथोक्तः स लवणमानीय कौशल्यं कलयति । एवमजाशब्दोत्र न प्रधानवाचकः । कस्य तर्हि ? परस्य ब्रह्मणः सर्वादिनी मायैवात्रोच्यते । तिष्ठतु तावदिदमिदं

श्वाविच्छ्वोभाविनमर्थं वेत्तीति श्वावित्सैव शक्तिः कुरुपिशङ्गिला कृत्वा कृत्वा सर्वं गिलति । शशः शीघ्रगतिकः परमात्मास्कन्दमास्कद्यास्कद्य सर्वानेव पदार्थान्स्वायत्तीकृत्यार्षति गच्छति । अहिर्गतिशून्योपि पन्थां पन्थानं विसर्पति गच्छति । तन्माहात्म्यद्योतनार्थमिदम् ।

तु वक्तव्यं कुत्र श्रुतश्चमसशब्दः । उच्यते । [1]"न निन्दिम चमसं यो महाकुलोऽग्ने भ्रातर्द्रुण इद्भूतिमूदिम ।" (ऋ०१।१६१।१)[2] एकं चमसं चतुरः कृणोतन तद्वो देवा

(१) महाचार्येण साक्षात्कारितं परमात्मानमुद्दिश्य शिष्य आचार्यमेव पृच्छति यो नोस्मानाजगन् आगतः प्राप्तः स किमु श्रेष्ठो ज्येष्ठः किं वा यविष्ठो युवतमः ? स परमात्मा ज्येष्ठः किमित्यनेन तन्नित्यत्वजिज्ञासा । यदि स नित्यो ज्येष्ठ एव । स यविष्ठः किमित्यनेनानित्यत्वजिज्ञासा । यदि सोनित्य इदानीमेव तपोवलादिहोत्पन्नस्तर्ह्यनित्यः सन्यविष्ठ एव । आगतः स किं दूत्यं दूतकर्मयत गच्छति प्राप्स्यति । यथा दूतः कश्चिन्नयति कञ्चित्, एवं स स्वमस्मान्नेष्यतीति तदौदार्यजिज्ञासा । यद् ऊचिम ब्रूमःतत् कत् कथं निर्णेयम् ? स नित्यो वानित्यो वोदारो वानुदारो वेति कथं निर्णेतव्यम् ? यूयमद्यावधि तमात्मानं न वित्थेति न निन्दिम युष्मान्न निन्दामीत्याचार्यवचनम् । हे अग्ने हे भ्रातः प्राप्तप्रकाश वत्स ! तं चमसं सर्वभक्षकं प्रलयकर्तारं परमात्मानमूदिम वदामि कथयामि तुभ्यम् । कीदृशं चमसम् ? भूतिम् उत्पादकं सर्वेषाम् । स एवोत्पादकः स एव च विनाशको जगत इतिभावः । कीदृशः सः ? यो महाकुलः कुलीनः । अथवा महसा आकुलो महाकुलः । छान्दसः सकारलोपः । प्रकाशस्वरूप इत्यर्थः । किं च द्रुणो गतिशील इत् । नैकत्र निवसति सर्वत्र तदावासो व्यापक इत्यर्थः । यतः स परमात्मेदृशोतो युष्मत्तः श्रेष्ठोपि सर्वदाजरत्वाद्यविष्ठोपि । स च महाकुल इति स्वाभाविकेनौदार्येण त्वां युष्मान्वा स्वपदं नेष्यत्येवेतिभावः ।

(२) हे वत्साः, एकं चमसमेकमेव तं परमात्मानं चतुरः चतुःसंख्याकान् कृणोतन कुरुत जानीतेतिभावः । कथं तस्य चतुःप्रकारत्वम् ? सृष्टिकर्तृत्वेन तद्रक्षणकर्तृत्वेन तत्प्रलयकर्तृत्वेन तटस्थत्वेन चेति । तदेतदेव देवा अनुभविनो वो युष्मानब्रुवन् ब्रुवते वक्ष्यन्ति च । तदेतदेव वक्तुमुपदेष्टुं वः समीपेहमप्यागमम् । युष्मान् प्राप्तोस्मीति भावः । हे सौधन्वनाः शुभाचरणशीला यदि एवं एवं करिष्यथ मदाज्ञानुसारेण वर्तिष्यध्वे अथ तर्हि देवैर्ज्ञानिभिः साकं यज्ञियासस्तत्प्राप्तियोग्या भविष्यथ ।

अग्रुवन्तद आगमम् ॥" (ऋ० १।१६१।२) [1]"उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम् । अकर्त चतुरः पुनः ॥" (ऋ० १। २०।६) [2]"तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥" (अथ० १०।८।९) इत्याद्याः । "अर्वाग्बिल" इति मन्त्रस्योत्तरार्धे "तस्याऽऽसत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानः" इति वाजसनेयिनां पाठः । यदि नायमत्र श्रुतश्चमसशब्दः पात्रविशेषमभिधत्ते कस्मिन्नर्थे तर्हि नियम्यत एषः ? उच्यते । अदनार्थकचमुधातोर्निष्पन्नस्य चमसशब्दस्य शिरो मुखं वार्थः । चमति भक्षयत्यनेनेति चमसः । मुखशब्देन शिरः शिरश्शब्देन च मुखमभिधीयते वेदे । तथाहि "ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्" इत्यत्र ब्राह्मणे ब्रह्ममुखजत्वमभिधाय न किञ्चिद्गौरवं वर्धयितुं प्रदर्शयितुं वा शक्यते । अतस्तत्र शिर एव मुखमित्यनेनाभिधित्सितम् । शिरस्तु सर्वेषां ज्ञानतन्तूनां केन्द्रस्थानम् ।

---

(१) त्वष्टुः सूक्ष्मतत्त्वदर्शिनो देवस्य विदुषो निष्कृतमुत्पादितं सम्पादितमवगतमित्यर्थः, त्यं तं नवं नव्यं स्तुत्यं चमसं भक्ष्यं प्राप्यं पुनः चतुरः चतुःप्रकारान् स्रष्टेति रक्षितेति प्रलयितेति तटस्थश्चेति चतुर्विधान् अकर्त जानीत।

(२) तिर्यग्बिलस्तिर्यञ्चि बिलानि यस्मिन् सः, ऊर्ध्वबुध्न ऊर्ध्वमुपरिभागे बुध्नो मूलं यस्य स चमसोन्नादिभक्षको देहो वर्तते । तस्मिन् देहे विश्वरूपं यशो यशस्वि ब्रह्म निहितं विद्यते । तद्ब्रह्म सप्त ऋषयः पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति साकम् आसत उपासते तदाज्ञावर्तित्वमङ्गीकृत्य तिष्ठन्ति । य ऋषयोस्य महतो महनीयस्य देहस्य गोपा रक्षका बभूवुर्भवन्ति । यद्यपि गोपेत्यत्र गोशब्देनेन्द्रियाणामेव प्रसिद्ध्या ग्रहणं तथाप्यत्र वृत्तौ नावयवार्थप्रवृत्तिः ।

तत एव सर्वानुपदिशति ब्राह्मणो ज्ञानम् । तत एव च तस्य श्रैष्ठ्यम् । एवमत्रापि शिरोमुखयोरन्यतराभिधाने न काचिदनुपपत्तिः परिकल्पनीया । निघण्टौ तु चमसशब्दो मेघनामसु पठितः । "त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्" इतिश्रुतौ न हि तक्षणव्यापारवांस्त्वष्टाभिधीयत इति तु न विस्मर्तव्यम् । अयं भूस्थानदेवता वा मध्यमस्थानदेवता वा द्युस्थानदेवता वेति प्रासङ्गिकम् ॥१।४।८॥

न हि कापिलैः कृतार्थिता व्यर्थिता च व्यासेन सा वराक्यजा स्वातन्त्र्येण विधृतस्वसत्ता भवितुमर्हतीत्युच्यते—

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥१।४।९॥

ज्योतिःशब्देन प्रकाशस्वरूपं ब्रह्मोच्यते । उपक्रम आरम्भ आदिकारणमित्यर्थः । ज्योतिः परमात्मोपक्रम आदिकारणं यस्याः सा ज्योतिरुपक्रमा । अजा न स्वतन्त्रा, ज्योतिरुपक्रमा हि सा । तथा हि एक ऋषयोधीयते "ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्विसीमत०" इत्याद्यधीयाते बृहस्पतिरादित्यश्च । "यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव" (अथ०४।२।२) इति च वेनोधीते । सर्वत्रैव ब्रह्ममाहात्म्यातिक्रान्तत्वं प्रधानस्योपवर्ण्यतेतो न स्वातन्त्र्येण कार्यकारित्वं तस्य कुत्रापि वेदे प्रतिपादितम् ॥१।४।९॥

नन्वजाया अपि किञ्चित्कारणं नियामकं वा चेत्कथं तस्या अजेत्यभिधानसार्थक्यमत आह—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥१।४।१०॥

कल्पनं सृष्टिः । कल्पनस्योपदेशः कल्पनोपदेशस्तस्मात् ।

विरोधपरिहारसमर्थश्चकारः। सृष्टेरुपदेशः श्रूयते वेदे। तथाहि, "इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव" (ऋ०१०।१२९।७) इति। तैत्तिरीयब्राह्मणे (२।८।९।६) पीयं श्रुतिः। सृष्टिकल्पनोपदेशः श्रूयते तेन को लाभो लब्धो भवता ? उच्यते। सृष्टिकाल इयं विविधै रूपैर्जायमानेव प्रतीयमानेवापि प्रलयकाले विश्वम्भरेण ब्रह्मणा सह तत्स्वरूपापन्नाविभक्तनामरूपगुणा चावतिष्ठत इत्यजा। अथवा न हि नियाम्यत्वेनैव तस्या अजात्वं विहन्यते। जीवोप्यजः। स च ब्रह्मणो नियाम्य एव। नात्र कश्चिद्विरोधः। तथापि पूर्वकल्पमनुसृत्य परिहरति मध्वादिवदविरोध इति। "तद्यजुस्तद्धैतन्मध्वेवैष तृचो रसो वै मधु०" (शत०७।४।१।४) "अयं लोको बर्हिः" (शत०१।३।३।२४) "आपो हि कुशाः" (शत०१।२।४।३) "क्षत्रं वै जुहूर्विश इतराः स्रुचः" (शत०१।३।१।१५) "गृहा हि पशवः" (शत०१।६।४।१४) "यज्ञो वै विष्णुः" (शत०१।१।२।१३) "वज्रो वा आज्यम्" (शत०१।४।४।४) "वज्रो वा आपः" (शत०१।१।१।१७) इत्यादिषु यथातथात्वेपि तथात्वारोपस्तथानजात्वेप्यजात्वारोपः। वस्तुतस्त्वचिन्त्यशक्तिनः परस्य ब्रह्मणः सर्वनामरूपगुणादिप्रसविनी माययेवाजा। तेन न तस्या अजात्वे विवादावकाशः ॥१।४।१०॥ इति चमसाधिकरणम् ॥२॥

(अथ संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥४॥)

पुनरपि सांख्यसंस्कृतं चतुर्विंशतितत्त्वात्मकं सिद्धान्तं दूषयितुमाह—

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ १।४।११॥

संख्याया उपग्रहः संख्योपग्रहस्तस्मादपि सांख्यमतमनभिमतं वेदस्य। अत्रायमाशयः। वाजसनेयिनः पठन्ति "एकयास्तुवत प्रजा अधीयन्त, तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत, पञ्चभिभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त, सप्तभिरस्तुवत सप्तऋषयोऽसृज्यन्त, नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्त, एकादशभिरस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्त, त्रयोदशभिरस्तुवत मासा असृज्यन्त, पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यत, सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त, नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येताम्, एकविंशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त, त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त, पञ्चविंशत्यास्तुवतारण्याः पशवोऽसृज्यन्त, सप्तविंशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां, नवविंशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त, एकत्रिंशतास्तुवत प्रजा असृज्यन्त, त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन्" (शु०य० १४।२८-३१) इत्यादि। अत्रैकतः प्रारभ्य त्रयस्त्रिंशत्पर्यन्तानां संख्यानामुपसंग्रहः सृष्ट्युत्पत्तिश्च श्रूयेते। तत्र सांख्या एवमाशेरते—मासानन्तरेणर्तूनामसंभवाद् "नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू" "इषश्चोर्जश्च शारदा ऋतू" इतिवन्माससंख्यानेनैवर्तुसंख्यानस्य गतार्थत्वात्ते पृथङ्न गणनीयाः। एवमेकयेति त्रिंशतेति द्विः प्रजासृष्टिः श्रूयते। तत्रान्यतरा हेया। एवमेकविंशत्यैकशफानां पशूनां सृष्टिः श्रूयते सापि त्या-

ज्या। ग्राम्यारण्यपशूनां सृष्टावेव तेषां गतार्थत्वात्। त्रयस्त्रिंशतेति त्याज्यमेव सृष्टिप्रसङ्गबहिर्मुखत्वात्तस्य। एवं च पञ्चविंशतिपर्यन्ता एव संख्या अवशिष्यन्ते। ताश्च पञ्चविंशतेस्तत्त्वानामुपलक्षिकाः। तदिदं प्रत्याचष्टे भगवान्व्यासः, संख्योपसंग्रहादपि न सांख्यमतं सिद्धम्। कुतः? नानाभावात्— एकस्यैव वस्तुनः प्रकारान्तरेण पुनःपुनरुपवर्णनात्। तथाहि प्रजासृष्टावेव ब्रह्मक्षत्रशूद्रार्याणां सृष्टेर्गतार्थत्वादपि पृथक्पृथक् चतुर्णां सृष्टिः समुपवर्णिता। एवं च निरर्थकतया तेषां त्याज्यतया त्वन्मनीषितसंख्याहानिरेव। यदि तेषां सृष्टेः पृथग्गणना तवाभिमता तर्हृतूनां मासानां वनस्पतीनां चापि पृथग्गणनायां न कोपि प्रत्यवायः। एवं च तवाभिमतसंख्यातिरेकः सम्पद्येत। तदेवाहातिरेकाच्चेति ॥१।४।११॥

किंच—

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥१।४।१२॥

यदि माध्यन्दिनानामुपर्युक्ताः श्रुतयः सृष्टिप्रक्रियायां प्रधानवादिसंमततत्त्वसंख्यानुसन्धाने च प्रवृत्तास्तर्हि प्राणादीनामपि सृष्टिर्वक्तव्या प्रकरणान्न्याय्याच्च। तदेव कथयति सूत्रकारो वाक्यशेषादिति। प्राणादयो वाक्यशेषा एव। प्राणादीत्यत्रादिपदेनेन्द्रियाण्यन्तःकरणानि च संग्राह्याणि। एतेषामपि तत्र पाठः कर्तव्यः। एवं च भज्येतैव त्वत्संख्यागणनाभिमान इति भावः ॥१।४।१२॥

किं च,

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१।४।१३॥

अन्नेन्नपाठेसति ज्योतिषा सह तस्य पाठोप्यपेक्षितव्य इत्येकेषामाशयः । अयं भावः । "एकत्रिंशतास्तुवत प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतयः" इत्यत्र यवादीनामन्नानामपि सृष्टिवर्णनम् । तच्च प्रधानवादिना पञ्चविंशतिसंख्योपग्रहलोभेन परित्यक्तम् । एवं चान्नसृष्टिरप्यपेक्षिता । ज्योतिःशब्देन सूत्रे सूर्याग्निविद्युदादीनां संग्रहः । तेषामपि सृष्टिर्वक्तव्या । एवं च "असति अन्ने" ज्योतिषा सहान्नसृष्टिन्यूनता प्रदर्शनीया। ज्योतिःसृष्टिन्यूनतान्नसृष्टिन्यूनता च प्रदर्शनीयेति तात्पर्यम् । तथा कृते तु संख्यातिरेक एव स्यात् ॥१।४।१३॥ इति संख्योपसंग्रहाधिकरणम् ॥३॥

(अथ कारणत्वाधिकरणम् ॥४॥)

वेदेषु ब्राह्मणेषूपनिषत्सु च बहूनि बहुप्रकाराणि जगत्कारणानि श्रूयन्ते । तत्रासतोपि जगदुत्पद्यमानं श्रूयते । एवं चासत्प्रधानं जगत्कारणं वैदिकशब्देनैव सिद्धमिति पिष्टमेव पुनः पेष्टुं निष्प्रयोजनमपि सप्रयोजनमिव मत्वालमनलसो भगवान् व्यास आह—

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १।४।१४॥

"तपसस्तन्महिनाजायतैकम्" (ऋ०१०।१२९।२) इत्यनेन

तपसो जगदुत्पत्तिः, "रोहितो द्यावापृथिवी जजान" (अथ० १३।१।६) इत्यनेन रोहितात्सूर्यात्, "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत" (ऋ०१०।१९०।१: तै०आ०१०।१।१३) इत्यनेनापि तपसः, "त्वामिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयंस्त्वं गाः। त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥" (शु०य० ३४।२२) इत्यनेन सोमात्, "स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत्तत्प्राजनयत्" (अथ०१५।१।१) इत्यनेन प्रजापतेः, "ततो विराडजायत विराजः" (शु०य०३१।५) इत्यनेन विराजः, "सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोन्तर्महत्यर्णवे। दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः॥" (शु०य०२४।६३) इत्यनेन स्वयम्भुवः, "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव" (शु०य०१०।२०) इत्यनेन प्रजापतेः, "आत्मन आकाशः सम्भूतः" (तै०उ०२।१) इत्यनेनात्मनः, "असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत" (तै०उ०२।७) इत्यनेनासतः, "बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परिजज्ञिरे।" (अथ० १०।७।२५) इत्यनेनाप्यसतः, "प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदेक एव सोकामयतान्नं सृजेय प्रजायेयेति स प्राणेभ्य एवाधि पशून्निरमिमीत" (शत०७।४।२।६) इत्यनेन च प्रजापतेर्जगतः प्रसवः श्रूयते। अत्रासतोपि जगदुत्पत्तिः श्रूयते तेनासतः प्रधानस्य जगत्कारणत्वं विवादानाकुलितमितिमतिमपसारयितुमाहाचार्यः कारणत्वेनेत्यादि। सूत्रार्थस्तु—आकाशादिषु कार्येषु कारणत्वेन सर्वत्र यथाव्यपदिष्टोक्तेः=व्यपदिष्टमनतिक्रम्य यथाव्यपदिष्टम्।

यथाव्यपदिष्टमुक्तिर्यथाव्यपदिष्टोक्तिस्तस्याः । सर्वत्रैव समानव्यपदेशः । एकस्मिन्मन्त्रे यथा व्यपदेशस्तमनतिक्रम्यैवान्येष्वपि मन्त्रेषु श्रौतवाक्येषु च । आकाशादिशब्दानामपि ब्रह्मपरकत्वमेवेति गतेष्वधिकरणेषु हस्तदर्पणायितमिति नास्ति नानाकारणत्वदर्शनम् ॥१।४।१४॥

उक्तोत्तरमेव विस्पष्टयति—

समाकर्षात् ॥१।४।१५॥

समाकर्षणं समाकर्षस्तस्मात्। आकाशादिषु शब्देषु यत्र यत्र भ्रान्तिर्विभिन्नकारणतायास्तत्र सर्वत्र ब्रह्मण एव समाकर्षः। स च सामर्थ्यादेव। सामर्थ्यं त्वसकृत्प्रत्यपीपदाम । "असद्वा इदमग्र" इतिश्रुतौ नासतः सदुत्पत्तौ तात्पर्यम् । "बृहन्तो नाम ते देवा" इत्यत्रापि तथैव । तत्रासच्छ्रुतिस्तु तदानीं सृष्टेः प्राग्ग्राहकाभावाद्ब्रह्मणोऽग्राह्यत्वेन ब्रह्मवादिन्येव विज्ञेया। अथवा सदित्यस्य सत्तामात्रमित्यर्थः । अस्तीत्यसत् । अल्लोपाभावस्तु च्छान्दसः। ततश्चासत इत्यस्य सत्तामात्रेण वर्तमानाद्ब्रह्मणः सत्-नामरूपादिमद्वस्तुजातमजायतेति श्रुत्यर्थोऽन्यत्र निरूपितस्तत्रैव द्रष्टव्यः ॥१।४।१५॥

ननु किं कारणं तत्र तत्र श्रौतैराकाशादिशब्दैः परं ब्रह्म समाकृष्यत इत्याह—

जगद्वाचित्वात् ॥१।४।१६॥

जगद्वाचित्वाद्ब्रह्मणः। ब्रह्मैव जगद्रूपेण परिणतमिति वा

ब्रह्मण एव विवर्तो जगदिति वा वेदान्तिनां संस्था। अतो जगद्ब्रह्मैव ब्रह्मणो रूपं वेत्युभयं समानम्। तेन जगद्ब्रह्मणोः कार्यकारणभावत्वेपि समानार्थकतया जगदन्तर्गताकाशादिशब्दैर्ब्रह्मैव बोध्यत इति तदेवाकृष्यते मोक्षप्रकरणेषु ॥१।४।१६॥

अत्रैव विवदमानानुद्दिश्याह—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम्

॥१।४।१७॥

सूत्रे प्राणशब्द उपलक्षणविधया सर्वानेवाकाशादिभौतिकपदार्थानाह। जीवश्च मुख्यप्राणश्चेति जीवमुख्यप्राणौ। तयोर्लिङ्गम्। तस्मात्। जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च न ब्रह्मणः समाकर्षो युक्त इति चेत्, तद्व्याख्यातम्=दत्तोत्तरं हि तत्। तथाहि, नोच्यते सर्वत्रैव जीवलिङ्गं मुख्यप्राणादिलिङ्गं च नादर्तव्यमिति। वाक्यार्थनिर्णयनयप्रणेतॄणि च लिङ्गानि षट्। तानि च "उपक्रमोपसंहारावभ्यासो पूर्वता फलम् अर्थवादोपपत्ती चेत्येवंरूपाणि। यत्रोपक्रमोपसंहारयोरानुकूल्यं न व्याकुलीभवति स एवार्थोऽर्थनीयः। उपासनाप्रकरणेषु जीवमुख्यप्राणग्रहणे विरोधप्रदर्शनेन यथा तत्परिहाणं परमात्मनश्चोपादानं स सर्व एव प्रकारः कृतसत्कारः पूर्वम्॥ १।४।१७॥

अत्रैव जैमिनिमप्यनुकूलयति—

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैव-मेके ॥१।४।१८॥

तत्तद्वाक्येषूपासनाप्रसङ्गेषु जीवप्राणाकाशादिशब्दजात-मन्यार्थम्। तत्तच्छब्दानां मुख्यार्थपरित्यागपूर्वकतद्भिन्नार्थग्रहणार्थमित्याशयः। तत्तच्छब्दमुख्यार्थभिन्नत्वं च ब्रह्मण एव। अल्पशक्तिं जीवं जडं च परित्यज्यापरिच्छिन्नानन्तशक्तिरजडः परमात्मोपासनीय इति तत्तच्छ्रुत्याशय इति जैमिनिर्मन्यते स्म। तुर्जीवमुख्यप्राणग्रहणपक्षप्रक्षेपार्थः। एवम्, एके—अन्ये चाप्याचार्या भगवद्व्यासात्पूर्वभवास्तत्समसमया वा मन्यन्ते स्म। कस्मात्त एवं मन्यन्ते स्मेति चेत्, प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्। प्रश्नश्च व्याख्यानं च ताभ्याम्। विदुषां प्रश्नोत्तरैरेवं ज्ञायते-जडः परमात्मैवोपासनीय इति। वेदेष्वपीदृशः प्रश्नोत्तरवाचः श्रूयन्ते। तथाहि, "यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्। अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥" (अथ० १०।७।१८) इत्यादिभिर्बहुभिर्मन्त्रैः स्कम्भजिज्ञासा कृता। अत्र शिरश्चक्षुराद्यङ्गानि जीवलिङ्गानि सन्ति तथाप्येतद्वर्णनमन्यार्थ-मेव। तथैवात्र उत्तरम्। "स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृत-माहितम्। स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम्॥ "इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम्। इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥" "नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात्पुरोषसः। यदजः प्रथमं सं बभूव स ह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति

भूतम् ॥" (अथ० १०।७।२९-३१) इत्यादि । शिष्यजिज्ञासामुपशमयता भगवता मन्त्रर्षिणा प्रत्युत्तरितं यत्र लोका स्थिता यत्र तपो यत्रर्तं समाहितं तमेवेन्द्रपदवाच्यं स्कम्भं जानीहीति। इन्द्रे लोको इन्द्रे तप इति वदतेन्द्रत्वं स्कम्भान्नातिरिच्यत इति स्फोरितम्। अन्ते च, यत् अजः परमात्मा प्रथमं सं बभूव प्राकट्यमाप स ह तत् सर्वमिदं च स्वराज्यं स्वशासनमियाय प्राप यस्मात्परमेश्वरादन्यत्परमत्यन्तं भूतं सत्यं न अस्तीतिबोधयता तेन पृष्टः स्कम्भो ब्रह्मैवेति स्पष्टीकृतम् । मुख्यप्राणलिङ्गं यथा—'विश्वान्देवानिदं ब्रूमः सत्यसन्धानृतावृधः। विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥" (अथ० ११।६।१९) इति। अत्रेन्द्रियरूपान्विश्वान्देवान् प्रार्थयमाना उपासका "यूयं विश्वाभिः:सर्वाभिः पत्नीभिर्वृत्तिरूपाभिः सह नोस्मानंहसः पापान्मुञ्चन्तु मोचयन्त्विति"। यद्यप्यत्र मुख्यप्राणादिलिङ्गमेव तथापि जडदेवान्संप्रार्थ्य न कदापि किञ्चित्प्राप्तव्यम् । तेन परमात्मप्रार्थनमेवात्र रहस्यम् । हे परमात्मंस्त्वमेतादृशानुकम्पयानुकम्पयानुकम्प्यानस्मान्यतः पापवृत्तिरूपाभिः पत्नीभिः सहास्माकमिन्द्रियदेवाः पूता भवन्त्वि"त्यत्र तात्पर्यम् ॥१।४।१८॥

अत्रैवान्तिमं हेतुमुपन्यस्यति—

वाक्यान्वयात् ॥१।४।१९॥

तत्र तत्र प्रयुक्तानां वाक्यानामन्वयो ब्रह्मण्येव भवति नान्यत्र। इदं सर्वमसकृत्पूर्वं बहुधा गीतम् ॥१।४।१९॥ इति कारणत्वाधिकरणम् ॥४॥

(अथ प्रतिज्ञाधिकरणम् ॥५॥)

"योसावादित्ये पुरुषः सोसावहम्" (शु०य०४०।१७) इत्यत्रादित्यान्तर्यामी यः स एवाहमस्मीति कथनेन लोकस्थितौ प्रतीयमानेपि जीवब्रह्मणोर्भेदे परमार्थतः प्रभातायामज्ञानतमिस्रायां जीवोपि शिवरूपतामेतीत्यभेद एव तयोः सिध्यति न यशस्विनायासेन साधितो भेद इत्यत्राश्मरथ्याचार्यस्य कस्यचिन्मतमाह—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥१।४।२०॥

आश्मरथ्य आचार्यो मन्यते स्म "योसावादित्ये पुरुषः सोसावहम्" "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (शु०य०४०।७) इत्यादिवेदवचनं प्रतिज्ञायाः सिद्धेर्लिङ्गम्। अयमाशयः। "वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम्। इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने ॥" (अथ०७।७८।१) इतिमन्त्रे जीवानुद्दिश्य परमात्मा प्रतिजानीते, हे अग्ने कर्मपारतन्त्र्येण बहुषु शरीरेषु गमनशील जीवात्मन्, सर्वशक्तिसम्पन्नोहं परमेश्वरस्ते तव रशनां बन्धरज्जुं मुञ्चामि, तव योक्त्रं बन्धनं वि मुञ्चामि, तव नियोजनं "अस्मिन्देशेस्मिंश्च कालेस्यां च स्थितौ त्वयेत्थं वर्तितव्यम्" इतीदृशं मदाज्ञावर्तित्वं वि मुञ्चामि नाशयामि। इतः प्रारभ्य, अनन्यया भक्त्या परमेण वा ज्ञानेन विगलितबन्धः संस्त्वमिहैवास्मिन् शरीर एवाजस्रोविनाश्य एधि भवेति। जीवानां समाश्रितस्वाश्रयाणां बन्धनविच्छेदाय विधृतप्रतिज्ञो हि परमात्मा वरीवर्ति। तस्य तस्या एव प्रतिज्ञाया सिद्धेर्लिङ्ग

चिह्नमिदम्। महद्भिराराधितैः प्रयत्नैः परमात्मकृपारूपैर्ब्राह्मणोहं क्षत्रियोहं वैश्योहं शूद्रोहं हिन्दुरहं मुसलमानहं खैस्तोहं जारदुस्थोहं वैष्णवोहं शैवोहं शाक्तोहं मूर्खोहं पण्डितोहं धनवानहं निर्धनोहमन्धोहं काणोहं खञ्जोहं द्वैतवादे मे स्पृहाद्वैतवादे मे रतिरित्यादिसर्वबन्धविनिर्मुक्तो भवन्परमप्रसादमनुभवन्पराभवंश्च विषादं सहसा सहास इव वदति जीवो "योसावादित्ये पुरुषः सोहमस्मि" "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इत्यादि। इदमधिवचनमेव लिङ्गं परमात्मनः प्रतिज्ञायाः पूर्तेरिति ॥१।४।२०॥

अत्रौडुलोमेर्मतमुपन्यस्यति—

उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः॥१।४।२१॥

"इहैव त्वमजस्र एधि" इत्युक्तायाः श्रुतेरिदं तात्पर्यम्। "न सायकप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम्" (अथ०९।२।१२) इतिन्यायेन प्रारब्धवशादुत्पन्नस्य शरीरस्य कर्मफलभोगक्षयं यावदिहैव त्वमजस्र एधीत्याश्मरथ्यस्य वचो न रुचिरम्। न सायकप्रणुत्तानामितिवाक्यस्यासति प्रतिबन्धके न निवर्तनमित्यत्र तात्पर्यात्। शत्रुणा बलेन प्रक्षिप्तस्य बाणस्य प्रतिपक्षबाणेन विचूर्णितस्य लक्ष्यमनवाप्तस्यैव मध्ये विनाशदर्शनात्। अत उत्क्रमिष्यतः शरीरं परित्यज्य गमिष्यत एव एवम्भावः परमात्मैक्यभावो जीवस्येत्यौडुलोमिः। आश्मरथ्यस्य मते संसारे स्थितस्यापि जीवस्य ब्रह्मभावः। औडुलोमेश्च मते ज्ञानेन भक्त्या वा शरीरस्थितिहेतुभूतकर्मबन्धनविच्छेदादन्यस्य

च कारणस्य शरीरस्थितेरनवस्थानाच्छरीरं परित्यक्ष्यत एव जीवस्यैवंभाव इति। न च त्रिषु कर्मसु मध्ये क्षीणेपि संचितेनुपश्लिष्टेपि क्रियमाणे प्रारब्धं त्ववशिष्यत एव। तद्बलान्न सायकप्रणुत्तानामितिवचनात् प्रारब्धबलेनेहैव स्थितस्य जीवस्य स्याद्ब्रह्मैक्यमितिवाच्यम्। ज्ञानस्य भगवत्या भक्त्याश्च माहात्म्यस्य त्वयाद्याप्यपरिचितत्वात्। तिमिरप्रकाशयोरिव सत्यासत्ययोरिव सदाचारदुराचारयोरिव कर्मफलज्ञानयोः सामानाधिकरण्याभावात्। न सायकप्रणुत्तानामित्यस्यासति प्रतिबन्धक इति शेषान्नीरोगो मार्गः ॥१।४।२१॥

काशकृत्स्नाचार्यस्य मतमुपहरति—

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥१।४।२२॥

काशकृत्स्न आचार्यो मेने ब्रह्मभावे जीवस्यावस्थितिमात्रं भवति न तु ब्रह्मभावो भवति ततः शरीरं धारयतोपि जीवस्य "योसावादित्ये" इति "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति चानुध्यानमनपहतम्। सुखदुःखहर्षशोकादितानस्त्यानादिभानाभाव इति ब्रह्मभावावस्थितिः। सुखदुःखादीनामत्यन्ताभावो हि ब्रह्मभावः। अत एव योसावित्यत्रादोस्मदोरुभयोः प्रयोगः, एकत्वमनुपश्यत इत्यत्र वर्तमानप्रयोगश्चोपपद्यते ॥१।४।२२॥ इति प्रतिज्ञाधिकरणम् ॥५॥

(अथ प्रकृत्यधिकरणम् ॥६॥)

जीवानामुद्धरणं परमात्मप्रकृतिसिद्धमित्याह—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥१।४।२३॥

प्रकृतिः स्वभावः। परमात्मनः प्रकृतिरेवैषा स्वाश्रयाश्रितजीवखेदच्छेदविधानं नाम। कुतो ज्ञायत एतत्? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। अनुपरोधोनुरोधः। प्रतिज्ञानुरोधाद्दृष्टान्तानुरोधाच्च। उक्ता हि प्रतिज्ञा "वि ते मुञ्चामि रशना" मित्यादिना। उपस्थाप्यते च दृष्टान्तः। "न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि। यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥" (अथ०९।१०।१५) इति। कोहमस्मीति न जानामि। कर्मभिरज्ञानेन वा बद्धो मनसा नीतो यत्र तत्र संचरामि। यदा सौभाग्यादृतस्य परमसत्यस्य प्रथमजा प्रथमोत्पादको मा आगन् मामागमन्मां प्राप्तः, आत्, इत्=तदैवास्या वाच आश्वासनगिरो भागं कञ्चिदंशमश्नुवेनुभवामीत्यस्यार्थः। रक्षणं प्रतिज्ञायोपेत्य च स आश्वासयति जीवानित्यनेन मन्त्रेण प्रख्यापयति वेदः। "योसावादित्ये" इति "तत्र को मोहः कः शोक" इत्यादिवचनं च दृष्टान्तरूपेण संग्राह्यमिति ॥१।४।२३॥

अपरं हेतुमाह—

अभिध्योपदेशाच्च ॥१।४।२४॥

अभिध्याभिध्यानं चिन्तनं चिन्तनफलस्वरूपं रक्षणं च। परमात्मा स्वशरणागतानभिध्यायति चिन्तयति रक्षतीत्यस्योपदेशोपि श्रूयते। तथा हि— "ऋभुश्चक्र ईड्यं चारु नाम विश्वानि देवो वयुनानि विद्वान्। ससस्य चर्म घृतवत्पदं वेस्तदिदग्नी रक्ष-

त्यप्रयुच्छन् ॥" (ऋ० ३।५।६) इति। ऋभुर्मेधावी विश्वानि सर्वाणि वयुनानि प्रशस्यानि कर्माणि विद्वाञ्जानानो देवः परमात्मा ईड्यं प्रशस्यं नाम जीवं चक्रे। नम्यत इति नाम। निघण्टौ जलनामसु नामशब्दः पठितः। वेर्व्याप्तस्य सरस्य सुप्तस्य शान्त्यावस्थितस्येत्यर्थः। तस्य पदं प्रतिपत्तव्यं धर्म रूपं घृतवत्प्रकाशवदस्ति। सोऽग्निः परमात्मा इत् परमात्मैव तत् नाम जीवजातमप्रयुच्छन्नप्रमाद्यन्नविस्मरन् रक्षति पालयतीत्यर्थः। अनेनापि परमात्मप्रकृतिः प्रकीर्तिता। अप्रमाद्यन्नेव स शरणागतान्सततं रक्षतीत्युपदेशादपि ज्ञायते तस्य प्रकृतिस्तथाभूतेति ॥१।४।२४॥

इतोपि तस्य तादृशी प्रकृतिः—

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥१।४।२५॥

उभयेषां जीवजडानामाम्नानमुभयाम्नानम्। तस्मात्। उभयेषां किमाम्नातम्? साक्षात्। साक्षात्तस्य परमात्मनः सम्बन्धः। उभयेषां जडाजडानां तेन ब्रह्मणा सह सम्बन्धस्याम्नानादितिसूत्रार्थः। यस्य येन सम्बन्धः स सर्वदा तं परिरक्षत्येव। अनादिकालतः परमात्मना सम्बद्धत्वाज्जडाजडयोः स एव रक्षक इति भावः। "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः" (ऋ० १०।१३।१) इतिमन्त्रेण सर्वेषां जीवानां तत्पुत्रत्वाम्नानाच्चापि स सर्वदा जीवरक्षायै कृतप्रतिज्ञ इत्यर्थः ॥१।४।२५॥

परमात्मना सह जडाजडयोः कथं सम्बन्ध इत्याह—

आत्मकृतेः ॥१।४।२६॥

आत्मनः कृतिरात्मकृतिस्तस्याः। जडाजडौ परमात्मन एव कृतिः। कृती रचना। परमात्मनैवोभयो रचितत्वाज्जन्यजनकरूपः सम्बन्ध इति भावः ॥१।४।२६॥

ननु संभवत्येव नामरूपात्मकस्य जडस्य परमात्मरचितत्वं नित्यस्य जराजन्मादिरहितस्य जीवस्य च तत्कथं संभवेदित्याह—

परिणामात् ॥१।४।२७॥

स्थितिपरिवृत्तिर्हि परिणामः। सा च न स्वातन्त्र्येण स्वाभाव्येन वा, कर्मफलभूतदेहद्वारेणैव। देवदत्तदेहेवस्थितः स कदाचिद्बालो देवदत्तः कदाचिद्युवा देवदत्तः कदाचिच्च वृद्धो देवदत्तः। जातो देवदत्तो रुग्णो देवदत्तो मृतश्च देवदत्तः। स एव देवदत्तः कदाचिद्यज्ञदत्तो भवति कदाचिच्च विष्णुदत्तो भवति। एवमेकस्या स्थितेः स्थित्यन्तरं देहद्वारेण गच्छन्हि स परिणामं माप्नुवन्निव निर्दिश्यते। एतादृशपरिणतिकारणं परमात्मैवेति ॥१।४।२७॥

इतोप्युभयोस्तस्य कृतित्वम्—

योनिश्च हि गीयते ॥१।४।२८॥

"सतश्च योनिमसतश्च विद्" इतिवेदमन्त्रेण सदसतोरुभयोर्जडाजडयोः परमात्मैव योनिः कारणमिति गीयते ततो

निर्धीयते तयोस्तस्य कृतित्वमिति ॥१।४।२८॥ इति प्रकृत्यधिकरणम् ॥६॥

(अथ सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥७॥)

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥१।४।२९॥

इति श्रीमद्रामानन्दाचार्यैः श्रीमद्व्यासमहर्षिभिः प्रणीते
वेदान्तदर्शने प्रथमेऽध्याये चतुर्थः पादः

एतेनैतावता ग्रन्थेन पादचतुष्टयेन सर्वे व्याख्यातेभ्य आकाशादिशब्देभ्योऽवशिष्टा ये शब्दास्तेऽपि व्याख्याताः। अल्प एव व्याख्याताः। दिग्दर्शनमात्रमेतत्। अनयैव दिशान्येऽपि जीवमुख्यप्राणलिङ्गकाः शब्दा उपासनाप्रकरणेषु व्याख्येया इत्यनुशासनम्। व्याख्याता व्याख्याता इत्यभ्यासोऽध्यायान्तेऽध्यायं समापयतीतिशम् ॥१।४।२९॥ इति सर्वव्याख्यानाधिकरणम् ॥७॥

यथाशक्ति यथाभ्यासं यथाविद्याविभूति वा।
एतन्मया कृतं भाष्यं विदुषां तोषमावहेत् ॥१॥

ज्ञानतन्त्वव्यवच्छित्त्यै नो मया शीलितः श्रमः।
तस्मादत्र प्रवेशोऽस्तु ज्ञानोत्कर्षाभिलाषिणाम् ॥२॥

सतां विद्यावतां प्रत्नरत्नमाहात्म्यवेदिनाम्।
पवित्रेषु करेष्वेतन्मया भाष्यं समर्प्यते ॥३॥

पूर्वजैर्यत्कृतं सत्यं तदेवेतिधियान्विताः।
दूषयन्तु न पत्राणि ग्रन्थस्यैतस्य दुष्करैः ॥४॥

दुर्विदग्धा जगच्छर्मसंवेधपरायणाः ।
मा ग्रन्थं स्प्राक्षुरेतं ते हन्त पण्डितमानिनः ॥५॥
अन्तरं ये न पश्यन्ति मानवा धनधर्मयोः ।
शक्नुवन्ति न विज्ञातुं रहस्यं रस्यमस्य ते ॥६॥
घटं भित्त्वा पटं छित्त्वा रासभारोहणेन वा ।
चिख्यापयिषवो ये स्वाँस्तेभ्यो दूरान्नमोस्तु मे ॥७॥
सुगन्धिकुसुमाकीर्णं लतामण्डपमण्डितम् ।
पुरीषप्रेप्सया नूनं पुरीषाशी विवक्षति ॥८॥
तत्रैव महतां भव्यभाग्यभाजां विपश्चिताम् ।
प्रवृत्तिः केवलं शान्तिसौन्दर्यानुबुभूषया ॥९॥
यियासते मे नवले वर्त्मनि स्खलते क्वचित् ।
दयालुभिर्विशेषज्ञैः करालम्बः प्रदीयताम् ॥१०॥
जयन्तु ते महात्मानः सुधियामग्रगामिणः ।
येषां मनसि सर्वस्वमौदार्यं संप्रवर्धते ॥११॥
जयन्तु शिरसा धार्या गुरुपादरजःकणाः ।
प्रतीक्षन्ते हि साहाय्यदानावसरमत्र ये ॥१२॥

इति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-परमहंसपरिव्राजक-स्वामिश्री-भगवदाचार्यमहाराजैः प्रणीते वेदान्तदर्शनवैदिकभाष्ये प्रथमेऽध्याये चतुर्थः पादः ॥

प्रथमोध्यायः समाप्तः



वैदिकभाष्ये तट्टिप्पण्यां च
मानवदौर्बल्यदिग्दर्शनम्

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१	५ (तृतीये श्लोके)	न्मे	न्भे
१	६ ,,	कन्यया	कन्यका
१	९ (पञ्चमे श्लोके)	हृदि	हृदि
२	६ (अष्टमे श्लोके)	सुन्दरा	सुन्दरी
२	१७	भीहते	मीहते
४	१७	सर्वे मी...	सर्वेमी...
५	९	गार्हस्थ्य	गार्हस्थ्य-
६	१७	निर्वदवांश्च	निर्वेदवांश्च
७	८	द्रश्यते	दृश्यते
९	१२	तैति...	तैत्ति...
१५	३	...र्चन	...र्चेन
१८	२१	विद्वांग्ने	विद्वाँ अग्ने
१८	२२	मन्त्रर्णात्	मन्त्रवर्णात्
१९	१४	प्रतिरूपस्त...	प्रतिवस्तुरूपस्त...
१९	२१	द्वारकृत्य	द्वारीकृत्य
२५	१०	...ह्मणा	...ह्मणो
२९	३	...न्वस्चय	...न्वयश्च
३०	२	...र्युमे	...युमें
३१	१५	स कर्तृ...	सकर्तृ...
३८	१०	...प्रधानं	...प्रधाना
३८	११	... ,,	... ,,
४०	[(३) टिप्पण्याम्]	...ध्यक्ष:	...ध्यक्षः
४०	[(५) ,,	...गात्मनोव	रात्मनोव

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
४२	१०	...ततस्थु	...तस्तस्थु...
४५	[टिप्पण्यां पङ्क्तौ ५]	...ध्येन्यो	...ध्येन्यो
४६	५ (टि.)	सिद्धिसा...	सिद्धिसो...
४६	१२ (,,)	मेदः	भेदः
,,	,, (,,)	स्यामेदोपि	स्याभेदोपि
,,	१८ (,,)	स्यिति	स्थिति
,,	२० (,,)	तोत्यथ	तोत्यर्थं
,,	२३ (,,)	मेब	मेव
४७	११ (,,)	बिमेति	बिभेति
४८	७	स्पति	स्पति
,,	१४	र्थं स्तेन	र्थंस्तेन
४९	१५	जगत्त	जगत्तु
५०	३	पूर्वका	पूर्विका
५४	२	तस्यान्नद	तस्यानन्द
५७	१२	दिक्षन्तैव	दिक्षतैव तानि
५८	१४	'बिश्व	विश्व
६४	६	अन्तर्दतो	अन्तर्दूतो
,,	११	वर्चयो...	वर्चो...
६५	७	समवा...	सममा...
७०	१३	...भिप्रेत	...भिप्रेतं
७३	१५	पार्दाप...	पादोप...
,,	१७	भत्वादि...	भूतादि...
७८	२	प्रतिपदि...	प्रतिपादि...
७९	१९	प्रथमा...	प्रथमे...
८०	१२	दोष	दोषः
८३	४	...पत्तिः। सिद्धि...	पत्तिः सिद्धिः

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
८४	४	न जीव...	न सर्वत्र जीव..
९०	४	अनुपत्यं	अनुषत्यं
९४	४	...त्रव	...त्रैव
९५	१५	वच–न...	वचन...
९९	७	नस्तापि	नस्तथापि
१०२	२	...वाप	...वोप
१०४	६	...द्वांस्त	...द्वांसस्त
,,	८	...द्योथः	...द्योर्थः
,,	९	...त्मनोनन्तर	...त्मनोन्तर..
१०८	५	...र्वतीनि	...र्वर्तीनि
१०९	१३	...र्यामि	...र्यामी
१११	१	...त्वष्टत्वा...	...त्वष्टृत्वा...
११२	५	...वाथिनो...	...वादिनो
११९	४	वैश्वानरा	वैश्वानरो
१२७	२२	...शुश्रुवत्	...शुश्रवत्
१२८	८	ाह	हि
१३०	१९	...न्नास्तिः	...न्नास्ति
१३१	१९	त	तं
१३२	९	शुका...	शुक्रा...
१३७	६	चा	च
१३९	१५	...क्षर शब्दः	...क्षरशब्दः
१४०	२	...जीवाचितां	जीवाचिदादीनां
१४३	१५	...पैति	पैतीति
१४४	१९	...न्निमार्णे	...न्निर्माणे
१४७	५	उतरम्	उत्तरम्
१५२	१३	वायो यजु...	वायोर्यजु...

पृष्ठे	पङ्क्तौ	अशुद्धपाठः	शुद्धपाठः
१५६	३	न चेयं	अथ चेयं
१५९	२०	...कण्रयं	...करण्यं
१६२	४	वियान्नियत...	विद्या नियत...
१७०	७	प्रथमाध्याये	प्रथमेध्याये
१७२	८	शरीरुप...	शरीररूप...
,,	११	आसींद्यौः	आसीद्द्यौः
१७५	५	सर्वषां	सर्वेषां
१८३	(टि०(१)प०३)	प्रलयिंतति	प्रलायिंतति
१९१	२०	जमिनि...	जैमिनि...

अन्या अपि चेदवशिष्टा अशुद्धयो विद्वद्भिस्ताः संशोधनीया इति मुहुर्मुहुरभ्यर्थनेति ।



वेदान्तदर्शनस्य प्रथमाध्यायस्य सूत्रसूचीपत्रम्

सूत्रगणना		पृष्ठे
	(अ)	
१	अक्षरमम्बरान्त०	१३८
२	अत एव च तद्०	१०३
३	अत एव च नि०	१५३
४	,, ,, न देव०	१२०
५	,, ,, प्राण:	६८
६	अत्ता चराचर०	९१
७	अथातो ब्रह्म०	२
८	अदृश्यत्वादि०	११२
९	अनवस्थितेर०	१०८
१०	अनुकृतेस्तस्य०	१४७
११	अनुपपत्तेस्तु न शा०	८३
१२	अनुस्मृतेर्वाद०	१२१
१३	अन्तर उपपत्ते:	१००
१४	अन्तर्याम्यधि०	१०९
१५	अन्तस्तद्धर्मोप०	६४
१६	अन्यभावव्यावृ०	१३९
१७	अन्यार्थं तु जैमि०	१९२
१८	अन्यार्थश्च परामर्श:	१४७
१९	अपि च स्मर्यते	१४८
२०	अभिध्योपदेशा०	१९७
२१	अभिव्यक्तेरित्याश्म०	१२१
२२	अर्भकौकस्त्वा०	८८
२३	अल्पश्रुतेरिति चेत्तदु०	१४७

सूत्रगणना		पृष्ठे
२४	अवस्थितेरिति काश०	१९६
२५	अस्मिन्नस्य च तद्यो०	६१
	(आ)	
२३	आकाशस्तल्लिङ्गात्	६७
२७	आकाशोर्थान्तरत्वा०	१६८
२८	आत्मकृते:	१९९
२९	आनन्दमयोभ्या०	५३
३०	आनुमानिकमप्ये०	१७२
३१	आमनन्ति चैनम०	१२२
	(इ)	
३२	इतरपरामर्शात्स इति०	१४४
	(ई)	
३३	ईक्षतिकर्मव्यपदेशा०	१४०
३४	ईक्षतेर्नाशब्दम्	३९
	(उ)	
३५	उत्क्रमिष्यत एवं भा०	१९५
३६	उत्तरत्र चैत्ररथेन०	१६०
३७	उत्तराच्चेदावि०	१४६
३८	उपदेशभेदान्नेति०	७४
३९	उभयेपि हि०	१११
	(ए)	
४०	एतेन सर्वे व्याख्याताः०	२००
	(क)	
४१	कम्पनात्	१६३
४२	कर्मकर्तृव्यप०	८५
४३	कल्पनोपदेशा०	१८४

सू० ग०	पृष्ठे
४४ कामाच्च नानु०	५९
४५ कारणत्वेन चाका०	१८८
४६ क्षत्रियत्वावगतेश्च	१५९
(ग)	
४७ गतिशब्दाभ्यां तथा हि०	१४३
४८ गतिसामान्यात्	५१
४९ गुहां प्रविष्टा०	९५
५० गौणश्चेन्नात्म०	४१
(च)	
५१ चमसवदवि०	१८०
(छ)	
५२ छन्दोभिधाना०	७२
(ज)	
५३ जगद्वाचित्वात्	१९०
५४ जन्माद्यस्य यतः	१७
५५ जीवमुख्यप्राण०	१९१
५६ जीवमुख्यप्राण० नेति चेन्नो०	७९
५७ ज्ञेयत्वावचना०	१७५
५८ ज्योतिरुपक्रमा०	१८४
५९ ज्योतिर्दर्शनात्	१६७
६० ज्योतिश्चरणा०	६९
६१ ज्योतिषि भावा०	१५८
६२ ज्योतिषैकेषाम०	१८८
(त)	
६३ तत्तु समन्वयात्	२९
६४ तदधीनत्वा०	१७५
६५ तदभावनिर्धारणे०	१६०
६६ तदुपर्यपि बाद०	१५०
६७ तद्धेतुव्यप०	५६
६८ तन्निष्ठस्य मो०	४३
६९ त्रयाणामेव०	१७८
(द)	
७० दहर उत्तरेभ्यः	१४३
७१ द्युभ्वाद्यायतनम्०	१२५
(ध)	
७२ धर्मोपपत्ते०	१३७
७३ धृतेश्च महिम्नो०	१४४
(न)	
७४ न च स्मार्तमतद्धर्मा०	११०
७५ न वक्तुरात्मोपदेशा०	७८
७६ न संख्योपसंग्रहा०	१८६
७७ नानुमानमतच्छ०	१२८
७८ नेतरोनुपपत्तः	५७
(प)	
७९ पत्यादिशब्द०	१७०
८० परिणामात्	१९९
८१ प्रकरणाच्च	९४
८२ प्रकरणात्	१३४
८३ प्रकृतिश्च प्रति०	१९७
८४ प्रतिज्ञाविरोधात्	४८
८५ प्रतिज्ञासिद्धेर्लिं०	१९४
८६ प्रसिद्धेश्च	१४४
८७ प्राणभृच्च	१३०
८८ प्राणस्तथानु०	७६
८९ प्राणादयो वाक्य०	१८७
(भ)	
९० भावं तु वादराय०	१५८

सू० ग०	पृष्ठे
९१ भूतादिपादोपदेश०	७३
९२ भूमा संप्रसादाद०	१३६
९३ भेदव्यपदेशा०	५८
९४ ,, ,, चान्य:	६५
९५ ,, ,,	१३३
(म)	
९६ मध्वादिष्व०	१५६
९७ महद्वच्च	१८०
९८ मान्त्रवर्णिकमे०	५७
९९ मुक्तोपसृप्यव्य०	१२७
(य)	
१०० योनिश्च हि गी०	१९९
(र)	
१०१ रूपोपन्यासाच्च	११६
(व)	
१०२ वदतीति चेन्न०	१७६
१०३ वाक्यान्वयात्	१९३
१०४ विकारशब्दान्नेति०	५५
१०५ विरोध: कर्मणीति०	१५१
१०६ विवक्षित०	८३
१०७ विशेषणभेदव्यप०	११३
१०८ विशेषणाच्च	९९
१०९ वैश्वानर: साधारण०	११६
(श)	
११० शब्द इति चेन्नात:०	१५२
१११ शब्दविशेषात०	८६
११२ शब्दादिभ्यो०	११८
११३ शब्दादेव प्रमि०	१४८

सू० ग०	पृष्ठे
११४ शारीरश्च	११०
११५ शास्त्रदृष्ट्या०	७९
११६ शास्त्रयोनि०	२३
११७ शुगस्य०	१५८
११८ श्रवणाध्ययनार्थप्रति०	१६१
११९ श्रुतत्वाच्च	५३
१२० श्रुतोपनिषत्क०	१०४
(स)	
१२१ संस्कारपरामर्शा०	१६०
१२२ समाकर्षात्	१९०
१२३ समाननामरूप०	१५५
१२४ सम्पत्तेरिति जै०	१२२
१२५ संभोगप्राप्तिरिति०	९०
१२६ सर्वत्र प्रसिद्धो०	८१
१२७ साक्षाच्चोभया०	१९८
१२८ साक्षादप्यवि०	१२१
१२९ सा च प्रशासनात्	१३८
१३० सुखविशिष्टाभि०	१०३
१३१ सुषुप्त्युत्क्रान्त्यो:०	१६९
१३२ सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्	१७४
१३३ स्थानादिव्यप०	१०२
१३४ स्थित्यदनाभ्यां च	१३५
१३५ स्मर्यमाणमनुमानं०	११७
१३६ स्मृतेश्च	८६
१३७ स्वाप्ययात्	४९
(ह)	
१३८ हृद्यपेक्षया तु०	१४९
१३९ हेयत्वावचनाच्च	४४

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-परमहंसपरिव्राजक-स्वामिश्रीभगवदाचार्यजी-
महाराजप्रणीत सूत्रप्रसादिनीवृत्तिसहित
श्रीभगवद्व्यासप्रणीत

वेदान्तदर्शन

प्रथम अध्याय-प्रथमपाद

न जाने कबसे, परन्तु आर्य जगत्में धर्माचरणमें ईश्वरस्मरण, ईश्वरनिमित्तक दानपुण्यादि क्रियाका समावेश हो चुका है। दान पुण्यादि क्रियाओंका फल तो निश्चय ही है, वह चाहे ईश्वरके नाम परकी जाएँ चाहे दयाकी पवित्र वेदीपर की जाएँ और चाहे मानवताके उच्चकोटिके सिद्धान्तको सम्मुख रख कर की जाएं। जो हो, अब ईश्वरका जगत्में अपना एक नियत स्थान है। वेदोंके निर्माण-कालमें ईश्वर एक अस्थिर और समस्यापूर्ण वस्तु था। वह प्रार्थना करनेसे प्रसन्न होता है, अनिष्टाचरणसे रुष्ट हो जाता है, सबको सब कुछ वही देता है, जिसको वह चाहता है, ऊंचे ले जाता है और जिसे चाहे उसे नीचे ले जाता है, इत्यादि भावनाएं ईश्वरके सम्बन्धमें वेदकालमें थीं वह अब भी वैसी ही और उतनी ही स्फुट हैं। वेदके दार्शनिकोंने ही ब्रह्म, आत्मा, इन्द्र, वरुण, सोम, सूर्य, अग्नि इत्यादि अनेक नाम ईश्वरके शोधे थे। अथर्ववेदके समयमें "ईश्वर" यह भी नाम शोध लिया गया था। वेदोंके मन्त्रोंपर यदि भाष्यकार अपनी बुद्धिका पुट न लगा दे तो प्रतीत होगा कि वैदिक ऋषि इन्द्र, वरुण, सोम, अग्नि आदि देवोंको यज्ञभूमिमें बुलाते थे और उन्हें विश्वास था कि वह देव आते थे। ऋषिगण उनकी

प्रार्थना करता था, स्तुति करता था और संभव है कि समीहित-सिद्धिका भी अभिमान रखता था। इन देवोंके जो धर्म, विशेषण स्वरूप वर्णन किये गये हैं वही सब कुछ ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, परमेश्वरके लिये भी वर्णित हैं। अतः इससे यह भी माना जा सकता है कि अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोमादिको वैदिक ऋषि ब्रह्म मानते रहे होंगे। कितने ही ऋषियोंके विचारोंमें क्रान्ति भी हुई और उन्होंने समस्त सृष्टिको ही ब्रह्म बतानेका प्रयास किया। वेदोंमें ब्रह्मके उपासकको बहुत निर्बल भीरु, अयोग्य, अज्ञानी आदि बताया गया है। अतएव उसे सदा ही एक बलवान् अस्त्रशस्त्रधारी, अश्वारूढ, रथारूढ, धनुर्धारी आदि विशेषणवाले ईश्वरकी आवश्यकता पड़ती थी। वेदोंके साक्ष्यसे यह सिद्ध है कि सहस्रों वर्षोंसे ईश्वरका अस्तित्व स्वीकृत हो चुका है तथापि इतना तो मान ही लेना चाहिये कि उसका कोई नियतस्वरूप अभी तक अस्तित्वमें नहीं आया है। परन्तु इस तथ्यको भी छिपाया नहीं जा सकता कि आज समस्त जगत् उस अज्ञात और सर्वदा ही अज्ञेय ईश्वरके आतङ्कके नीचे है। किसीने आज तक उसका साक्षात्कार नहीं किया है, किसीने उससे वार्तालाप नहीं किया है, किसीको अभिशाप वा आशीर्वाद देता हुआ वह कभी भी नहीं सुना गया है तथापि गर्भावस्थासे ही भीरु मातापिताके जो संस्कार मनुष्य-आत्मापर पड़ते रहते हैं उन्हींका परिणाम ईश्वर और ईश्वरका आतङ्क है। लगभग यह वस्तु स्थिर है कि वेद बहुत प्राचीन ग्रन्थ हैं। जगत्के प्राथमिक पुस्तकालयमें वेद ही प्रथम पुस्तक थे। जब कहीं भी, कुछ भी, कोई भी ज्ञानसाधन नहीं था, ज्ञानशाला नहीं थी तब वेदोंका ही साम्राज्य था, उनका ही शासन था, उनका आतङ्क था और उनकी सर्वतोमुखी प्रतिष्ठा थी। आर्योंने जो कुछ सुना—वेदोंसे ही, जो कुछ सीखा—वेदोंसे ही और जो कुछ देखा—वेदोंके दिखानेसे ही। ईश्वर भी

वेदोंकी ही सम्पत्ति है। आर्योंने भागीदार भाईकी सम्पत्तिके समान उसे मनुष्यजातितक पहुँचा दिया। आर्य और म्लेच्छ, स्त्री और पुरुष सब लोगोंको ही ईश्वरका अस्तित्व वेदोंके द्वारा उपदिष्ट हुआ और ईश्वर सिंहासनारूढ बना।

सहस्रों वर्षोंके पश्चात् तत्कालीन विद्वानोंके विचारोंमें क्रान्ति हुई। ईश्वरका एक स्वतन्त्र स्वरूप और स्वतन्त्र लक्षण जाननेकी व्यापक जिज्ञासा लोकोंमें प्रकट हुई। जैमिनि, काशकृत्स्न, आश्मरथ्य, औडुलोमि, बादरि, बादरायण, वामदेव आदि विद्वानोंने अपनी मतिगतिके अनुसार ब्रह्मविवेचना की थी। दर्शनोंका युग आया। सांख्यदर्शन बहुत प्रबल था और विवेचक था। महाभारतसे पता लगता है कि महाभारतके समयमें सांख्यकी वेदोंसे भी अधिक प्रतिष्ठा थी। आज महाकवियोंमें कालिदासके समान उस समय धर्मतत्त्ववेत्ताओंमें सांख्य कनीनिकाधिष्ठित था—अग्रगण्य था। उसके विचार स्वतन्त्र थे। वह ईश्वरका श्रद्धालु नहीं था। उसके जगत्का प्राकट्य और उसका विकास उसके अपने ढंगसे हुआ था। ईश्वरवादियोंको सांख्य असह्य हो चुका था। सांख्यके निराकरणकेलिये प्रयत्न करनेवालोंमेंसे भगवान् व्यास भी एक हैं। सांख्यसिद्धान्तका खण्डन करके ईश्वरास्तित्वको सर्वगत बनाना और ईश्वरोपासनासे विभिन्न लोकोंका दर्शन और अन्तमें परमात्मदर्शनका प्रलोभन देकर सबको ईश्वरानुयायी बनाना व्यासके इस दर्शनका मुख्य प्रयोजन है।

यदि विवादग्रस्त नहीं था तो आजसे यह विषय विवादग्रस्त बन रहा है कि व्यासजीका यह वेदान्तदर्शन उपनिषदोंका अनुयायी है किंवा संहिताओंका। आजकी तिथितक जो भी भाष्य लिखे गये हैं वह सब इस दर्शनको उपनिषदनुयायी माननेवाले हैं। यद्यपि वेदान्तदर्शनके कितने ही सूत्र हैं जो यह स्पष्ट करते हैं कि

व्यासजीकी कृपादृष्टि उपनिषदोंपर भी पड़ी ही थी और उपनिषद् वेदोंसे कुछ अधिक प्रतिष्ठित थीं। परन्तु ऐसा ही व्यासजी भी मानते थे, इस माननेमें कोई भी उचित प्रमाण नहीं है। उपनिषदोंमें गाथाएँ बढ़ी हैं, गाथाओंके द्वारा प्रतिपाद्य विषयको सरल बनानेके अतिरिक्त उपनिषदोंने अधिक कुछ भी नहीं किया है, यह मेरा अपना प्रबल मत है। इसी विचारकी पुष्टिकेलिये मैंने उपनिषदोंको छोड़कर वेदोंके आश्रयसे इस वैदिकभाष्यका संस्कृतमें निर्माण किया है और उसीकी छाया इस सूत्रप्रसादिनी वृत्तिमें है। व्यासजी अपने समयमें वेदोंके सबसे बड़े विद्वान् थे। वह यदि वेदों-संहिताओंको त्यागकर यह मानते हों कि उपनिषद् ही ब्रह्मबोधिकाएँ है, तो इससे बढ़कर वेदोंका अपमान वह नहीं कर सकते थे। वेद यदि सर्वविद्याओंके पुस्तक हैं तो उनमें प्राञ्जल ब्रह्मविद्या होनी ही चाहिये। और यदि वहाँ ब्रह्मविद्या है तो उपनिषद्का ही आश्रय लेनेमें कोई विशिष्ट कारण नहीं है। उपनिषद्की कथाएँ यदि व्यासजीको अपनी ओर खींच सकी हों तो उनका उपयोग अन्य प्रकारसे भी हो सकता था जैसा कि मैंने वैदिक भाष्यमें तथा इस सूत्रप्रसादिनी वृत्तिमें किया है।

व्यासजी अपने अभिमत ब्रह्मका बोध करानेकेलिये "अथ अतः ब्रह्मजिज्ञासा" इस तीन पदवाले सूत्रसे, अथवा "अथ" को पृथक् सूत्र रखकर, "अतः ब्रह्मजिज्ञासा" इस दो पदवाले सूत्रसे ब्रह्मकी जिज्ञासा-ब्रह्मविचारका आरम्भ करते हैं।

(अथ ब्रह्मजिज्ञासाधिकरण ॥१॥)

(१) इस प्रथम सूत्रमें अथशब्द मङ्गलवाचक है। किन्हीं विद्वानोंने इसे आनन्तर्यवाचक माना है। उनके मतसे "वेदादिके अध्ययनके पश्चात् ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये" ऐसा इस सूत्रका अर्थ होता है। मङ्गलप्रयोजन तो उन्हें भी इष्ट है परन्तु "अथातो

धर्मजिज्ञासा" इस मीमांसा दर्शनके प्रथम सूत्रके अथशब्दको शबरस्वामीने आनन्तर्य अर्थवाला ही माना है अतः मैं समझता हूँ कि इस अथशब्दको भी आनन्तर्यार्थक बनानेका प्रयास किया गया है। यह अनुकरणमात्र है। धर्ममीमांसाकारको धर्ममीमांसाकेलिये वेदाध्ययनकी आवश्यकता अनिवार्य है। शुद्ध-स्पष्ट मन्त्रोच्चारण, स्वरज्ञान, पौर्वापर्य आदि कर्मकाण्डमें सतत अपेक्षित वस्तु हैं। ब्रह्मजिज्ञासाकेलिये वेदाध्ययन तनिक भी अनिवार्य नहीं है। जितने अंशमें वेदाध्ययनकी आवश्यकता मानी या मनायी जा सकती है उतने अंशमें तो ब्रह्मका जिज्ञासु वेदज्ञ होगा ही। यदि न हो तो उपदेशक उसे सिखा सकता है। आज तो ऐसा ही होता है, पूर्वकालमें भी ऐसा ही किया जाता था। केनोपनिषद्का शिष्य यदि वेदाध्ययनसे रहित न होता तो वह उस प्रकारके प्रश्नकर ही नहीं सकता था। साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन करनेवालेको यदि इतना भी पता न हो कि मन आदिको स्व-स्व-व्यापारमें कौन प्रेरित करता है तो निश्चय ही वेदाध्ययन निरर्थक हो जाता है। यदि वेदाध्ययनसे सार्थ अध्ययन नहीं किन्तु शुकपाठ अपेक्षित हो तो भी वह अध्ययन निरर्थक ही है। शुकपाठमात्र जानकर ब्रह्मजिज्ञासाका कोई अधिकारी नहीं हो सकता। उपनिषदोंसे ब्रह्मका जितना स्वरूप अवगत कराया गया है, उससे अणुमात्र भी न्यून, वेद, अवगत नहीं कराते। प्रत्युत अधिक स्पष्ट, अधिक विस्तृत और अधिक सुगमरीतिसे वेदमाता अपने पुत्रोंको ब्रह्मोपदेश करती है। अतः आनन्तर्यरूप अर्थ माननेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि व्यासजीने इससे पूर्व कुछ ऐसा ग्रन्थ लिखा हो जिसमें ब्रह्मविचारसे अतिरिक्त विचार हों अतः यहाँ उन्हें यह कहना पड़ा हो कि "उन सब बाह्य विषयोंके अनन्तर अब ब्रह्मविचार किया जाता है।" यदि किसीको आनन्तर्य अर्थमें ही

आग्रह हो तो यह अर्थ किया जा सकता है कि "ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थाश्रम पालनके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये।" ब्रह्मविचारकेलिये चतुर्थ आश्रम ही उपयुक्त है। अन्य आश्रमोंमें ब्रह्मविचार केवल नाटकीय वस्तु बन जाता है। अथवा, "विवेक, वैराग्य, इन्द्रियनिग्रह और मुमुक्षा इन चार साधनोंकी प्राप्तिके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये" यह भी अर्थ किया जा सकता है। जिज्ञासा शब्दका अर्थ विचार है। ब्रह्मजिज्ञासाका अर्थ ब्रह्मविचार है। अथ शब्दके दोनों अर्थोंको लक्ष्यमें रखकर सूत्रका यह अर्थ होता है कि "इस ग्रन्थसे ब्रह्मका विचार किया जाता है" तथा "तीन आश्रमोंके पश्चात् संन्यासाश्रममें प्रविष्ट होकर साधनचतुष्टय प्राप्त करके ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये।"

ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी कौन हो सकता है, इसका विचार करना चाहिये। हिन्दूशास्त्रोंमें चारों वर्णोंके पृथक् पृथक् कर्तव्य वर्णित हुए हैं। ब्राह्मणको अमुक कर्म करना चाहिये, क्षत्रियको अमुक, वैश्यको अमुक और शूद्रको अमुक। क्या इसी प्रकारसे ब्रह्मजिज्ञासा भी किसी एक या दो या तीन वर्णोंकेलिये विहित होनी चाहिये अथवा मनुष्यमात्रकेलिये? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मजिज्ञासा मनुष्यमात्रकेलिये है। चारों वर्णोंकेलिये है। यदि कोई वर्णबाह्य हो तो उसे भी ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकार है। विशेष-रूपसे संन्यासी ही ब्रह्मविचारका अधिकारी है। संन्यासी वर्णबाह्य होता है। उसका कोई वर्ण होता ही नहीं। वर्णानुसार प्राप्त उसके सम्पूर्ण अधिकार अस्त हो जाते हैं। वर्णोपयोगी-कर्मकाण्डोपयोगी शिखा-सूत्रादिका वह त्यागी होता है। विधि-निषेधसे वह पर हो जाता है। वह जातिके मापदण्डसे मापा नहीं जा सकता। भक्ति-मार्गके मतसे भक्तके कुलपरम्परा प्राप्त गोत्र, वंश, वर्ण सब कुछ छूट जाते हैं। वह अच्युतगोत्रिय बन जाता है। अच्युत अर्थात् भग-

वान् । भगवान्के सगोत्र बननेमें यही तात्पर्य है कि जैसे भगवान्की कोई जाति नहीं, वर्ण नहीं, आश्रम नहीं, वैसे ही भक्त भी इन निरर्थक झंझटोंसे पृथक् हो जाता है। साम्प्रदायिकोंने भक्तोंका बड़ा गुणगान किया है। भगवान्के अनन्य भक्तोंको भगवत्स्वरूप मानकर जाति-पांतिके विचारके विना ही उनकी सेवा-शुश्रूषा, साष्टाङ्गप्राणिपात और उच्छिष्टभोजनका विधान सम्प्रदायाचार्योंने तथा अन्य सामान्यशास्त्रोंने किया है। अतः मनुष्यमात्रको ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकार है। यदि कोई मनुष्य विषयलोलुप होगा तो वह स्वयं ब्रह्मजिज्ञासामें प्रवृत्त नहीं होगा। स्वतःप्राप्त ब्रह्मविचारके अधिकारको वह स्वयं छोड़ता है। परन्तु जिसकी उधर प्रवृत्ति है वह अवश्य अधिकारी है। ब्रह्मविचारकी प्रवृत्ति ही अधिकारकी द्योतिका है।

किंच ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्ण कोई ईश्वरप्रदत्त वस्तु नहीं हैं। ईश्वरकीसृष्टिमें उसके लिये कोई स्थान नहीं है। वेदोंमें एक भी ऐसा कोई मन्त्र नहीं है जो यह बताता हो कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रको ईश्वरने बनाया। वेदोंमें ऐसा भी नहीं है कि अमुककर्म अमुकको ही करना चाहिये। सामान्य आज्ञाएँ वेदोंमें हुई हैं। अपनी २ योग्यताके अनुसार सब अपने कार्यक्षेत्रको ढूँढ़ लेते हैं। वेदोंमें ब्राह्मणादि चारो वर्ण ज्ञानसेवा, बलसेवा, धनसेवा और तनसेवाके सूचक हैं। जो ज्ञानप्रदान करके मानवसमाजकी सेवा करे उसे ब्राह्मण समझना। जो सङ्कटकालमें मनुष्योंकी रक्षा करे अथवा सङ्कटसामग्रीका नाश करता रहे उसे क्षत्रिय समझना। व्यापारादिसे धनार्जन करके समाजको समृद्धिप्रदान करने वालेको वैश्य समझना। शारीरिक पुराषार्थसे समाजकी सेवा करनेवाले अपठित लोगोंको शूद्र समझना। यह सब कल्पनायें भी पीछेकी गयी हैं। वस्तुतः तो प्रत्येकजनको ब्राह्मण भी बनना चाहिये,

क्षत्रिय भी बनना चाहिये, वैश्य और शूद्र भी बनना चाहिये। जगत् में ऐसा ही है भी। मनुष्य विचारवान् प्राणी है अतः सभी मनुष्य ब्राह्मण हैं। थोड़ी बहुत सभी अपनी रक्षा करते हैं अतः सभी क्षत्रिय हैं। अपने जीवनकी सामग्रीको सभी उत्पन्न करते हैं अतः सभी वैश्य हैं। सभी अपनी सेवा कर लेते हैं अतः सभी शूद्र हैं। वेदोंमें जहाँ यह वर्णकल्पना हुई है वहाँ भी ऐसा ही है। एक ही ब्रह्मके अमुक अवयवको ब्राह्मण और अमुक अवयवको क्षत्रियादि कहा गया है। जैसे एक ही ब्रह्मके यह चार अवयव बताये गये हैं वैसे ही प्रत्येक मनुष्यके भी यह चारो अवयव हैं, अङ्ग हैं, धर्म हैं। सभी मनुष्यसमाजके सेवक हैं। कोई भी निन्दास्पद वा घृणास्पद नहीं है। वेदोंमें कहा गया है कि सभी भगगवान्के स्वरूप हैं। वर्णविधान करनेवाले जिस मन्त्रका (शु० य० ३१। १२) आधार लिया जाता है उसी मन्त्रसे यह स्पष्ट है कि सभी भगवान्के शरीर हैं। भगवान्के शरीरमें कोई प्रतिष्ठित अङ्ग है और कोई अप्रतिष्ठित, ऐसा नहीं है। भगवान्के मुखको ब्राह्मण, बाहुको क्षत्रिय, वैश्यको जङ्घा और शूद्रको चरण बताया है। भगवान्के किस अङ्गको अपवित्र या नीच मान सकते हैं? प्रथम पूजा तो भगवान्के चरणोंकी ही होती है। सर्वत्र चरणदर्शन और चरणस्पर्शका उल्लेख है। मुखदर्शन वा मुखस्पर्शका उल्लेख कभी नहीं होता हैं या अतीव अल्प होता है। बाहू और जङ्घाके तो नाम ही नहीं लिये जाते। अतः कोई नीच नहीं, कोई ऊँच नहीं। सब भगवान्के रूप हैं अतः समान हैं। और अतएव सबको समान अधिकार है। धर्मशास्त्रोंमें जो नीच-ऊँचकी भावनाका बीज बोया गया है वह अज्ञानमूलक है। उसने हिन्दूजातिको नष्ट कर दिया। हिन्दूजातिके सर्वोच्च तत्त्व-ज्ञानको कलङ्कित कर दिया। हिन्दूजाति मुख्य चार और गौणरूपसे

अनेक विभागोंमें नीच-ऊँचकी भावनाके साथ विभक्त हो गयी और आज वर्ग-विग्रहकी भूमिका तैयार हो गयी। क्षत्रियकी अवहेलना ब्राह्मण करता है और ब्राह्मणकी अवहेलना क्षत्रिय करता है। इन दोनोंकी अवहेलना वैश्य करता है और वैश्यकी अवहेलना वे दोनों करते हैं। शूद्र इन तीनोंकी अवहेलना करता है और यह तीनों शूद्रकी अवहेलना करते हैं। चारो मिलकर अन्त्यजोंकी अवहेलना करते हैं और अन्त्यज इन चारोंकी अवहेलना करते हैं। परिणाम यह हुआ है कि कोई किसीका मित्र और हितैषी नहीं रह गया और विधर्मियोंने सबको काटना शुरू कर दिया। अतः वर्गविग्रह जगानेका पापभार हमारे पूर्वजोंके शिरपर पड़ा हुआ है। मनुष्यसमाज कलङ्कित हुआ है इसका उद्धार यदि आज न होगा और वही मूर्खतापूर्ण बातें आज लाखों वर्षोंके पश्चात् भी कही, सुनी और सुनायी जावेंगी तो विद्वज्जगत् भारतीय तत्त्ववेत्ताओंके जगत्का अपमान किये विना नहीं रहेगा। सब धर्म समयानुसार होने चाहियें। आज यह कहनेका समय चला गया है कि अमुकको वेदोंका अधिकार है और अमुकको नहीं है। अमुकको ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकार है और अमुकको नहीं है। आज तो देखते हैं कि जिन्हें ब्राह्मण कहा जाता है वह चपरासी, पानीपांड़े, रसोइया और मिल-मजदूर हैं। डा० अम्बेडकर अन्त्यज हैं परन्तु वह आज बड़ी धारासभामें सदस्य हैं। अंग्रेजोंने सबको अपना दास बना रखा है। अंग्रेजोंकी दृष्टिमें जितना दासत्व शूद्रमें है उतना ही ब्राह्मण और क्षत्रियादिमें भी हैं। उतना ही हरिजनोंमें भी हैं। अंग्रेजी राज्यने किसीको छोटा गुलाम और किसीको वड़ा गुलाम माना ही नहीं। हाँ, जो उनकी बड़ी २ नौकरियोंमें हैं, जो देशद्रोह करके अंग्रेजी राज्यको तन, मन और पुष्कल धन अर्पण करके रायबहादुर,

दीवानबहादुर, रायसाहब, महामहोपाध्याय इत्यादि डिग्रीधारी बने हैं वह उसके बड़े गुलाम माने जायँ, यह दूसरी बात है। अंग्रेजोंने वेदभाष्य लिखे, वेदोंका विचार किया, वेदोंके अक्षरोंको गिन डाला, वेद, वेदान्त, न्याय, सांख्य, व्याकरण आदि सभी ग्रन्थोंको पढ़कर, समझकर भाषान्तर किया, फिर भी यही कहते रहना कि वेदोंका अधिकार केवल त्रैवर्णिकको है, केवल निर्लज्जता है। उपनिषदोंका फारसी अनुवाद दाराशिकोहने पढ़ा था और उससे उसे उतनी ही शान्ति हुई थी जितनी एक ब्राह्मणको हो सकती है। छान्दोग्योपनिषद्के रैकऋषिको तो वेदान्त और तत्त्वज्ञानसे भी शान्ति नहीं हुई थी। जब राजाने उसे पुष्कल गौवें दीं और अन्न पैदा करनेकेलिये भूमिदान दिया और बच्चा पैदा करनेकेलिये अपनी कन्या दे दी तब वह प्रसन्न हुआ था। रैक तो बहुत ही अयोग्य था तो भी उपनिषद्में उसकेलिये प्रतिष्ठित स्थान मिला है। यह सब विचारदोषके फल हैं। ब्रह्मजिज्ञासामें सबका अधिकार है।

अब यह विचारना है कि जिस ब्रह्मकी जिज्ञासाका उपदेश हुआ है वह ब्रह्म क्या वस्तु है? उसका स्वरूप क्या है? वह निर्विशेष है? अथवा सविशेष? कोई कहते हैं कि ब्रह्म निर्विशेष ही है सविशेष नहीं। क्योंकि मुण्डकोपनिषद् (१।१।६) में कहा गया है कि उसके हस्त-पादादि नहीं हैं, चक्षु और श्रोत्र भी नहीं हैं अर्थात् वह कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंसे रहित है। सर्वव्यापक है, अत्यन्त सूक्ष्म है और नित्य है। मुण्डकमें ही (२।२।९) उसे निष्कल कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।१९) में भी उसे निष्कल, निष्क्रिय और निरञ्जन कहा गया है। शुक्ल यजुर्वेद (४०।८) में भी उसे अशरीर कहा गया है। किसीका मत है कि वह सविशेष है। ऋग्वेद (१।१६४।४६) में कहा गया है कि

इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा सब ब्रह्म ही हैं। इनसे अतिरिक्त ब्रह्मका कोई स्वरूप नहीं है। सर्वजगत् ही ब्रह्म है। जगत् निर्विशेष नहीं है, सविशेष ही है। कितने ही यह कहते हैं कि दोनों प्रकारोंके प्रमाण प्राप्त हैं अतः वह निर्विशेष भी है और सविशेष भी।

तत्त्ववेत्ताओंका मत है कि ब्रह्म तो मन और वाणी तथा प्रमाणोंसे पर है। अतः न वह निर्विशेष है और न सविशेष। यह मनमाने उत्पन्न किये गये शब्द हैं जो कलहके मूल और तत्त्वज्ञानके विरोधी हैं।

एक दूसरा विचार यह है कि वह ब्रह्म वैदिक है? अथवा ब्राह्मण है? अथवा औपनिषद है? वेदमें निरूपित ब्रह्मको वैदिक ब्रह्म कहते हैं। ब्राह्मणग्रन्थोंमें वर्णित ब्रह्मको ब्राह्मण ब्रह्म कहते हैं। उपनिषदोंमें प्रतिपादित ब्रह्म औपनिषद ब्रह्म कहा जाता है। वैदिक ब्रह्म तो जगद्रूप है अर्थात् अन्न-जल-अग्नि इत्यादिस्वरूप ही है। वह सर्वविदित है। उसकी जिज्ञासा निरर्थक है। ब्राह्मणग्रन्थ भी वेदरूप ही हैं। अतः यदि वह ब्रह्म वैदिक है तो ब्राह्मण भी है, यह स्वतः सिद्ध है। शेष रहा औपनिषद ब्रह्म। वह दो प्रकारका है अद्वैत और विशिष्टाद्वैत। विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय जीव-ब्रह्म-भेदवादी है। अतः अन्य सभी भेदवादियोंका संग्रह विशिष्टाद्वैतमें ही मान लेना चाहिये। यह सब प्रश्न और विचार भी अज्ञानमूलक ही हैं। ब्रह्म वेदको कहते हैं। ब्रह्म (वेद) का व्याख्यान ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मणग्रन्थ याज्ञवल्क्य आदि ऋषियोंके द्वारा बनाये गये हैं। वेदको अपौरुषेय माना जाता है। किसी ग्रन्थके व्याख्यान मूलग्रन्थस्वरूप नहीं माने जा सकते। व्याख्यानमें व्याख्याताके अपने ही अधिकसे अधिक विचार रहते हैं। व्याख्याताके विचारको मूलग्रन्थका विचार मानकर बहुत बड़ी भूल करनी है। इस भूलका

फल आज प्रत्यक्ष है। यह स्मरणमें रखना चाहिये कि न तो वैदिक ब्रह्म केवल जगद्रूप है और न ब्राह्मणब्रह्म वैदिकब्रह्मसे गतार्थ होता है। ब्राह्मणोंकी एक निराली पद्धति है जिसका उपयोग वह किसी भी वस्तुके वर्णनमें करते हैं। रह गयीं उपनिषद्। उपनिषद् कोई भी स्वतन्त्र नहीं हैं। कोई वेदमेंसे और कोई ब्राह्मणोंमेंसे उत्पन्न हुई हैं। ईशावास्योपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदका ४० वां अध्याय है। सामवेदके जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मणके अन्तर्गत केन उपनिषद् है। कठ, मुण्डक, माण्डूक्यके कुछ स्वतन्त्र भाग हैं और कुछ संगृहीत भाग हैं। तैत्तिरीयोपनिषत् तैत्तिरीय आरण्यकका एक भाग है। ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय आरण्यकका चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ अध्याय है। छान्दोग्य उपनिषद् सामवेदीय ताण्ड्यमहा-ब्राह्मणका अन्तिम भाग है। बृहदारण्यक उपनिषद् शतपथब्राह्मण की प्रसूति है। इस विवरणसे यह निष्कर्ष निकला कि जो उपनिषद् साक्षात् वेदप्रसूता हैं और जो ब्राह्मणोंके भाग हैं, उन सबको वेदका ही अनुसरण करना चाहिये। वेदसे स्वतन्त्र होकर यदि उपनिषद् कुछ कहेंगी तो वह वैदिक सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। वैदिक-सिद्धान्त वही हो सकता है जो चारों संहिताओंसे प्रति-पादित होता हो। यह मान ही लेना चाहिये कि उपनिषद्का ब्रह्म वही ब्रह्म है जो वेदोंका। उपनिषदोंके व्याख्याता अपने विचारोंको भी औपनिषद बनानेका प्रयत्न करें यह पृथक् वस्तु है।

उदाहरणकेलिये वैदिक ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण करनेवाले ऋग्वेदके कुछ मन्त्रोंका अर्थ यहाँ लिखा जाता है। गौतम ऋषिने ऋग्वेदमें अपने शिष्यसे कहा कि "सर्वप्राणियोंका और तेरा भी कल्याण करने वाला, स्वयम् अविनाशी होकर सबको विनाशसे बचाने वाला बन्धु कौन है? तू कौन है? और तेरा आधार क्या है? इस मन्त्रमें तीन प्रश्न हैं। तीनों प्रश्नोंका जो उत्तर हैं वही ब्रह्म

हैं। तेरा बन्धु जो है वही ब्रह्म है। तू कौन है ? इस प्रश्नका उत्तर होगा कि मैं ब्रह्मोपासक हूँ, ब्रह्मका धार्य हूँ, ब्रह्मका रक्ष्य हूँ इत्यादि। इससे यह सिद्ध हुआ कि तू जिसकी उपासना करता है, तेरा जो धारणकर्ता और रक्षक है, वही ब्रह्म है" (ऋ० १।७५।३)। परुच्छेप ऋषि कहते हैं कि "हमारे और तुमारे इष्टलाभके लिये मैं ब्रह्मकी कामना करता हूँ। वह ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है, अजरत्व, अमरत्व अनादिता आदि धर्मोंसे जीवके सदृश ही ख्यातिवाला है, सर्व-व्यापक क्षमावान्, चिदचिद्विशिष्ट, ऊर्ध्वगति प्राप्त करनेमें आने वाले विघ्नोंका विनाशक, और मोक्षदशामें भी मुक्त जीवोंके साथ वर्तमान रहता है। उस ब्रह्मको जो प्राप्त करता है उसे कामक्रोधादि कोई भी शत्रु व्यथित नहीं बनाते" (ऋ० १।१२९।४) "जो सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चारित्र आदिसे विभूषित हो, तथा बहुश्रुत हो ऐसे शिष्यका वरण करके उसे ब्रह्मोपदेश देना चाहिये। उपदेष्टव्य ब्रह्म का स्वरूप क्या है, इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया कि जो अनादि और अनन्त है, सर्वका प्रियकर है अत एव सर्वका प्रेमपात्र है, सर्वको शान्ति देनेवाला है तथा सर्वजीवोंके आनन्दके लिये जिसने यह पृथिवी बिछा रखी है वह ब्रह्म है" (ऋ० ५।८५।१)। "समस्त विश्वका विधाता, महान्, प्रकाशमान, अविनाशी विघ्नोंके विनाशके लिये बलप्रदान करनेवाला, जिसके समर्थ उपासक हैं, सुन्दरगति देने वाला, सबको सन्मार्गमें ले जानेवाला वह स्तुत्य ब्रह्म तुमारी रक्षाके-लिये तुम्हारे समीपमें ही सदा रहे (ऋ० ६।१७।१३) इत्यादि मन्त्रोंमें ब्रह्मको सबका बन्धु, सबका धारणकर्ता, क्षमाशील, युक्=चिदचिद्विशिष्ट, गभीर, प्रियकर, पृथिवीका कारण, जगत्कर्ता, आदि कहा गया है। इससे वैदिक ब्रह्म सविशेष ही है निर्विशेष नहीं।

इति ब्रह्मजिज्ञासाधिकरण ॥ १ ॥

(अथ ब्रह्मस्वरूपबोधकापरपर्यायजन्माद्यधिकरण ॥२॥)

जिस ब्रह्मका विचार करना है उसका स्वरूप बतानेके लिये अब द्वितीय सूत्रका आरम्भ करते हैं—

(२) जन्मादि, अस्य, यतः इस सूत्रमें यह तीन पद हैं। जिससे जगत्की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होते हैं वही यहाँ पर ब्रह्मशब्दसे अभिमत है। ऋग्वेदमें कहा गया है कि "संवत्सर, दिन, रात्रि, सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक इत्यादिको परमेश्वर पुनः २ उत्पन्न करता रहता है।" (ऋ० १०।१९०।१-३) यजुर्वेदमें कहा गया है कि "वह परमात्मा ही पृथिवी आदि लोकोंको धारण करता है" (शु० य० १३।४), अथर्ववेदमें कहा गया है कि "हे परमेश्वर ! आप ही सर्वजगत्का विश्लेषण अर्थात् प्रलय करते हैं" (अथ० ६।६३।४)। इन वेदोंके प्रमाणोंसे सिद्ध है कि ब्रह्म अर्थात् परमात्मा ही सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कारण है। ब्रह्म ही निमित्त कारण है और ब्रह्म ही उपादान कारण है। यद्यपि उपादान कारण परिणामि होता है और ब्रह्मको उपादान कारण माननेसे ब्रह्म परिणामि हो जायगा और परिणामि होनेसे विनाशि और अनित्य हो जायगा; तथापि अचित् अर्थात् प्रकृतिके द्वारा ब्रह्मका परिणाम स्वीकार करनेसे ब्रह्म निर्दुष्ट रह जाता है। तात्पर्य यह है कि चित्=जीव और अचित्=प्रकृति यह दोनों ब्रह्मके शरीर हैं। शरीर शरीरीसे पृथक् नहीं माना जाता। अतः विकार तो शरीरमें=प्रकृतिमें होता है अतः उपादान कारण भी वस्तुतः प्रकृति ही है परन्तु उपचारसे=शरीरशरीरीके अभेदसे ब्रह्मको उपादान कारण कहा जाता है। जैसे बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था इत्यादि अवस्थाएँ शरीरकी हैं तथापि मैं बालक हूँ, मैं युवा हूँ, मैं वृद्ध हूँ, यह व्यवहार जीवात्मा करता है और इस

व्यवहार करनेसे जीवात्मा कभी भी विकारी नहीं होता, ऐसे ही ब्रह्मके शरीर=प्रकृतिमें विकार होनेपर भी ब्रह्म विकृत नहीं होता।

यहाँ इतना ध्यान रहे कि संहिताओंमें जैसे यह उल्लिखित है कि परमेश्वर जगत्को अचित् उपादानके द्वारा बनाता है वैसे ही ऐसी श्रुतियाँ भी हैं जो यह कहती हैं कि जगन्मात्र ब्रह्म ही है। जैसे कि "इस ब्रह्माण्डमें जो कुछ उत्पन्न हुआ है और जो कुछ उत्पन्न होगा, सब ब्रह्म ही है" (ऋ० १०।९०।२) "एक ही परमात्मा यह सब कुछ बन गया" (ऋ० ८।५८।२) "उत्पन्न हुए सब पदार्थ भी ब्रह्म ही है और उत्पन्न होनेवाले पदार्थ भी ब्रह्म ही होंगे" (शु० य० ३२।४) "परमात्माने अपने एक अङ्गको सहस्रों रूपोंमें परिवर्तित कर दिया" (अथ० १०।७।९)। "मेधावी क्रान्तदर्शी लोक एक ही ब्रह्मके अनेक रूपोंकी कल्पना करते हैं" (ऋ० १०। ११४।५)। "विद्वान् लोक एक ही ब्रह्मको बहुत रूपोंसे बोलते, कथन करते हैं" (ऋ० १।१६४।४६)। दोनों प्रकारके वचन हैं। अतः संहिताभागसे द्वैतवाद भी सिद्ध होता है और अद्वैतवाद भी। संगति लगानेका प्रयास निरर्थक है। संगति लगानेवाला अपनी रुचि और मतिके अनुसार संगति लगा लेगा। उसका फल कुछ नहीं है। एक पक्ष भेदवादको और दूसरा अभेदवादको मानता ही रहेगा। यही श्रुतियाँ दोनों वादोंकी सिद्धिकेलिये उपयुक्त होंगी। कलहकी भूमिका बन जायगी। सर्वोत्तम यही है कि भेद और अभेद, द्वैत और अद्वैत सबको ही वैदिक स्वीकार करना चाहिये। अमुक सिद्धान्त ही सत्य है, यह कहना अतीव कठिन है। तत्त्वनिर्णयकी बातको भूल जाना चाहिये। कभी कोई तत्त्व निर्णीत हो ही नहीं सकता क्योंकि अमुक ग्रन्थके आधारसे ही हम तत्त्वनिर्णय करना चाहते हैं। वस्तुतः ब्रह्मके विषयमें किसी वस्तुका निर्णय न होना ही ब्रह्मके माहात्म्यका द्योतक है। इति ब्रह्मस्वरूपबोधकापरपर्यायजन्माद्यधिकरण समाप्त ॥ २ ॥

(अथ शास्त्रयोनित्वाधिकरण ॥ ३ ॥)

सृष्टि, स्थिति, प्रलयका कारण ब्रह्म है, इसमें सूत्रकारको प्रमाण उपस्थित करना चाहिये। अतः प्रमाणउपस्थित करनेके लिये यह सूत्र है—

(३) सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कारण ब्रह्म है इसमें शास्त्र= वेद प्रमाण हैं। आजतक तो किसीने देखा नहीं है कि यह जगत् ब्रह्ममेंसे उत्पन्न हुआ है अथवा ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो ही नहीं सकता। प्रत्यक्षके विना अनुमान प्रमाण भी नहीं हो सकता। अतः अगत्य। शब्द प्रमाणको ही स्वीकार करना पड़ता है। वेदप्रमाण वहुतसे गतसूत्रके भाष्यमें लिखे गये हैं। थोड़ेसे यहाँ भी लिखे जाते हैं। "जिस समय परमात्माने जगत्का निर्माण किया उस समय उसका अधिष्ठान= निवास स्थान क्या था? उपादान कारण क्या था? क्रिया किस प्रकारकी थी? और निमित्त कारण क्या था? (यजु० १७।१८)। इस मन्त्रमें परमात्माने ही जगत्का निर्माण किया है, इतना मानकर ही प्रश्न किये गये हैं। इन प्रश्नोंका उत्तर अग्रिम मन्त्रमें दिया गया कि "वह परमात्मा अकेला ही जगत्का निर्माण करता है। उसका कोई अधिष्ठान नहीं था, कोई उपादान नहीं था, कुछ नहीं था। इसी भावको प्रकट करनेकेलिये ब्रह्मको विश्वतश्चक्षु, विश्वतो मुख, विश्वतोवाहु और विश्वतस्पात् कहा गया है। इस आधी ऋचामें ब्रह्मको विश्वतोवाहु कहकर उत्तरार्धमें वाहुभ्याम्=दो हाथोंसे वह जगत्को गति देता है—वनाता है, ऐसा कहा गया है। विश्वतो-वाहुका अर्थ है कि सव ओर उसके हाथ हैं अथवा सव कुछ उसके हाथ हैं। सव कुछमें धर्माधर्मका भी समावेश होता है। अतः इन्हीं धर्म और अधर्मरूप दो हाथोंसे वह जगत्को वनाता है।

अर्थात् उसे अन्य किसी साधनकी आवश्यकता नहीं है। केवल पूर्वजन्मोंके किये हुए धर्म और अधर्मको ध्यानमें रखकर वह विश्वकर्मा जगत्को बनाता है। उत्तरार्धका एक यह भी अर्थ है कि वह ब्रह्म अकेला ही प्राणियोंको हाथोंसे और पैरोंसे जोड़ता है—संयुक्त करता है (शु० य० १७।१९)। यह दोनों मन्त्र ऋग्वेद (१०।८१।२-३) में भी हैं। इन मन्त्रोंसे प्रथम तो यह सिद्ध होता है कि वह जगत्को विना किसी उपादानके ही बनाता है। अतः विशिष्टाद्वैतकी अचित् और अद्वैतवादकी माया दोनों ही उपादानरूपसे नहीं रह जातीं। सृष्टि बनानेमें वह स्वयं समर्थ होता है। केवल जीवोंके धर्माधर्मका विचार करके वह जगत्को बना लेता है। इस मन्त्रमें "पतत्रैः शब्द पैरकेलिये आया है। प्राणियोंको दो हाथोंसे जोड़ता है और पैरोंसे जोड़ता है, यह उत्तरार्धका अर्थ है। दो हाथवाले मनुष्य ही हैं। बहुत पैरोंवाले पशु, कीट, पतङ्ग आदि हैं। बाहुभ्यामका "दो हाथोंसे प्राणियोंको युक्त करता है" यह अर्थ माननेपर धर्माधर्मरूप अर्थ छूट जाता है। तब धर्माधर्म उपादान भी नहीं रह जाता। स्वसामर्थ्यसे ही और स्वेच्छासे ही सर्वजगत्का ब्रह्म निर्माण करता है, यह सिद्ध हो जाता है। तब ब्रह्मका क्रीडामात्र ही जगत् है, ऐसा प्रतीत होता है। "पतत्रैःका" अर्थात् परमाणु अथवा पञ्चभूत भी होते हैं। तब यह भी सिद्ध होता है कि भूतोपादानसे ही वह प्राणियोंको दो हाथोंसे युक्त करता है। ऊपर कहा गया है कि दो हाथ केवल मनुष्यको ही होते हैं अतः यह मन्त्र केवल मनुष्यसृष्टिको बतानेवाला ही बन जाता है। बाहुभ्यामका धर्माधर्म अर्थ माननेसे और "पतत्रैःका" चरणरूप अर्थ माननेसे यह मन्त्र केवल पशुओंकी ही सृष्टिका वर्णन करनेवाला बन जाता है। बाहुभ्यांका धर्माधर्म अर्थ माननेसे और पतत्रैःके साथ बाहुभ्यामका अध्याहार करनेसे

यह मन्त्र मनुष्ययोनि और तिर्यग्योनि दोनोंका वर्णन करने लग जाता है। तब यह सिद्धान्त भी निकलने लग जाता है कि मनुष्य कर्मानुसार पशु भी बनता है। क्योंकि पशु स्वयं धर्माधर्मज्ञान-विहीन होता है। उसकेलिये कोई शास्त्र भी नहीं है। अतः यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि पूर्व पशुयोनिमें किये गये हुए कर्मोंके अनुसार प्राणी बनाया जाता है। केवल यही माना जा सकता है कि मनुष्ययोनिमें किये हुए कर्मोंके अनुसार जीव मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि योनियोंमें जाता है। इस मन्त्रके अस्पष्ट होनेसे अनेक बातें सिद्ध की जा सकती हैं। परन्तु वह तथ्य होंगी या अतथ्य होंगी, इसका निर्णय नहीं ही हो सकता। अतः इसे यहाँ ही छोड़ देता हूँ।

(४) जगत्कर्ता ब्रह्म ही है अन्य नहीं, अब तक यह गया है। इसपर पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि सृष्टिका व्यापार तो कोई जीव भी कर सकता है। इसका उत्तर देते हैं। जगत्कर्तृत्वादिका अबाधितरूपसे अन्वय=सम्बन्ध ब्रह्ममें ही हो सकता है, जीवमें नहीं। क्योंकि वेदोंमें कहा गया है कि "पृथिवीका धारण करनेवाला परमात्मा ही है। उसीको तीनों लोक नमस्कार करते हैं। पवित्र-भावनावाले मनुष्योंमें उसका निवास है। सर्व प्रजाओंमें वह प्रशंसनीय है।" (अथ० २।२।१) "सब पदार्थोंके हे परमेश्वर, आप ही महान् अधिष्ठाता हैं। सब पदार्थोंको आप अत्यन्त समीप से देखते हैं। आपके माहात्म्यको परम विद्वान् ही जान सकते हैं" (अथ० ४।१६।१)। यह सब वेदोक्ति किसी भी जीवमें संगत नहीं हो सकती। अतः जगत्का कर्ता धर्ता सब परमात्मा ही है, तथा वह केवल शास्त्रप्रमाणसे सिद्ध है।

कितने ही भद्र पुरुषोंका मत है कि जगत् अनादि है। इसका उत्पादक कोई नहीं है। जगद्रूप जालमें जीवोंको बाँधकर असह्य

पीड़ा देना यह किसी भी दयालु और विवेकी परमेश्वरका कार्य नहीं हो सकता। जगत् सर्वथा अपूर्ण है। अपूर्ण जगत्का कर्ता भी अपूर्ण ही हो सकता है। ईश्वरको जगत्कर्ता माननेसे वह भी अपूर्ण ही सिद्ध होगा। जीवोंके कष्टोंको देखकर, वह ईश्वर सर्वथा निर्दय ही है, यही कहना पड़ता है। अपने पूर्वजन्मोंके कर्मोंके फल सब जीव भोग रहे हैं, परमात्मा न्यायी है अतः न्यायपूर्वक सबको फल भोग करा रहा है, फलभोग कराकर, जीवोंको पवित्र बनाता है, यही उसकी दया है, यह सब कथन केवल बालसंमोहन हैं। कोई जलसे मरता है। कोई जल विना मर रहा है। कोई आगमें जलाकर मारा जाता है। कोई काटा जाता है। कोई गोलियोंका लक्ष्य बनता है। कोई रोगोंसे पीड़ित होकर त्राहि त्राहि कर रहा है। यह सब परमेश्वरके राज्यमें यदि हो तो उसके राज्यका अन्त हो जाना चाहिये। यदि यही अभिप्राय सत्य हो कि सब अपने २ कर्मोंके फल भोग रहे हैं तब किसीके राज्यमें प्रजा पीडित हो तो वह राजदोष माना ही नहीं जा सकता। वह ईश्वरीय इच्छा ही होगी, ईश्वरीय व्यवस्था ही होगी। तब दान, पुण्य, दया, सेवा आदि सब निरर्थक होंगे। क्योंकि ईश्वरने जिसे दुःखी बनाया है, यदि कोई उसे सुखी बनाने जाय तो वह ईश्वरका प्रतिद्वन्द्वी बनेगा। ईश्वरवादी ईश्वरका प्रतिद्वन्द्वी नहीं बनना चाहेगा, अतः दयाधर्मका प्रलय हो जायगा। यदि कहो कि दया करना जीवधर्म है, अतः उसे दया करते ही रहना चाहिये। तो यह कहा जा सकता है कि दया, ईश्वरका भी धर्म होना चाहिये। वह शारीरिक दण्ड न देकर किसी ऐसे दण्डका निर्माण कर सकता है जिसमें प्रजापीडन न हो और सत्पथका प्रचार हो। दण्डद्वारा सुधार कभी किसीका होता ही नहीं है। अतः परमात्मा अपने बच्चोंको प्रेम और सुखसे सन्मार्गमें चला सकता है। वह यदि हृदयमें ही बैठा हुआ है तो

वहाँसे ही सन्मार्गमें चलनेकी प्रेरणा कर सकता है। परन्तु वस्तुतः ईश्वर कुछ कर नहीं रहा है, क्योंकि उसका अस्तित्व ही नहीं है। किं च यदि जगत्का कर्ता कोई माना जावे तो ईश्वरका कर्ता भी कोई क्यों न माना जावे ? अनवस्थादि दोषोंके भयसे यदि ईश्वरके जनककी शोध न की जानी चाहिये तो उसी दोषसे जगत्के जनककी भी शोध नहीं होनी चाहिये। जैसे ईश्वरको अजन्मा मान लिया गया है वैसे ही जगत्को भी अजन्मा ही मान लेना चाहिये और वस्तुतः वह अजन्मा ही है। उसका कोई जनक नहीं है।

कुसमाञ्जलि (न्यायग्रन्थ) के कर्ता पण्डित श्री उदयनाचार्यजीने तथा वैशेषिकदर्शनके कर्ता कणादमुनिने ईश्वरके अस्तित्वके लिये निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं। "(१) जगत् उत्पन्न हुआ है अतः उसका कोई कर्ता होना चाहिये। (२) सृष्टिके आरम्भमें परमाणुद्वयके संयोगसे जगत् उत्पन्न होता है। परमाणु जड हैं। वह स्वयं संयुक्त हो नहीं सकते, अतः उनका संयोजक ईश्वर है। (३) ब्रह्माण्डका पतन हो जाय यदि कोई ईश्वर उस पतनके विरुद्ध प्रयत्न करनेवाला न हो। (४) ब्रह्माण्ड विनाशशील है और उसका विनाश करनेवाला कोई प्रयत्नवान् ईश्वर है। (५) सृष्टिके आरम्भमें घट पट आदि संज्ञाओंके व्यवहारका प्रारम्भ करनेवाला कोई स्वतन्त्र पुरुष होना ही चाहिये और वही ईश्वर है। (६) वेदजन्यज्ञान किसी यथार्थवक्ताके यथार्थज्ञानसे जन्य है। वेद ईश्वरका अस्तित्व प्रतिपादन करता है अतः ईश्वरका अस्तित्व है।" इन युक्तियोंमें कोई सार नहीं है। जगत् उत्पन्न हुआ है यह मानकर ही उसका कर्ता ढूंढ़ा जाता है। जगत्की नियमित उत्पत्तिमें कोई विशिष्ट प्रमाण नहीं है। उसका नाश देख करके उसकी उत्पत्तिका अनुमान निरर्थक है। ब्रह्माण्डका सर्वांशमें नाश तो किसीने देखा ही नहीं है। आज एक वृक्ष टूट गया, कल एक हिमालय शिखर

टूट गया, दूसरे दिन एक मर गया, तीसरे दिन एक मर गया इस खण्डप्रलय को देखकर महाप्रलयका अनुमान करना ही भूल है। तब तो एक सुवर्णकार एक आभूषण बनाता है अतः वह जगत् भी बनाता है, ऐसा ही क्यों न मान लिया जाय ? जगत् जब अस्तित्वमें आया होगा तो अत्यन्त अपूर्ण रहा होगा। क्योंकि वह आज सहस्रों वर्षोंके पश्चात् भी अपूर्ण ही है। पृथिवी आदिकी उत्पत्ति सूर्यसे किस प्रकारसे हुई है, इसे तो आज विज्ञानयुगमें, बच्चा भी जानता है। ब्रह्माण्डका पतन तो इसलिये नहीं होता कि प्रत्येक पदार्थमें आकर्षण शक्ति रही हुई है। प्रत्येक पदार्थ एक दूसरेको अपनी ओर खींच रहा है। इसी आकर्षण-प्रत्याकर्षणके कारण ब्रह्माण्ड स्थिर है। आज करोड़ों पदार्थ हैं, पशु है, पक्षी हैं, कीड़े, मकोड़े हैं, उन सबके नाम तो वेदोंमें कहीं नहीं आये हैं। तब यह कैसे माना जाय कि नाम-व्यवहारका प्रयोजक ईश्वर है। यह सब व्यवहार तो सहस्रों वर्षोंके पश्चात् स्थिर हुए हैं। आज अणुबॉम्ब आया है ! उसका नाम तो वेदोंमें कहीं नहीं है, मोटर, साइकिल, रेलगाड़ी, टेलिग्राफ, टेलिफोन, फोनोग्राफ, रेडियो आदि आजके सहस्रों पदार्थोंके नाम आज ही कल्पित हुए हैं। कल यह पदार्थ ही नहीं थे। इन निरर्थक तर्कोंसे ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः भगवान् व्यासकी दृष्टिमें वेद परम प्रामाणिक वस्तु हैं। वह जो कहें, वही सत्य है। वेद कहते हैं कि ईश्वर है, अतः ईश्वरका अस्तित्व मान लेना चाहिये। इति समन्वयाधिकरण॥ ४॥

(५) जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहारका कर्ता परमेश्वर ही क्यों ? कोई जीव या कोई जड जिसे सांख्यदर्शनवाले प्रधान कहते हैं, जगत्का कर्ता आदि क्यों न माना जावे, इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

सूत्रमें ईक्षतिका अर्थ है ईक्षण, दर्शन, विचार इत्यादि।

ऋगादि वेदोंमें कहा है कि "हे परमेश्वर आपही सब प्रजाओंके पाप-पुण्यके द्रष्टा हैं, साक्षी हैं, अनिष्टमार्गसे सबको निवृत्त करनेवाले भी आप ही हैं।" (ऋ० ४।२०।८) "दण्डप्रदान करनेमें कुशल हे परमेश्वर ! पापियोंको आपही जानते हैं। आपके क्रोधको नमस्कार हैं।" (अथ० १।१०।२) "इस आश्चर्यपूर्ण जगत्को बनाकर या भविष्यत्में जिस जगत्का आप निर्माण करेंगे उसे भी आप संभालते हैं।" (ऋ० १।२५।११)। "जिसमें ज्ञानका भण्डार वेद निहित है उसी परमात्माकी कृपासे हम मृत्युमुखसे छूट सकते हैं।" (अथ० ४।३५।६)। इन वेदवचनोंसे प्रतीत होता है कि कोई जीव या जड जगत्कर्ता नहीं हो सकता है। ब्रह्मसे भिन्नको जगत्कर्ता माननेमें वेदप्रमाण नहीं है।

(६) यदि ईक्षणव्यवहारसे ही ब्रह्मको जगत्कर्ता आदि माना जाता हो तो वह ईक्षण तो गौणरूपसे भी माना जा सकता है। जैसे कि "रथ जाता है," "पाषाण रोते हैं" इत्यादि गौण व्यवहार होते हैं। इसका उत्तर करते हैं—

जहाँ २ ईक्षणव्यवहार हुआ है वहाँ सर्वत्र आत्मशब्दका प्रयोग हुआ है अतः स्पष्ट ही है कि वहाँ गौण ईक्षण नहीं है किन्तु चेतनप्रयुक्त मुख्य ईक्षण है। ऋग्वेदमें (१।१३२।५; ४।३०।८) स्पष्ट ही ईक्षणकर्ता इन्द्र और इन्द्र-सोम क्रमसे वर्णित हुए हैं॥

(७) जगत्कर्तामें जिसकी निष्ठा हो उसे मोक्षप्राप्ति होती है ऐसा अथर्ववेद (१०।८।४४) में और ऋग्वेद (८।४।७) में कहा गया है। शुक्लयजुर्वेदमें कहा गया है कि उसी ब्रह्मके ज्ञानसे ही जन्ममरणको पार किया जा सकता है। अन्य उपाय नहीं है (३१।८)।

(८) वेदोंमें सर्वत्र जडको त्याज्य कहा गया है। जो जडकी

उपासना करता है और ब्रह्मको नहीं जानता है उसकी मुक्ति नहीं होती है ऐसा ऋग्वेद (१।१६४।२२) का उपदेश है। यदि जड ही कर्ता होता तो उसकी उपासनाका निषेध किया गया होता। निषेध नहीं किया गया है प्रत्युत "पिता" का ज्ञान आवश्यक बताया गया है अतः जगत्कर्ता जड नहीं है ॥

(९) अथर्ववेदमें कहा गया है कि "परमात्माका आश्रय अमृत है और उसका त्याग मृत्यु है (४।२।२)। यदि जडको जगत्कर्ता मानकर उसीकी उपासना करें और ब्रह्मका त्याग कर दें तो वेदकी प्रतिज्ञाका भङ्ग हो जायगा। अत एव जड कर्ता नहीं हो सकता ॥

(१०) यह भी एक कारण है कि श्रुतियोंमें लिखा है कि प्रलयकालमें जीव और भौतिक जगत् सब कुछ उसी परमात्मामें लीन होकर रहते हैं (शु० य०)। यह एक नियम है कि कार्य अपने कारणमें लीन होता है। यह माना गया है कि सुषुप्ति अवस्थामें भी जीव अपने कारण ब्रह्ममें लीन होता है। अद्वैतमतमें भी वस्तुतः जीव कार्य नहीं है परन्तु यदि वह औपाधिक मान लिया गया है और उसे सान्त भी माना गया है तो उसे कार्य कहने और माननेमें कोई पाप नहीं है। उस मतमें कार्य जीवका अपने कारण ब्रह्ममें सुषुप्तिकालमें अप्यय हो सकता है परन्तु विशिष्टाद्वैतमतमें जीव औपाधिक न होनेसे कार्य कभी भी नहीं हो सकता। यदि कार्य नहीं तो कारणमें लीन होना भी नहीं हो सकता। परन्तु विशिष्टाद्वैतवादियोंने भी सुषुप्तिकालमें जीवका स्वकारण ईश्वरमें अप्यय होना माना है। यह संभव कैसे हो सकता है? इसके दो समाधान हो सकते हैं। एक तो यह कि वेदोंमें ईश्वरको जीवका पिता लिखा है। वह पितृत्व केवल इस-लिये कि प्रलयावस्थामें सूक्ष्मरूपसे रही हुई अचित्के साथ सृष्टि-

कालमें जीव भी स्थूलावस्थाको प्राप्त करता है। यह स्थूलावस्था ही गौणरूपसे जीवकी कार्यता है। दूसरा समाधान यह कि, केवल जन्मको ही कार्य न कहकर जिसे २ ईश्वर स्वेच्छासे नियाम्य और उपयोज्य स्वीकार करता है उसको भी कार्य कहना उचित ही है। अतः सुषुप्तिकालमें जीवका स्वकारणमें अप्यय होना माना जा सकता है। यदि जड अथवा जीवचेतनादि ब्रह्मेतर पदार्थ ही जगत्कर्ता हों तो चेतनका जडमें अपीत होना अथवा किसी जीवमें अपीत होना मानना पड़ेगा। वह वेद विरुद्ध है। इसलिये भी जगत्का ब्रह्म ही कारण है अन्य नहीं।

(११) दूसरा एक कारण यह भी है कि यह ब्रह्ममीमांसा स्वतन्त्र दर्शन होने पर भी वेदाधीन तो है ही। वेदमें जैसा कहा गया है वैसा ही इसे भी मानना चाहिये। वेदमें (अथ० ५। ११।१;३,४,११) ईश्वरको ही जगत्कर्ता कहा गया है अतः इस दर्शनमें वही गति होनी चाहिये॥

(१२) वेदोंमें सुना जाता है कि "परमात्माने ही द्युलोकको स्थिर किया है, पृथिवीलोकका विस्तार किया है, तथा सब पदार्थोंमें प्रविष्ट होकर वही बैठा हुआ है" (ऋ० ८।४२।१ "वही हमारा बन्धु है, जनक है और पालक है" (शु० य० ३२।१०)। अतः ईश्वर ही जगत्कर्ता है। इति ईक्षत्यधिकरण॥ ५॥

(आनन्दमयाधिकरण॥ ६॥)

(१३) वह परमात्मा आनन्दस्वरूप है। वेदोंमें (ऋ० ८।४४।२४;१।९८।१;७।५५।१) सर्वत्र उसे आनन्दस्वरूप ही कहा गया है।

(१४) तेरहवें सूत्रमें ब्रह्मको आनन्दमय कहा गया है। व्याकरणमें "मयट्" एक प्रत्यय है। वह विकारअर्थमें होता है।

आनन्दमयका अर्थ केवल आनन्दका विकार हो सकता है आनन्द-स्वरूप नहीं, इस प्रकारकी शङ्काका समाधान करते हैं कि केवल विकार ही अर्थ नहीं, प्राचुर्य अर्थ भी "मयट्" का होता है। प्राचुर्यका अर्थ यहांपर "ताद्रूप्य" है। अतः आनन्दमयका आनन्द-रूप अर्थ होता है।

(१५) लौकिक आनन्दका हेतु ब्रह्म है, ऐसा वेदोंमें कहा है। यदि ब्रह्म स्वयम् आनन्दस्वरूप न हो तो वह आनन्दका हेतु नहीं हो सकता। अथर्ववेदमें कहा है कि "ब्रह्म ही परमानन्द और सामान्य आनन्दका प्रदाता है" (१०।२।९)। ऋग्वेदमें कहा है "वह परमात्मा ही सुख देता है" (१।५४।११) "तू ही सुख-प्रदाता है" (१।३१।७)। इससे सर्व आनन्दका वही हेतु है और अत एव स्वयम् आनन्दस्वरूप है।

(१६) वेदोंमें जिस ब्रह्मका उपदेश किया गया है उसीका उपदेश इस शास्त्रमें भी किया जा रहा है। वेदोंमें उपर्युक्तमन्त्रोंसे तथा "वह अकाम है, धीर है, अमृत है और रससे तृप्त है" (अथ० १०।८।४४) इस मन्त्रसे भी उसे आनन्दस्वरूप ही कहा गया है। "रससे तृप्त" का तात्पर्य आनन्दस्वरूप ही है।

(१७) इन वेदोंके मन्त्रोंसे, ब्रह्मसे भिन्न जीवका निर्देश नहीं समझना चाहिये, क्योंकि जीव कभी भी "रससे तृप्त" नहीं होता। विशिष्टाद्वैतमतमें मुक्त जीव भी भगवच्चरणारविन्दका प्रतिदिन पान करता हुआ भी अतृप्त ही रहता है। अद्वैतमतमें जब जीव "रसतृप्त" बनता है तब वह जीव ही नहीं रह जाता॥

(१८) जीव और ब्रह्मका वेदोंमें सर्वत्र भेद ही वर्णित है। अतः ब्रह्मधर्म जीवमें कभी आ ही नहीं सकते। ऋग्वेदमें कहा गया है कि "हे परमेश्वर ! हम तेरे नित्य ही सखा बना रहें" (७।२१।९) "हे दर्शनीय परमेश्वर ! तेरे माहात्म्यको कोई भी

नहीं प्राप्त कर सकता" (७।२२।८)। अन्य भी श्रुतियाँ हैं जो जीव और ब्रह्मका भेद बताती हैं ॥

(१९) प्रत्यक्ष और शब्दप्रमाणसे अतिरिक्त प्रमाणको अनुमान कहते हैं। ऋग्वेदमें कहा है कि "कल्याणस्वरूप सारथि रमणीय स्थानमें बैठकर जहाँ २ इच्छा करता है वहाँ वाजीको ले जाता है" (६।७५।६)। यह आलङ्कारिक वर्णन है। उस परमात्माका कोई रथ नहीं है, कोई घोड़े नहीं हैं। सत्ता ही उसका रथ है। उसका सङ्कल्प ही अश्व है। वह इच्छा करता है कि भारतकी उत्तरदिशा-में हिमालय बनाना चाहिये। इस इच्छाके पश्चात् वह संकल्प करता है कि "इस प्रकारका हिमालय अमुक प्रदेश में बनो"। संकल्प-के साथ ही हिमालय बन जाता है। ऐसा सङ्कल्पबल किसीमें नहीं है अतः आनुमान=प्रधान=प्रकृति भी ब्रह्म और आनन्दरूप नहीं है।

(२०) उपास्य परमात्मामें उपासकजीवका योग-सम्बन्ध वेदों में वर्णित है। जैसा कि ऋग्वेदमें कहा है "हे परमेश्वर! आपके सम्बन्धसे हम अवश्य ही अपने ध्येय-मोक्षको प्राप्त करेंगे" (१।१०२।४)। जीव अथवा प्रधानके योगसे मुक्तिप्राप्तिका वर्णन वेदोंमें कहीं नहीं है। अतः प्रधानादि ब्रह्म नहीं हैं। इति आनन्द-मयाधिकरण ॥ ६ ॥

(अथ अन्तर् अधिकरण ॥ ७ ॥)

(२१) वेदोंमें अन्तर्-शब्दसे भी ब्रह्मका बोध कराया गया है। जैसा कि यजुर्वेदमें कहा है "अन्तः=सर्वव्यापक वह परमात्मा सर्वदा साथ रहनेवाली और सर्वत्र जानेवाली कारुण्यवृत्ति, वात्सल्यवृत्तिको अथवा कारुण्यादि अपने धर्मोंको धारण करता हुआ विश्वमें व्यापक है" (३७।१७)।

(२२) यदि सबके अन्तर्निहित होनेसे ब्रह्म अन्तर् कहा जाता

है तो जीवको ही अन्तर् क्यों न कहा जाय ? क्योंकि वह भी अन्तर्निहित ही है। इसका उत्तर इस सूत्रसे किया गया है। ब्रह्म सर्वान्तर्निहित है, जीवान्तर्निहित भी है। जीव अधिकसे अधिक एक शरीरान्तर्निहित है। अतः वह अन्तर् नहीं कहा जा सकता। सर्वान्तर्निहितको ही वेदोंमें अन्तर् कहा गया है अन्य धर्मोंसे भी जीव-ब्रह्मका भेद उपदिष्ट हुआ है। इत्यन्तर् अधिकरण ॥७॥

(अथ आकाशप्राणाधिकरण ॥ ८ ॥)

(२३) आकाशशब्दसे और आकाश अर्थवाले अन्य शब्दोंसे भी ब्रह्मका उपदेश वेदोंमें किया गया है। यजुर्वेदमें कहा है कि तू नभः—प्रतीत न होता हुआ भी सर्वत्रगामी है" (५।३२)। ऋग्वेदमें कहा है कि "उस अविनाशी परम व्योम=आकाशमें सब ऋचाएं और सर्वदेव निवास करते हैं" (१।१६४।३९)। आकाश सर्वव्यापक है। वही सर्वव्यापकतारूप लिङ्ग ब्रह्ममें भी है अतः उसे भी आकाश कहा गया है।

(२४) जैसे सर्वव्यापकतारूप आकाशलिङ्गसे ब्रह्मको आकाश कहते हैं वैसेही सबके जीवनदानरूप प्राणलिङ्गसे ब्रह्मको "प्राण" भी कहते हैं। जैसे प्राणसे ही सब प्राणी जीवित हैं वैसे ही ब्रह्मसे ही प्राण भी और अन्य प्राणी भी जीवित हैं। इत्याकाशप्राणाधिकरण ॥ ८ ॥

(अथ ज्योतिरधिकरण ॥ ९ ॥

(२५) ज्योति अर्थात् प्रकाश। प्रकाश चलता है। प्रकाशस्वरूप ब्रह्म भी, अचल होता हुआ भी चलता हुआ प्रतीत होता है। अतः उसे ज्योतिः भी कहते हैं। सूत्रमें चरण शब्दसे चलाना, ले जाना, भक्षण, रक्षण आदि अनेक अर्थ समझने चाहिये। इन सब अर्थोंमें ज्योतिःशब्दकी प्रवृत्ति यजुर्वेदमें (५।३५।१;३।४०)

ऋग्वेदमें (७।१५।१४) अथर्ववेदमें (१२।१।२०) तथा अन्यत्र भी देखी गयी है।

(२६) यहाँपर शङ्का की गयी है कि उपर्युक्त प्रमाणोंमें असन्दिग्धरूपमें ज्योतिः आदि शब्द ब्रह्मका वाचक नहीं है। ज्योति, मन, अनल, सूर्य यह सब ज्योतिके पर्याय शब्द हैं और इच्छानुसार लौकिक अर्थको भी कहते हैं। इसका उत्तर यह है कि, नहीं, ज्योतिः आदि शब्द असन्दिग्धप्रमाण नहीं हैं, ऐसा नहीं है। अर्थात् असन्दिग्ध प्रमाण ही हैं। क्योंकि वेदोंमें कहा गया है कि "जिस ज्योतिमें प्राणियोंका चित्त ओत (प्रोत) है" "अग्निदेव, मुझे पापसे बचाओ" "अग्निदेव! हम तुमारे प्रकाशकी इच्छा करते हैं" इत्यादि कथन लौकिक ज्योतिके लिये नहीं है, परमात्माकेलिये ही है। इति ज्योतिः अधिकरण ॥ ९ ॥

(अथ भूतादिपादोपदेशाधिकरण ॥ १० ॥)

(२७) भौतिक पदार्थोंमें ब्रह्मके अवयवोंकी कल्पना वेदोंमें की गयी है। इससे भौतिक पदार्थ भी ब्रह्मरूप ही हैं जैसा कि अथर्ववेदमें कहा है कि "भूमि जिस ब्रह्मकी प्रमा है, अन्तरिक्ष उदर है, द्युलोक मूर्द्धा है, सूर्य और चन्द्र जिसके नेत्र हैं, वायु जिसके प्राण और अपान हैं, अङ्गिरा चक्षु है, सुन्दर बुद्धि जिसकी दिशाएं हैं उस ज्येष्ठ ब्रह्मको नमस्कार," (१०।७।३२-३४)

(२८) भौतिक पदार्थोंमें ब्रह्मके अवयवोंकी कल्पनाके कारण सब पदार्थ ब्रह्मरूप नहीं हो सकते; क्योंकि वेदोंमें जिस प्रकारसे ब्रह्म और जगत्के विषयमें उपदेश किया गया है उससे दोनोंमें भेद प्रतीत होता है। ऋग्वेदमें कहा है कि "यह जगत् ब्रह्मके एक प्रकाशसे दिनमें प्रकाशित होता है और दूसरा जगत् दूसरे प्रकाशसे रात्रिमें प्रकाशित होता है। तीसरे प्रकाशसे वह सर्व जगत्में व्याप्त होता है।" (१०।५६।१) "हे परमेश्वर आप

स्वयम् अचल हैं अतः द्युलोकमें देवोंको स्थिर करनेकेलिये अपने प्रकाशमें प्रवेश करें" (१०।५६।२)। इन सब मन्त्रोंसे यह कहा गया है कि परमात्मा जगत्का जनक है। जनक और जन्य दोनों एक रूप कैसे हो सकते हैं ? इसका उत्तर। कार्यावस्था और कारणावस्था दोनों अवस्थाएं ब्रह्मकी हैं। अतः दोनों धर्म=जनकत्व और जन्यत्व उसमें रह सकते हैं। दोनों अवस्थाओंकी एकता कार्य-कारणके अभेद व्यवहारसे सिद्ध होती है। अथवा जैसे यवसे उत्पन्न यवके सब अंश यव ही है वैसे ही ब्रह्मसे उत्पन्न जगत्के सर्व अंश ब्रह्म ही हो सकते हैं। इति भूतादिपादोपदेशाधि-करण ॥ १० ॥

(अथ प्राणाधिकरण ॥ ११ ॥)

(२९) सूत्रमें प्राण शब्दसे अपान, व्यान, उदान और समानादिका भी ग्रहण समझ लेना चाहिये। प्राणशब्दसे भी ब्रह्मका बोध होता है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि प्राण भी ब्रह्म ही है। क्योंकि ऐसा ही अनुभव होता है। अथर्ववेदमें कहा है कि "उस प्राणको नमस्कार हो जिसकी अधीनतामें यह सकल विश्व विद्यमान है, जो सबका ईश्वर है और जिसमें सब कुछ प्रतिष्ठित है" (११।३।१)।

(३०) शङ्का करनेवाला शङ्का करता है कि वेदोंमें जिन २ मन्त्रोंका उपदेश जिन २ ऋषियोंने किया है, सर्वत्र गुरु-शिष्य-भावसे उपदेश हुआ है। जैसा कि "तेजोसि तेजो मयि धेहि" इस मन्त्रसे यह सिद्ध होता है कि मन्त्रोपदेष्टा अपने शिष्यको उपदेश करता है कि तुम परमात्मासे प्रार्थना करो कि हे परमात्मन् आप तेजःस्वरूप हैं, मुझे भी तेजःप्रदान करें। ऐसे ही प्राणप्रकरणमें भी "मैं मारुतके=प्राणके=आपके धामको जानता हूँ" (ऋ० (१।८७।६)। इसमें ऋषि आत्मस्तुति ही कर रहा है। परमात्माके

प्राणरूप होनेकी चर्चा ही नहीं है। इस शङ्काका समाधान। इस प्राणके प्रकरणमें आत्मसम्बन्धका ही बाहुल्य है, उपदेष्टा किसी ऋषिका वहाँ निर्देश नहीं है।

(३१) अथवा जैसे अन्य शास्त्रोंमें गुरुशिष्य भावकी कल्पनासे उपदेश हुआ है, ऐसे ही वेदोंमें भी माना जा सकता है। जैसे कि ऋग्वेद (४।१।७) में वामदेव ऋषिका उपदेश है। उपदेश-मात्रसे वक्ता—उपदेष्टा अपना गुण गा रहा है, यह नहीं माना जा सकता।

(३२) वेदोंमें जहाँ सब वर्णन जीवसे मिलते हैं वहाँ जीव-लिङ्ग माना जाता है। जहाँ प्राणके सब वर्णन मिलते हैं वहाँ प्राणलिङ्ग माना जाता है। प्राणशब्द लोकमें नासिकासंचारी वायुके लिये प्रख्यात है अतः यही इसका मुख्य अर्थ है। उपासना-प्रकरणमें भी जहाँ जीवलिङ्ग हो वहाँ जीवका और जहाँ मुख्य-प्राणलिङ्ग हो वहाँ मुख्यप्राणका ग्रहण क्यों नहीं करते हो? इसका उत्तर। ऐसा करनेसे तीन प्रकारकी उपासना हो जायगी। जीवोपासना, प्राणोपासना=भूतोपासना और ब्रह्मोपासना। प्रथम दोकी उपासनासे मोक्षप्राप्तिका उपदेश वेदोंमें नहीं है। तथा जो इस विश्वका स्वामी है उस प्राणको नमस्कार है" (अथ० ११।४।२३) इत्यादि श्रुतियोंमें प्राणशब्दसे ब्रह्मका ही ग्रहण है। अतः उपासनाप्रकरणकी श्रुतियोंमें परमात्माका ही योगसम्बन्ध है जीव और मुख्य प्राणादिका नहीं। इति प्राणाधिकरण ॥ ११ ॥

इति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-परमहंसपरिव्राजक-स्वामिश्रीभगवदाचार्यजी-
महाराजप्रणीतायां वेदान्तदर्शने सूत्रप्रसादिन्यां
वृत्तौ प्रथमेध्याये प्रथमः पादः।



अथ प्रथम अध्याय द्वितीय पाद

(सर्वत्र प्रसिद्धाधिकरण ॥ १ ॥)

(१) यद्यपि प्रथमपादमें भगवान् व्यासजीने ब्रह्मस्वरूपका विवरण किया है और कितने ही लोकप्रयुक्त शब्दोंको भी ब्रह्मपरक सिद्ध किया है तथापि अतृप्तके समान इस द्वितीयपादमें भी ब्रह्मस्वरूपका ही प्रतिपादन करनेकेलिये वह कहते हैं—

वेदोंमें जहाँ प्राण, इन्द्र, अग्नि, सोम इत्यादि शब्द उपासना-प्रकरणमें आवें वहाँ सर्वदा अपकर्षरहित ब्रह्मका ही उपदेश समझना चाहिये। क्योंकि उपासना सर्वश्रेष्ठकी ही की जाती है। प्रसिद्ध प्राण, अग्नि आदि सर्वश्रेष्ठ वस्तु नहीं हैं। अतः उनका ग्रहण उपासनास्थलमें कभी नहीं करना चाहिये।

(२) उपासना स्थलमें एक ही वस्तुका उपदेश किया जाता है, वह यह कि हमारी सब निर्बलताओंको और हमारे श्रेयके विघातक विकारोंको हमारा उपास्यदेव नष्ट करे। यह गुण लौकिक अग्नि आदि पदार्थोंमें कभी न तो रहा है और न रहेगा। निर्बलताओं और विकारोंके दूर करनेकी शक्ति केवल परमात्मामें ही रहती है। इसलिये भी उपासनास्थलमें परमेश्वरका ही ग्रहण करना चाहिये।

(३) शारीर=जीव। उपासना प्रकरणमें जीवलिङ्ग हो तो भी वहाँ जीवका ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंक उपासक अपने उपास्यमें जिन गुणोंका दर्शन करता है वह जीवमें नहीं हैं और नहीं होते। यद्यपि मनोमात्रग्राह्यत्व, प्राणधारकत्व, नित्यत्व, चैतन्य आदि धर्म ब्रह्मके समान ही जीवमें भी हैं परन्तु सर्वज्ञत्व,

सर्वशक्तित्व, सर्वव्यापकत्व और सर्वान्तर्यामित्वादि गुण जीवमें नहीं हैं। अतः उपासनाप्रकरणमें जीवका ग्रहण नहीं हो सकता।

(४) उपासनक्रियाका कर्म, और रक्षण आदि क्रियाका कर्ता सदा ब्रह्म ही है ऐसा उपदेश परम्परासे प्राप्त होता आ रहा है। अतः उपासनास्थलमें किसी भी लौकिक पदार्थसे भी परमात्माका ही ग्रहण होता है।

(५) परन्तु ऐसा नहीं मानना चाहिये कि कर्तृकारक का जहाँ उपदेश हो वहाँ ब्रह्मका ग्रहण करना और जहाँ कर्मकारकका उपदेश हो वहाँ जीवका ग्रहण करना। यह कर्ता, कर्म अनियत हैं। "हे अग्निदेव=परमेश्वर! हमें कल्याणकेलिये सन्मार्गसे ले चलिये" (य० ४०।१६) यहाँ परमेश्वरकेलिये कर्ताका और जीवकेलिये कर्मका व्यवहार हुआ है। "हम चराचरके स्वामी परमात्माको पुकार रहे हैं" (य० २५।१८)। यहाँपर उसकेलिये ही कर्मका व्यवहार और जीवकेलिये कर्ताका व्यवहार हुआ है।

(६) मनुस्मृतिमें लिखा है कि "सर्व जन्यपदार्थके कारण, सद्रूप तथा असद्रूप, परमात्माने प्रथम जिस जीवको उत्पन्न किया वह ब्रह्मा कहा जाता है" (१।११)। इससे यह सिद्ध है कि जीव अर्थात् देही सब जन्य हैं। उसमें ब्रह्मके धर्मोंका संभव ही नहीं है।

(७) शङ्का करनेवाला शङ्का करता है कि "ब्रह्म दशाङ्गुल-परिमाणवाला है" (य० ३१।१) "वह परमात्मा मनमें प्रविष्ट है, गर्भमें भी वह समाया हुआ है" (अथ० १०।८।२८) इत्यादि वेदवचनोंसे प्रतीत होता है कि अल्पपरिणामवाला जीव ही उपासनास्थलमें अभिप्रेत है, ब्रह्म नहीं। क्योंकि ब्रह्म दशअङ्गुलमापवाला नहीं हो सकता। बृहत् होनेसे अणुपरिमाणवाले मनमें भी नहीं समा सकता। तथा जीवको अल्पशक्तिवाला वेदोंमें कहा भी गया है। अतः जीवका ही ग्रहण करना चाहिये। इसका उत्तर ब्रह्मको

दशाङ्गुल नहीं कहा गया है। दशाङ्गुलपरिमाणवाले हृदयमें उसका ध्यान किया जाता है अतः उसे गौणरूपसे दशाङ्गुल कहा गया है। अणुपरिमाणवाले मनमें भी वह व्याप्त है, इससे ज्ञात होता है कि वह अत्यन्त सूक्ष्म है। अतः स्थूलमें भी और सूक्ष्ममें भी एकरस व्याप्त होकर रहता है। व्योम-आकाश इसका उदाहरण है। सबसे बड़ा और सूक्ष्म तत्त्व आकाश है उसमें भी वह व्याप्त होकर रहता है।

(८) जीव और ब्रह्म दोनों शरीरमें ही अथवा हृदयप्रदेशमें ही रहते हैं तो जैसे जीव शरीरमें रहकर सुख-दुःखादिका भोग करता है वैसे ही परमेश्वर भी भोग करता होगा, इस शङ्काका उत्तर। जीव और परमेश्वर दोनों शरीरमें रहते हैं तो भी परमेश्वर सुख-दुःख नहीं भोगता। जीव तो अपने पूर्वजन्मकृत कर्मोंके अनुसार सुख-दुःख भोगता है। परमेश्वरने तो कभी कोई कर्म किया ही नहीं है कि जिसका फल उसे भोगना पड़े। इति सर्वत्र प्रसिद्धाधिकरण ॥ १ ॥

(अथ अत्त्रधिकरण ॥ २ ॥)

(९) वेदोंमें ब्रह्मको कितने ही स्थलपर "अत्ता" कहा गया है। वह इसलिये कि जगत्का प्रलय करनेवाला भी वही है। प्रलयकर्ताको ही अत्ता=भक्षक कहा गया है। चर और अचर सबका प्रलयकालमें परमात्मा अपनेमें ग्रहण कर लेता है—रख लेता है अतः वह अत्ता भी कहा जाता है।

(१०) यह स्मरण रखना चाहिये कि सर्वत्र ही अत्ताका अर्थ परमात्मा नहीं होता। प्रकरणके अनुसार ही इस अर्थका ग्रहण और त्याग करना चाहिये। इति अत्त्रधिकरण ॥ २ ॥

(अथ गुहाप्रविष्टाधिकरण ॥ ३ ॥)

(११) आत्मानौ=जीव और ईश्वर दोनों ही गुहामें=हृदयमें

प्रविष्ट हैं, यह अनुभूत वस्तु है। तथापि उपासना तो ईश्वरकी ही करनी चाहिये। क्योंकि वेदोंमें ईश्वरोपासनाका ही विधान है।

(१२) वेदोंमें इसी प्रकारका विशेषण आया है। जैसा कि "युवति माया, कुमार=जीवको छिपाकर अपने उदरमें रखती है, पिता=परमात्माकी ओर नहीं जाने देती। लोक अरमणीय स्थानमें जगत्के विलासमें पड़े हुए उसे देखते हैं परन्तु उसका स्वरूप नष्ट हो गया है, इसकी ओर किसीका ध्यान नहीं जाता" (अ० ५।२।७)। इससे स्पष्ट है कि जीव अरमणीय स्थानमें पड़ा हुआ अपना स्वरूप नष्ट कर रहा है। माया उसे नहीं छोड़ती है। इस विशेषणसे भी सिद्ध है कि ब्रह्म ही उपास्य है, जीव नहीं। इति गुहाप्रविष्टाधिकरण ॥ २ ॥

(अथ अन्तरअधिकरण ॥ ३ ॥)

(१३) अन्तर=समीपस्थ। वह परमात्मा समीप ही है, दूर नहीं। क्योंकि समीप माननेसे ही वेदवाक्य भी सङ्गत होते हैं। "हे जीवो ! तुमारा प्राप्तव्य पदार्थ तुमारे पास ही है" (ऋ० ८।१८।१९) "हमारा पूर्वज हमारे पास ही बैठा हुआ है" (ऋ० १०।५३।१) इत्यादि मन्त्रोंमें ईश्वरको समीपस्थ ही कहा गया है॥

(१४) वह परमात्मा सबके समीप है अत एव सबके हस्त-पादादि अवयव उसके भी अवयव माने गये हैं। तथा सूर्यचन्द्रको उसका चक्षु अथर्ववेद (१०।७।३२) में कहा गया है, उसे सहस्त्रों पदवाला भी (य० ३१।१) कहा गया है। यह भी तभी हो सकता है जब उसे सर्वपदार्थोंके समीप माना जावे॥

(१५) ईश्वरके समीप होनेसे ही जीवोंको सुखवाला माना गया है। ईश्वर सुखस्वरूप है। अतः उसकी सन्निधिमें ही जीव भी सुखी-आनन्दी माने जाते हैं। यदि वह समीप न हो तो उसका धर्म जीवमें नहीं आ-सकता॥

(१६) वह सर्वत्र व्यापक है, सबमें है, सब कुछ है और सबके अतिसमीप है अत एव वह ब्रह्म कहा जाता है ॥

(१७) जिसने तत्त्वज्ञानका श्रवण किया है, श्रवण करके मनन किया है और उसके पश्चात् निदिध्यासन किया है, उसकी गति परमात्मा ही है अर्थात् वह परमात्माको प्राप्त करता है। यह प्राप्ति अणुजीवकेलिये तभी संभव है यदि वह समीपस्थ हो ॥

(१८) जीव अपने कर्मफलोंकेलिये एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता रहता है अत एव उसकी स्थिति नियत नहीं है, और यह असम्भव भी है कि एक जीव दूसरे जीवकी गति बने, आश्रय बने अथवा विश्रामस्थान बने। अत एव भी जीव ब्रह्म नहीं कहा जा सकता ॥ इत्यन्तर अधिकरण ॥ ४ ॥

(अथ अन्तर्यामी अधिकरण ॥ ५ ॥)

(१९) वह ब्रह्म अन्तर्यामि है। भीतर रहकर वही अधिदैव अधिभूत, अध्यात्म आदि सब पदार्थोंका यथोचित नियमन करता है। ब्रह्मके जगन्नियमनरूप धर्मका, "परमात्मा विश्वका नियामक है" (ऋ० ५।३४।६) "सर्वोत्पादक ईश्वर ही सबका दमन करता है" (अथ० ७।१४।४) इत्यादि वेदमन्त्रोंमें, व्यवहार किया गया है ॥

(२०) स्मार्तशब्दसे यहां अवैदिक प्रधान, अचित्तत्त्वका ग्रहण किया गया है। जडतत्त्व अन्तर्यामी नहीं हो सकता क्योंकि उसके इस अन्तर्यामितारूप धर्मका वेदोंमें उपदेश नहीं हुआ है ॥

(२१) जीव भी अन्तर्यामी नहीं हो सकता। क्योंकि उसकेलिये भी वेदने अन्तर्यामिशब्दका प्रयोग नहीं किया है। तथा उसका अन्तर्यामी होना असम्भव भी है ॥ इति अन्तर्यामी अधिकरण ॥ ५ ॥

(अथ अदृश्यत्वादिगुणाधिकरण ॥ ६ ॥)

(२२) भेदवादी और अभेदवादी दोनों ही जीवको परमात्मासे अथवा परमात्माको जीवसे भिन्न कहते हैं। जगत्को तो ब्रह्मरूप वेदोंमें अनेक वार कहा गया है परन्तु जीवको वेदोंमें ब्रह्मरूप कहीं भी नहीं कहा गया है। अत एव भी जीव ब्रह्म नहीं है॥

(२३) वह ब्रह्म अदृश्य, अस्पृश्य, अशरीरित्व आदि धर्मोंवाला है। ब्रह्मके यही सब धर्म वेदोंमें उपदिष्ट हैं। यथा "उस प्रथम उत्पन्न होनेवालेको किसने देखा है जो हड्डी आदिवाला न होकर भी हड्डी आदिवालोंका रक्षण, भरणपोषण करता है" (ऋ० १।१६४।४; अथ० ९।९।४) "वह विना शरीरका है, उस परमेश्वरके व्रण, नस, नाड़ी आदि कुछ नहीं हैं" (य० ४०।८)॥

(२४) यद्यपि अदृश्यत्व, अस्पृश्यत्व, अशरीरित्व आदि धर्म तो जीवमें भी हैं, अदृश्यत्व, अस्पृश्यत्व धर्म मूलप्रकृति अथवा परमाणुमें भी हैं तो भी उन दोनोंको ब्रह्म नहीं कह सकते। क्योंकि ऐसे भी विशेषण हैं जो ब्रह्मातिरिक्त अन्यत्र संगत हो ही नहीं सकते। तथा भेदव्यपदेश भी वेदोंमें हुआ है। जैसा कि "परमात्मरूप जिस निधिकी ३३ देव सर्वदा रक्षा करते हैं उसको विरल विद्वान् ही जान सकते हैं" (अथ० १०।७।२३) इसमें ब्रह्मको "ज्ञेय" विशेषण दिया गया है। "ब्रह्मज्ञानी ज्येष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते हैं" (अथ० १०।७।२४) इस मन्त्रमें ब्रह्मको "उपास्य" कहा गया है। यह सब विशेषण जीव और जडमें कभी संगत नहीं होते। "कर्मके बन्धनोंसे बँधा हुआ जीव ऊँचे, नीचे सदा जाता रहता है" (अथ० ९।१०।८) इसमें कर्मवश्यत्व विशेषण है जो जीवमें ही संगत होता है अन्यत्र नहीं। ऐसे ही भेदव्यपदेश भी वेदमें सर्वत्र हुआ है जिसे पिछले स्थलोंमें दर्शाया गया है॥

(२५) ब्रह्मके रूपकी कल्पनाकी गयी है। यह कल्पना वहाँ ही होती है जहाँ अपना कोई रूप नहीं होता। "ब्राह्मण ब्रह्मके मुख थे, क्षत्रिय ब्रह्म थे, वैश्य जङ्घा थे और शूद्र पद थे" यह कल्पना ब्रह्मको नीरूप सिद्ध करती है। अत एव उसके रूपका रूपकालङ्कारसे वर्णन किया गया है। जीवको शरीर प्राप्त होता है। शरीरका रूप जीवका ही रूप व्यवहृत होता है। अतः उसकी कल्पना निरर्थक है। प्रकृतिके रूपकी भी कल्पना नहीं हो सकती क्योंकि सब रूप प्रकृतिके ही हैं। नाम-रूप सब प्रकृति ही है। अतः रूपकसे रूपका वर्णन होनेसे भी ब्रह्मका ही ग्रहण है, इतरका नहीं ॥ इति अदृश्यत्वादि गुण अधिकरण ॥ ६ ॥

(अथ वैश्वानर अधिकरण ॥ ७ ॥)

(२६) वैश्वानर शब्दसे भी ब्रह्मका बोध किया, कराया जाता है। क्योंकि जैसे ब्रह्मकेलिये आत्मशब्द साधारण है वैसे ही वैश्वानरशब्द भी साधारण शब्द ही है। सर्वत्र व्यापक होनेसे जैसे ब्रह्मको आत्मा कहते हैं वैसे ही सर्वनरका हितैषी होनेसे उसे वैश्वानर कहते हैं। ऋग्वेद (१।९८।१) में शुक्लयजुर्वेद (२६।७) में, अथर्ववेद (६।६२।१) में तथा अन्यत्र अनेक मन्त्रोंमें वैश्वानर-शब्दका इसी तात्पर्यसे प्रयोग हुआ है।

(२७) वेदोंसे अतिरिक्त यदि अन्य ग्रन्थोंमें भी वैश्वानरका प्रयोग इसी तात्पर्यसे हो तो वह भी सहकारी प्रमाण होनेसे= गौण प्रमाण होनेसे अनुमान रूपसे गृहीत होना चाहिये।

(२८) ऋग्वेद (१०।८८।१२) में और अन्यत्र भी अनेक वार वैश्वानर शब्द लौकिक अग्निके लिये आया है तथा सब पदार्थों-में उसकी स्थिति भी वर्णित है तथा प्रत्यक्ष भी है। दो डालियोंके संघर्षसे दावानल उत्पन्न होता है। लोहा और पत्थरकी रगड़से भी अग्नि उत्पन्न होता है अतः वह ब्रह्मका साधारण नाम नहीं हो

सकता। इस एक शङ्काका उत्तर देते हैं—वैश्वानरशब्द लौकिक अग्निमें प्रयुक्त नहीं है यह तो कहा ही नहीं जा सकता। परन्तु उसके अर्थमें इतनी स्वाभाविकता है कि विना विशिष्ट प्रयासके वह आत्माका अर्थ देने लग जाता है। अतः उपासनास्थलमें वैश्वानरमें भी परमात्मदृष्टि रखनेका उपदेश किया गया है। सर्वत्र वैश्वानर समाया हुआ है, यह कथन भी असम्भव है। लौकिक वैश्वानरका अपना एक आकार है, एक रूप है। आकारवान् पदार्थ निराकार परमात्मामें कैसे समा सकता है? अन्तःप्रतिष्ठा केवल ब्रह्ममें ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं। अत एव शतपथ ब्राह्मण (१०।६।१।११) में उसे पुरुष भी कहा गया है। अतः उपासनाप्रकरणमें कहीं भी लौकिक वैश्वानरका ग्रहण नहीं समझना चाहिये।

(२९) वाजसनेयी लोक शतपथ ब्राह्मण आदिमें वैश्वानरको पुरुष कहते हैं अत एव वैश्वानरकी अधिष्ठात्री देवता और लौकिक वैश्वानर उपासनाप्रकरणमें गृहीत नहीं होते।

(३०) जैमिनिके मतमें यदि लौकिक वैश्वानरका भी उपासनाप्रकरणमें ग्रहण हो तो कोई क्षति नहीं है। उपासनाके आरम्भमें स्थूल प्रतीकका ग्रहण उपासककी अनुकूलताके लिये होता है।

(३१) आश्मरथ्य जैमिनिके मतको ही मानते प्रतीत होते हैं। वह कहते हैं कि साक्षात् वैश्वानरकी उपासनासे भी ज्योतिका प्राकट्य होता है। यह उपासनाकी एक सीढ़ी है।

(३२) बादरि भी इसी मतकी पुष्टि कर रहे हैं। अग्निकी प्रतीकोपासनासे भी ब्रह्मकी स्मृति हो सकती है। योगदर्शन(१।३९) में व्यासजीने भी सांख्यप्रवचनभाष्यमें ऐसा ही कहा है।

(३३) पुनः जैमिनिका मत ही दिखाते हैं। अग्नि पवित्र और प्रकाशमय वस्तु है। उसकी प्रतीकोपासनासे भी एक ज्योतिका उदय पवित्र अन्तःकरणमें होता है।

(३४) व्यासजी अपना सिद्धान्त यहाँ बताते हैं कि वैदिक उपासनामें तो वैश्वानर शब्दसे ब्रह्मका ही बोध होना चाहिये। वेदमें कहा है कि "वैश्वानरकी सुमतिमें, आज्ञामें हम चलें।" यह कथन लौकिक अग्निकेलिये असंभव है। वेद उच्च कक्षाके ध्यान और उपासनका वर्णन करते हैं। प्रतीकोपासना मध्यम और प्रारम्भिक उपासकोंकेलिये ही हो सकता है। इति वैश्वानर अधिकरण ॥ ७ ॥

इति श्रीसर्वतन्त्रस्वतन्त्र-परमहंसपरिव्राजक-स्वामिश्रीभगवदाचार्यजी-
महाराजप्रणीतायां वेदान्तदर्शने सूत्रप्रसादिन्यां वृत्तौ
प्रथमेध्याये द्वितीयः पादः ।

प्रथम अध्याय तृतीय पाद

(अथ द्युभ्वादि अधिकरण ॥ १ ॥

(१) द्युलोक, भूलोक तथा अन्य लोकोंका वह ब्रह्म ही आयतन है-आश्रय है-आधार है। क्योंकि जहाँ २ जगत्‌के आयतनका वेदोंमें उल्लेख हुआ है वहाँ २ स्वशब्दका = ब्रह्मवाचक शब्दका उल्लेख हुआ है। यथा, शुक्लयजर्वेद (३२।८) के "यह सर्व जगत् उसीमें समवेत है और वह जगत्‌में ओतप्रोत है" इस मन्त्रमें तद् (वह) शब्द ही स्वशब्द अर्थात् स्ववाचक शब्द है। "उसने पृथिवीलोक और द्युलोकको धारण कर रखा है" (शु० य०) इस मन्त्रमें भी तच्छब्द परमात्माकेलिये ही होनेसे स्वशब्द है। ऐसे ही अन्यत्र भी अनेकों स्थलोंमें स्ववाचकशब्द आये हुए हैं।

(२) मुक्तात्माओंका वही गन्तव्य-प्राप्तव्य है, ऐसा वेदने कहा है। स्वाश्रयको ही सब प्राप्त करना चाहते हैं। रक्षा करनेवाला ही सबका प्राप्य है। "मुक्तजीव अथवा अनन्य भक्तजीव आनन्दस्वरूप परमात्माका ही सेवन करता है" (शु० ३१।१६)। सेवन करना प्राप्तिपूर्वक ही हो सकता है। सब उसको प्राप्त करना चाहते हैं अतः वह ब्रह्म द्युलोकादिका आयतन है॥

(३) ब्रह्मातिरिक्त जड द्युलोकादिका आयतन नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा मानने में कोई शब्दप्रमाण नहीं है। यद्यपि ऋग्वेदमें कहा है कि "पर्जन्य मेघ वा वृष्टिमें ही सर्व विश्व स्थित है" (ऋ० ७।१०१।४) तथापि यह गौण कथन है। वृष्टिसे प्राणियोंको सुख प्राप्त होता है, उसके द्वारा ही जल-अन्नादि प्राप्त करके प्रजा टिकती है अतः पर्जन्यको आश्रय यहाँ कहा गया है। वस्तुतः सबका और उस पर्जन्यका भी आश्रय ब्रह्म ही है।

(४) जैसे वेदप्रतिपादित न होनेसे जड-प्रधान जगत्का आयतन नहीं है वैसे ही जीव भी जगत्का आयतन नहीं है। क्योंकि वह अल्प है-अल्पशक्तिवाला है। इतने बड़े विशाल जगत्को धारण करनेमें वह समर्थ नहीं हो सकता। यद्यपि अल्प वस्तु भी अपनेसे बड़े वस्तुका आधार बनते देखे जाते हैं; जैसा कि, एक छोटेसे खीलेपर कुम्भकारका बड़ा चक्र स्थिर रहता है, छोटी सी नावपर बडे २ लोहालक्कड़, पत्थर आदि लादे जाते हैं, छोटीसी साइकिलपर ३॥ हाथका लम्बा और २-३ मनका भारवाला मनुष्य बैठता है, वैसे ही छोटे जीवमें भी यह बड़ा विशाल जगत् स्थिर रह सकता है। तथापि जीवमें पदार्थोंको अपनेमें धारण करनेकी शक्ति ही नहीं है। यहाँ अणु-विभुका विचार नहीं है, विचार है शक्तिका। जीवमें यह शक्ति ही नहीं है।

(५) सूत्रमें भेदका अर्थ विनाश है। विनाशसे तात्पर्य है

जीवका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें प्रवेश करना। वेदोंमें कहा है कि "जैसे गोपाल रज्जुसे गाय अथवा बैलको बाँधता है ऐसेही बुढ़ापेने जीवको बाँध रखा है। उत्पन्न होते ही जीवको मृत्यु अपने महाजालसे बाँध लेता है। जीवके मृत्युपाशको परमात्मा ही छुड़ाता है-दूर करता है" (अथ० ३।११।८)। जो स्वयं बँधा हुआ है और जन्ममरणके चक्रपर चढ़कर नष्ट हो रहा है वह अन्योंका आयतन नहीं हो सकता।

(६) किसी अर्थका निर्णय करनेकेलिये प्रकरणका विचार मुख्य वस्तु है। अथर्ववेदमें (४।११।३) से जो प्रकरण आरब्ध हुआ है उसके नवमें मन्त्रतक विचार करनेसे भी ज्ञात होता है कि जीव जगत्का आयतन नहीं है।

(७) परमात्मा केवल जगत्का आयतन ही नहीं है यह उसका रक्षक और प्रलयकर्ता भी है। जीव न तो जगत्का रक्षक है और न प्रलयकर्ता है। अतः वह आयतन भी नहीं हो सकता॥ इति द्युभ्वादि अधिकरण॥ १॥

(अथ भूमाधिकरण ॥ २ ॥)

(८) वह ब्रह्म भूमा है-विभुपरिमाणवाला है—व्यापक है। यदि वह भूमा न हो तो सब जीवोंमें निवास करके उन्हें आनन्दी नहीं बना सकता। परन्तु वेदोंमें ऐसा उपदेश है कि "वह सर्व भुवनोंको आनन्द प्राप्त करानेवाला है"(   )।

(९) वेदोंमें कहा गया है कि "उसमें ही सब प्रजा ओतप्रोत हैं" (अथ० १०।८।३७) "वह सबके गर्भमें विचरता है" (अथ० १०।८।१३) इत्यादि। यह सब वेदोपदिष्ट धर्म तभी संगत हो सकते हैं यदि वह भूमा हो॥ इति भूमाधिकरण॥ २॥

(अथ अक्षर अधिकरण ।। ३ ।।

(१०) वह परमात्मा अक्षर=अविनाशी है क्योंकि अन्तरिक्षलोक, भूलोक आदि सबका वही धारण करनेवाला है। वह यदि अक्षर न हो तो आकाशादिलोकोंका धारण नहीं कर सकता।

(११) सा=वह धृति लोकधारण वेदोंसे जाना जाता है। वेदोंमें लिखा है कि "वही द्विपात् और चतुष्पात्का स्वामी है" (ऋ० १०।१२१।३) "उसी परमात्मामें सर्व नक्षत्र और चन्द्रमा ठहरे हुए हैं" (अथ० १३।४।२८)।

(१२) ब्रह्मातिरिक्त अन्य भावों=पदार्थोंका उपक्षय देखा जाता है। केवल परमात्माका ही क्षय नहीं देखा गया, न कभी सुना गया। अतः वह अक्षर है ।। इति अक्षर अधिकरण ।। ३ ।।

(अथ ईक्षतिकर्म अधिकरण ।। ४ ।।)

(१३) वेदोंमें कहा गया है कि "श्रीमान् क्रान्तदर्शी लोक परमेश्वरपरायणबुद्धिसे सुरक्षित रहकर, भक्तिरूपजलके वितरण करनेकी इच्छासे सांसारिकजीवोंकी ओर दृष्टिपात करते हैं और उन्हें अविनाशिपदकी ओर ले जाते हैं। परमात्मा वहाँपर उन जीवोंको प्रत्यक्ष होता है" (ऋ० १।१४६।४)। इस प्रकारसे वेदोंमें परमात्मदर्शनका संकेत किया गया है। परमात्माको दर्शनक्रियाका कर्म कहा गया है। अन्य किसीको द्रष्टव्य नहीं कहा गया है। अतः प्रथमाध्यायके प्रथमसूत्रसे उसी ब्रह्मकी ही जिज्ञासाकी प्रतिज्ञा की गयी है ।। १।३।१३ ।। इति ईक्षतिकर्म अधिकरण ।। ४ ।।

(अथ दहर अधिकरण ।। ५ ।।)

(१४) आगे ४ हेतु कहे जायँगे। उन हेतुओंसे यह सिद्ध होगा कि परमात्मा दहर=अल्प है। जो अल्प होता है वह विनाशी होता है। अतः परमात्मा न तो अक्षर है और न विभु है।

(१५) "परमात्मा सर्वत्र गया हुआ है" (शु० य० ४०) "परमात्मा आनन्दकेलिये (भक्तोंके समीप) जाता है' (ऋ० १।१६।८) "हे परमेश्वर आवो" (साम० १) इत्यादि मन्त्रोंमें परमात्माकी गतिका उल्लेख है। लोकमें भी प्रसिद्ध है कि परमात्मा अपने भक्तोंकी रक्षाकेलिये भक्तोंके पास जाते हैं—आते हैं। गति अल्पमें ही होती है विभुमें नहीं। किंच वेदोंमें कहा गया है कि "दो समान पत्ती एक ही वृक्षपर बैठे हुए हैं। इस शब्दसे = मन्त्रसे भी यह सिद्ध है कि संसाररूप वृक्ष अल्प है और उसपर बैठनेवाला परमात्मा भी अल्प है। लोकमें भी देखा गया है कि अल्प अधिकरणमें अल्प ही रहता है विभु नहीं। द्वासुपर्णा इत्यादि अनेक लिङ्ग=ज्ञापक भी इसी विषयके मिलते हैं।

(१६) पृथिवी अल्प है और सबको धारण करती है, पर्वत भी अल्प है और वह पृथिवीको धारण करनेसे ही भूधर कहा जाता है। जीव भी अल्प ही है तथापि मनुष्य, हाथी, ऊँट आदि बड़े शरीरोंको धारण करता है। अतः परमात्मा भी दहर ही रहकर लोकोंको धारण करता है।

(१७) "परमात्मा गर्भमें विचरता है और अजन्य होता हुआ भी जन्य होता है" (शु० य० ३१।१९) इस मन्त्रमें बहुधा उसका चरण=चलन=गमन प्रसिद्ध है। अतः वह दहर ही है।

(१८) परमात्मा स्वयं जगत्का निर्माण नहीं कर सकता। उसे प्रकृति अथवा माया इस कार्यमें अपेक्षित होती है। अतः वह अल्प ही है, विभु नहीं। इतने हेतु परमात्माको दहर सिद्ध करनेकेलिये हैं। अब इनका खण्डन। यदि परमात्मा विभु न होता तो वेदोक्त परमात्मधर्म उसमें संभव ही न होते। कोई भी अणु-पदार्थ इतनी बड़ी पृथिवी और विशाल अन्तरिक्षलोकको धारण नहीं कर सकता। उसका गमन केवल व्यापकताका सूचक है।

गमनागमनका वर्णन गौण है। अनादि और अजन्मा भी बहुधा प्रकट होता है, यह आश्चर्य विभुमें ही सिद्ध हो सकता है अणुमें नहीं। प्रकृति अथवा माया तो उसी ब्रह्मका शरीर है अथवा शक्ति-विशेष है। अतः यदि प्रकृति न होती तो परमात्मा जगन्निर्माण न कर सकता, यह कथन सर्वथा असङ्गत है। शरीरीका शरीर और शक्तिमान्की शक्ति तो नित्यपदार्थमें नित्यरूपसे और अनित्यपदार्थमें अनित्यरूपसे रहती ही हैं। परमात्मा नित्य है अतः उसका शरीर अथवा शक्ति प्रकृति अथवा माया नित्य ही है। अतः प्रकृति या माया उसे सक्रिय बनाती है, यह कथन भी असङ्गत ही है।

(१९) "अज्ञानसे पर उत्तर ज्योतिका दर्शन करते हुए हम अतिप्रकाशित उत्तमज्योतिको प्राप्त होते हैं" (ऋ० १।५०।१०)। इस मन्त्रमें उत्तरज्योति और उत्तमज्योतिकी प्राप्तिका संकेत है। इससे परमात्मामें तारतम्यकी सिद्धि होती है। उत्तमज्योति= उत्तमपरमात्मा भले चाहे जो हो, परन्तु उत्तरपरमात्मा तो अल्प ही है। क्योंकि उसे जानकर ही उत्तमज्योतिकी ओर आना पड़ता है। यह पूर्वपक्षीका प्रश्न है। इसका उत्तर। ऋग्वेदमें जो उत्तर और उत्तमशब्द आये हैं वह तारतम्यद्योतनकेलिये नहीं हैं किन्तु समानार्थक हैं। अत एव अथर्ववेदमें, इस मन्त्रमें दोनों स्थलोंमें उत्तमशब्द ही श्रुत है। समपरमात्मामें विषमता अत्यन्त असम्भव है।

(२०) "धमति संपतत्रैः" (ऋ०) इस ऋचामें जो यह कहा गया है कि "पतत्त्र अर्थात् परमाणुओंसे परमात्मा जगत्को बनाता है" इससे इतर परामर्श=ब्रह्मसे इतर परमाणुका परामर्श=साहाय्य लेना सिद्ध तो होता है परन्तु वह तो अज्ञानियों अथवा अल्पज्ञानियोंके सन्तोषार्थ ही है। परमात्मा यह सब कैसे बनाता होगा ? ऐसी शङ्का अल्पज्ञोंको होती ही रहती है उसीके निवारणार्थ यह इतरपरामर्श है। अन्यथा परमाणु-प्रकृति और

तज्जन्य सर्ववस्तु परमेश्वरके ही शरीर हैं। शरीर-शरीरिमें भेद होता नहीं। तब तो इतर कोई वस्तु है ही नहीं।

(२१) "गतिशब्दाभ्यां तथा" सूत्रसे परमात्माकी अल्पताका समर्थन पूर्वपक्षीने किया था उसका उत्तर ऊपर दे दिया गया है।

(२२) किं च जहाँ कहीं भी वेदमें परमात्माकेलिये अल्पश्रुति प्रतीत भी हो वहाँ लौकिक सूर्य, अग्नि, वायु, सोम आदिकेलिये समझना चाहिये। क्योंकि वह सब अनुकरण शब्द हैं। परमात्माका अनुकरण करके इनमें भी परमात्मबुद्धि करके उपासना की जा सकती है। परन्तु वस्तुतः यह परमात्मा नहीं हैं। परमात्माके अनुकरणस्वरूप हैं। इनमें अल्पताका भान करके परमात्मामें अल्पता कह दी गयी है। वस्तुतः वह अल्पता इन्हीं अनुकृत पदार्थोंकी है।

(२३) "गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही महेश्वर हैं, तथा गुरु ही साक्षात् परब्रह्म हैं" इस स्मृतिमें भी गुरु ब्रह्मा, विष्णु, महेशका अनुकरणमात्र है, ऐसा कहा गया हुआ समझना चाहिये। इति दहराधिकरण ॥ ५ ॥

(अथ प्रमित अधिकरण ॥ ६ ॥)

(२४) पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि वेद ही परमात्माको विभु कहते हैं और वही उसे प्रमित=मापा गया हुआ=परिमाणवाला भी कहते हैं। "वह दश अङ्गुलको घेरकर रहता है" (शु० य० ३१।१; ऋ० १०।९०।१; अथ० १९।६।१) इससे वह परमात्मा अल्प ही प्रतीत होता है।

(२५) उत्तर। नहीं, इस श्रुतिसे परमात्माका अल्पत्व नहीं सिद्ध होता। प्रायः ध्यान धारणा सब मनुष्योंके लिये है, पश्वादिकोंकेलिये नहीं। मनुष्यके हृदयस्थानमें ही परमेश्वरका ध्यान किया जाता है। वहाँ ही उसका साक्षात्कार होता है। अतः हृदयके दशाङ्गुल परिमाणको परमात्माका परिमाण गौणरूपसे कह दिया

गया है। वस्तुत तो वह १० अङ्गुलवाले हृदयको घेरकर उसमें रहता है, इतना ही उस श्रुतिका अर्थ है।

(अथ प्रमिताधिकरणान्तर्गत तदुपरि अधिकरण ॥१[६]॥)

(२६) आचार्य बादरायणका मत है कि मनुष्यसे इतर लोगों को भी ब्रह्मध्यानका अधिकार है। बादरायण देवयोनिको पृथक् मानते हुए प्रतीत होते हैं। अत एव वह मनुष्योंसे अतिरिक्त देवोंको भी ब्रह्मध्यानका अधिकारी मानते हैं।

(२७) इसपर पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि भले देवोंको ब्रह्मध्यानका अधिकार रहे परन्तु कर्ममें तो उनका अधिकार नहीं ही है। क्योंकि इसमें विरोध है। विरोध यह है कि, स्वर्गादिकी इच्छासे ही यज्ञादि कर्म किये जाते हैं। वह स्वर्गादि तो देवोंको प्राप्त ही हैं। पुनः कर्म वह क्यों करेंगे ? अत एव उन्हें कर्माधिकार नहीं है।

इसका उत्तर। वेदोंमें अनेक देवोंके कर्म करनेका भी प्रकरण प्रस्तुत है। "देवोंने यज्ञसे यज्ञ=विष्णुका यजन किया" (शु० य० ३१।१६)। शतपथ ब्राह्मण (३१।२।२।२३) में भी देवोंके यज्ञ करनेकी कथा उपस्थित है।

(२८) पुनः शङ्का। मान लो कि देवोंको ब्रह्मध्यानका भी अधिकार है और कर्मोंका भी। परन्तु वेदाध्ययनका तो अधिकार नहीं ही है। क्योंकि वेदाध्ययनकेलिये यज्ञोपवीतादि संस्कार जो अपेक्षित हैं वह देवोंको प्राप्त नहीं हैं। इसका उत्तर। यह भी ठीक नहीं है। शतपथब्राह्मणके अनुसार अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा आदि देवोंके द्वारा ही तो वेदोंका प्राकट्य माना गया है। जिसने जिसे प्रकट किया, उसीको उसका अधिकार न हो, यह अयुक्त कथन है।

(२९) देव सत्यप्रिय होते हैं। उनमें मिथ्याचार नहीं होता।

वेद उन्हींसे प्रकट हुए हैं अतः वेद नियत हैं अर्थात् उनमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं हुआ है। अदृष्ट परमात्माने उन्हें जैसा उपदेश दिया वैसा ही उन्होंने निर्भ्रमरूपमें प्रजाको सिखाया तथा वैसी ही आनुपूर्वीके साथ आजतक वह प्रचलित हैं।

(३०) वेद नियत हैं उनके अक्षर आदि भी नियत ही हैं अत एव पुनः उच्चारण किये जानेपर भी उनमें कोई विरोध नहीं आता। "अग्निमीडे पुरोहितम्"का उच्चारण चाहे जैसे भी कोई करे, परन्तु इसकी आनुपूर्वी ऐसी ही बनी रहती है। समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्" इस मन्त्रका घनपाठ आज तो मैं भूल सा गया हूँ। तथापि स्मृतिके अनुसार लिख रहा हूँ। वेदपाठी विद्वान् इसे सुधार लेंगे।

"अतिथिमित्यतिथिम्। बोधयतातिथिम्। घृतैर्बोधयत। दुवस्यत घृतैः। अग्निं दुवस्यत। समिधाग्निम्। समिधेति सम् इधा। अग्निं दुवस्यत। दुवस्यत घृतैः। घृतैर्बोधयत। बोधयतातिथिम्। अतिथिमित्यतिथिम्।"

स्वाभाविक मन्त्रके उच्चारण करनेमें इतना बड़ा परिवर्तन किया गया है। क्रम, घन, जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज आदि पाठोंमें ऐसे ही परिवर्तन होते हैं। तथापि वेदोंके अक्षर नियत होनेसे किसी प्रकारका विरोध नहीं आता है। ऐसा ही लोकमें देखा जाता है। स्मृतिमें भी कहा गया है कि "स्वर अथवा वर्णसे हीन यदि मन्त्र हो तो वह इष्ट अर्थका सम्पादन नहीं करता"। इससे भी सिद्ध है कि मन्त्रोंके वर्णादि सब नियत हैं।

(अथ प्रमिताधिकरणान्तर्गत मध्वाद्यधिकरण ॥ २ [६] ॥)

(३१) जैमिनि आचार्य मानते हैं कि मधुविद्यादि विद्याओंमें देवोंका अधिकार नहीं है क्योंकि अथर्ववेद (९।१।१६,१७,१८)

में जिस मधुविद्याका उपदेश है वह विद्याएँ देवोंमें उपस्थित हैं। अर्थात् उस विद्याके अनुसार ही देवयोनि चल रही है ? उसे इस विद्याकी आवश्यकता न होनेसे ही उसे इसका अधिकार नहीं है ॥

(३२) किंच वह देव सदा ज्योतिस्स्वरूप परमात्मामें ही तल्लीन रहते हैं अतः उन्हें इनकी आवश्यकता नहीं है अत एव वह इस विद्याके अधिकारी नहीं हैं ॥

(३३) बादरायण आचार्यका मत है कि देव भी कामी, रागी, द्वेषी देखे जाते हैं। अतः इन निर्बलताओंके निवृत्त्यर्थ उन्हें भी मधुविद्यादिकी आवश्यकता है और अत एव वह भी उसके अधिकारी है ॥

(३४) वेदोंमें विद्वानोंको भी देव माना गया है। उन विद्वद्रूप देवोंका इन विद्याओंमें अधिकार है या नहीं ? इसकेलिये बादरायण कहते है कि उन्हें भी अधिकार है। जबतक विद्वान् पूर्णरीतिसे ब्रह्मविद् न हो ले तबतक वह सामान्य कोटिका जीव है। आज तो महाकामी, महाक्रोधी, महादम्भी भी ब्रह्मविद् बन जाता है। परन्तु वह होता है वस्तुतः नारकीय कीट। अतः ब्रह्मविद्का अर्थ शास्त्रके शब्दोंका अर्थ जानना नहीं है, मिथ्याचारपरायण भी ब्रह्मविद् नहीं, परन्तु राग-द्वेष, काम-क्रोध, भोगविलास, जिघृक्षा-संजिघृक्षा, मदोन्मत्तता आदि महारोगोंसे विमुक्त आत्माराम, यह अर्थ समझना चाहिये। ऐसे विद्वानोंकेलिये मधुविद्यादि उपादेय हैं या नहीं ? इनमें उनका अधिकार है या नहीं ? कितनोंका मत है कि उन ब्रह्मज्ञानियोंका इन विद्याओंमें अधिकार नहीं है। बादरायण कहते हैं कि उनका भी अधिकार है। ब्रह्मज्ञानी होनेपर भी उनके ज्ञानकी अपरिपूर्णता ही रहती है। पूर्ण ब्रह्मज्ञानी होनेपर तो उसके शरीरका पात हो जाना चाहिये। शरीर यदि है तो, उसमें अपरिपूर्णता भी अवश्य है। इसकेलिये

ताण्ड्यमहाब्राह्मणके छान्दोग्योपनिषद्का जानश्रुति पौत्रायण प्रमाण हैं। वह तत्त्वज्ञानी था—ब्रह्मज्ञानी था। परन्तु उसमेंसे क्षत्रियधर्मका अभाव नहीं हुआ था। यही उसकी न्यूनता थी। वर्णाश्रमाभिमानका नाश ही विद्याका फल है। वह तो उसे अभी-तक प्राप्त नहीं था। वह रातको अपने प्रासादमें कहीं सोया हुआ था। कुछ हंस रात्रिमें वहाँ आकर ठहर गये। उनमेंसे एकने जानश्रुतिपौत्रायणकी प्रशंसासे असन्तुष्ट होकर रैक्ककी प्रशंसा की। जानश्रुति पौत्रायण यह सब सुनता रहा। उसे बहुत ग्लानि हुई। प्रातः उसने क्षत्ताको रैक्कका पता लगानेकेलिये भेजा। वह ढूँढ-ढाँढकर चला आया, रैक्कका पता नहीं लगा। जानश्रुति पौत्रायणने उसे ऐसे स्थलका निर्देश किया जहाँ ब्रह्मज्ञानी रह सकते हैं। वह पुनः गया और एक बैलगाडीके नीचे रैक्कको ढूँढ लिया और जानश्रुति पौत्रायणको सूचना दी। वह रैक्कके पास रैक्कद्वारा उपासित विद्याका ग्रहण करनेकेलिये गया। इससे यह सूचित होता है कि विद्वान् भी इन मध्वादिविद्याओंमेंसे अवश्य ही कुछ न कुछ सीख सकता है॥

(३५) वह विद्वान् था परन्तु उसमें क्षत्रियत्व था यही उसके ज्ञानकी न्यूनता थी। आत्मज्ञानीको ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्वादि सब मिथ्या प्रतीत होने ही चाहियें। उसे अभी वर्णाश्रमका अभिमान था, उसमें मिथ्यात्वप्रतीति उसे नहीं हुई थी। अतः अर्धज्ञानिरूप विद्वान्का इन विद्याओंमें अधिकार है॥

(३६) ताण्ड्यमहाब्राह्मण (२०।१२) में चित्ररथकेलिये लिखा है कि वह क्षत्रिय था और कापेय लोगोंने उसे यज्ञ कराया था। प्रकरणसे इतना तो सिद्ध है कि चित्ररथ क्षत्रिय था। उसके जैसे ही धर्म जानश्रुति पौत्रायणमें भी थे। वह विद्या सीखनेके-लिये समित्पाणि होकर रैक्कके पास नहीं गया था; धन, पशु,

कन्या आदि लेकर गया था। प्रकरण भी समान ही है। अतः जानश्रुति पौत्रायण भी क्षत्रिय ही था, यह स्पष्ट है॥

(३७) संस्कारका भी विवेक करना चाहिये। यदि किसीमें मान, अपमान, हर्ष, शोक, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, मात्सर्य आदि नहीं हैं तो उसे मधुविद्याका प्रयोजन न होनेसे, उस विद्याका वह अनधिकारी ही है। यदि यह सब हैं, तो वह अधिकारी है। जानश्रुतिपौत्रायणके संस्कारपरामर्शसे प्रतीत होता है कि उसमें इन विद्वद्धर्मोंका अभाव था अतः वह अपनेको योग्य बनानेवाली किसी भी विद्याका अधिकारी था ही॥

(३८) जानश्रुतिपौत्रायणमें वैराग्यकी भावना है या नहीं इस विषयका निश्चय करनेकेलिये ही रैक्वकी प्रवृत्ति देखी गयी है। जब पहिलीवार जानश्रुतिपौत्रायण रैक्वके पास ६ सौ गौओंके साथ एक सुवर्णमाला और दो खच्चरोंसे जुड़े हुए रथको लेकर आया तब रैक्वने उसे शूद्र कहकर अपमानित करके लौटा दिया। राजा चला गया। रैक्वने समझा कि वह अयोग्य शिष्य था। जब वह दूसरी बार एक सहस्र गौओंको तथा अपनी एक कन्याको भी लेकर रैक्वके पास आया और बोला कि "महाराज, यह सहस्र गौवें, यह सुवर्णहार, यह रथ और यह तुमारेलिये पत्नी है तथा तुमारे निवास-केलिये यह अमुक ग्राम मैं दे रहा हूँ।" जानश्रुतिपौत्रायणके इस कथनको सुनकर रैक्वने इतना तो अवश्य समझा ही था कि इसे मेरी विद्या-केलिये श्रद्धा अवश्य है। इन वस्तुओंके बदलेमें ही रैक्वने उसे संवर्गविद्याका उपदेश किया था। उसने समझ लिया कि यह राजस अधिकारी है। आत्मसमर्पण करनेके बदले यह धन और कन्याको समर्पण कर रहा है अतः यह ब्रह्मविद्याका अधिकारी तो नहीं ही है। अतः उसने अपनी विज्ञातविद्या=संवर्गविद्याका उपदेश उसे दे दिया।

(३९) मुख्य ब्रह्मविद्याके उपदेशसे जानश्रुतिपौत्रायण वञ्चित रहा; क्योंकि ऊषरसें बोया हुआ बीज निरर्थक होता है। रैकको निश्चय हो गया था कि यह क्षत्रिय धन और स्त्रीको ही बहुमूल्य पदार्थ समझता है। ब्रह्मविद्याके मूल्यका इसे ज्ञान नहीं है। ऐसे विषयी लोगोंको विद्याके श्रवण और अध्ययनका अधिकार नहीं है। विरक्त ब्रह्मर्षिपरम्परामें ऐसे संसारी जनको विद्याग्रहण करानेका प्रतिषेध है। मनुने भी यह स्पष्ट कहा है कि "ब्रह्मवादी अपनी विद्याके साथ मर जावे यह तो सह्य है परन्तु अयोग्यपात्रमें वह अपनी विद्याको दे, यह सह्य नहीं है" (मनु० २।११३)।

यहाँ एक आवश्यक विचार कर लेना चाहिये। श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य आदि पूर्वकालीन विद्वानोंने यहाँ अपशूद्राधिकरण मान लिया है और इस सूत्रसे शूद्रोंको वेदाध्ययन और वेदश्रवणका निषेध किया है। मैंने समाधिके द्वारा भी इसका पूर्ण विचार किया परन्तु मुझे यहाँ अपशूद्राधिकरण प्रतीत नहीं हुआ। इस प्रकरणमें शूद्रका नाम भी नहीं है। व्यासके समय तक समाजमें शूद्रकी कोई नियत परिभाषा नहीं थी। चाहे जो शूद्र हो सकता था और चाहे जो ब्राह्मण बन सकता था। यदि महाभारतके कर्ता यही व्यास हैं तो उसमें यही लिखा है जो मैं कह रहा हूँ। जहाँ तहाँ पुराणोंमें भी ऐसा लिखा है जैसा मैं कह रहा हूँ। उपनिषदोंमें भी यही लिखा है, जो मैं कह रहा हूँ। तब व्यास यहाँ अपशूद्राधिकरण कैसे लिखते ? तबतक शूद्र कोई नियत प्राणी नहीं था तो भी, नियत था तो भी, अपशूद्राधिकरण कैसे लिखा जा सकता था। मैं नहीं मानता, परन्तु लोग कहते हैं कि, व्यासने ही एकके चार वेद किये, वैदिकभाष्यमें मैं एक प्रमाण भी महाभारतका लिख आया हूँ। यदि व्यासजी वेदके व्यसिता थे तो चारों वेदोंके अक्षर एक बार उनकी दृष्टिमें अवश्य आ चुके होंगे। एक भी मन्त्र, आधा

भी मन्त्र, मन्त्रका कोई भी भाग वह बता सकते थे कि जहाँ वेदोंका अध्ययन शूद्रोंकेलिये निषिद्ध हो। इतनी मूर्खतापूर्ण बात वेदोंमें हो ही नहीं सकती। यदि हो सकती है तो वह ईश्वरीय ग्रन्थ ही नहीं हैं। पारसियोंकी पवित्र किताबको, खिस्तियोंकी पवित्र किताबको, मुसलमानोंकी पवित्र किताबको, यदि मनुष्यमात्र पढ़ सकता है तो हिन्दुओंकी पवित्र किताबको कमसेकम प्रत्येक हिन्दू तो अवश्य पढ़ सकता है। परन्तु इससे बढ़कर दूसरी जडता और जङ्गलीपन नहीं हो सकता कि ईश्वरको जगत्का स्वामी बनाना और वह जगत्के अमुक लोगोंको ज्ञानोपदेश करे और अमुकको मूर्ख रखे। उस ईश्वरसे अधिक दुष्ट और अयोग्य कोई हो ही नहीं सकता जो हिन्दुओंको ज्ञानगुटका दे और मुसलमानों, पारसियों, खिस्तियोंको अन्धेरेमें रखे। ऐसे रागी, द्वेषी, पक्षपाती और कलह करानेवाले ईश्वरकी जगत्को क्या आवश्यकता है? ऐसा ही यदि ईश्वर होता है तो हिन्दुस्तानमें आज १००-२०० कम ४० करोड़ ईश्वर मौजूद हैं, जिनके सिरपर अंग्रेजोंने दो सौ वर्षोंसे अचल और अकम्प पैर रख छोड़ा है। वेदवक्ता जानते ही होंगे कि "यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि" इस यजुर्वेदके दयानन्दकालसे प्रसिद्ध मन्त्रके द्वारा आर्य और अनार्य सभी प्रजाको वेदाधिकार दिया गया है। जिसे पढ़ना आता होगा उसे वेद पढ़नेसे कौन रोकेगा? आज प्रेसके ज़मानेमें तो वेदाध्ययन रोकनेवाला कोई पैदा ही नहीं हुआ है, पैदा हो ही नहीं सकता है। सिनेमाओंमें ज्ञानेश्वरके चित्रपटमें भैंसके मुँहसे वेदमन्त्र बोलाये जाते हैं और ब्राह्मण, शूद्र, मुसलमान्, खिस्ती सभी सुनते रहते हैं। अतः यह भ्रम टूट ही जाना चाहिये कि वेदोंको अमुक ही पढ़ सकता है, सुन सकता है, अमुक नहीं। गोतमने अपने धर्मसूत्रमें शूद्रोंका अध्ययन निषिद्ध किया है। परन्तु पहिले यह बताना और विचारना चाहिये कि

वेदोंके विधि-निषेधका अधिकार गोतमको किसने दिया ? आर्यावर्तमें एक अन्धाधुन्धीका समय था। जिसके मनमें जो आता था उसे ही वह लिख देता था और उसका प्रचार किया करता था। लगभग आज भी वैसा ही है। अन्तर इतना ही है कि आज विवेककी मात्रा बढ़ी हुई है। सब कथनका परीक्षण आज होने लग गया है। अतः निश्चित ही ज्ञानमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है हाँ, कर्ममें प्रतिबन्ध होना आवश्यक हो सकता है। सब कर्म सब नहीं कर सकते। कर्म इच्छा और आवश्यकतापर निर्भर होते हैं। जिन्हें इच्छा होगी, जिन्हें आवश्यकता होगी, वह कर्म करेंगे। जिन्हें यह दोनों न होंगी वह उस झंझटसे अलग रहेंगे। ब्रह्मज्ञानी भी तो कर्मसे घृणा ही करता है। उसे इच्छा नहीं है, आवश्यकता भी नहीं है। उसे कोई कर्मानधिकारी कहे तो, उसे क्या दुःख है। कर्मके अनेक प्रकार हैं। सभी कर्म वैदिक हैं। कोई घट बनाता है, कोई पट बनाता है, कोई मठ बनाता है, कोई हजामत बनाता है, कोई खिलौने बनाता है, कोई तलवार बनाता है, कोई सुवर्णादिके आभूषण बनाता है। कोई यज्ञ करता है। यह सभी वैदिक कर्म हैं। इनमेंसे सभी कर्मोंको सभी नहीं कर सकते। अतः कात्यायनने अपने सूत्रोंमें शूद्रोंको कर्मका अनधिकारी बताया, जैमिनिने मीमांसादर्शनमें अपशूद्राधिकरण बनाया, यह सब उचित हो सकते हैं। परन्तु ज्ञानमार्गमें, भक्तिमार्गमें अमुकको अधिकार देना और अमुकको न देना, यह निर्लज्जताकी बात है। अधिकार बलाधीन वस्तु सिद्ध की जा सकी है। भारतमें ही भारतवासी शिमलाकी अमुक टेकरियोंके अनाधिकारी थे आज भी हैं, हिन्दुओं और मुसलमानोंके बनाये हुए क़िलोंके हिन्दु और मुसलमान दोनों ही अनधिकारी हैं। दो मासके पश्चात् आज सबल भारत भारतभूमिका अधिकारी बनेगा। महात्मा गांधीके मार्गपर

चलकर देशके नेताओंने अपने छीने हुए अधिकारको हस्तगत किया है। जिन अन्त्यजोंका मद्रास प्रान्तमें सड़कोंपर चलना दूभर था आज उन्हें रामेश्वर, कन्याकुमारी, पद्मनाभ, आदि देवोंका दर्शन अनायास प्राप्त है क्योंकि आज वह सबल हैं। अधिकार और अनधिकारकी बात सबलता और निर्बलतापर आधार रखती है।

एक बात और जाननी चाहिये। ऋग्वेदके प्रथममण्डलमें ११६ वें सूक्तका ऋषि कक्षीवान् है। वह अङ्गराजकी उशिक् नामवाली दासी पटरानीसे उत्पन्न हुआ था। वह ब्राह्मण नहीं था तथापि वेद-ऋषि बना। उसी कक्षीवान्की पुत्री घोषा ऋग्वेदके दसवें मण्डलके अनेक मन्त्रोंकी ऋषिका है। अगस्त्यस्वसा, अदिति, इन्द्रस्नुषा, गोधा, नदी, यमी, शश्वती, सरमा, सूर्या, उर्वशी, आत्रेयी, इन्द्राणी, शिखण्डिनी इत्यादि अनेक स्त्रियाँ ऋग्वेदमें ऋषिकाएं हैं। ऋणञ्चय, नहुष आदि क्षत्रिय भी ऋग्वेदके ऋषि हैं। कोई वैश्य भी होंगे। जहाँ इस प्रकारका मिश्र ऋषिमण्डल है वहाँ वेदोंका अमुक ही अधिकारी है, यह कहना निरी जडता और अविवेक है। वेदोंको अंग्रेजोंने पढ़ा, जर्मनोंने पढ़ा, जैनियोंने पढ़ा, बौद्धोंने पढ़ा, डाक्टर अम्बेडकर (अन्त्यज) ने भी पढ़ा होगा और तब भी यह कहते रहना कि वेदोंका अधिकार अमुकको ही है, कितनी निर्लज्जताका सूचक है? अहमदाबादकी कथाओंमें—संन्यासी और उदासी दोनोंकी कथाओंमें स्त्री-शूद्र सभी वेदों-उपनिषदोंको सुनते-सुनाते हैं। कोई किसीके कानमें गोतमके कथनानुसार शीशा गर्म करके नहीं डालता। कोई किसीकी जीभ नहीं काटता। कोई किसीकी छाती नहीं तोड़ता। यदि आज कोई ऐसा करे तो उसका रक्षण गोतम नहीं कर सकता। वह फांसीके तख्तेपर लिटा दिया जायगा। ऐसी वाहियात बातोंसे वेदोंका महत्त्व बढ़नेकी अपेक्षा घटता है, इसका ध्यान प्रत्येक

वेदाभिमानीको रखना चाहिये। संगठनका समय है। बहुमत और अल्पमतका आज प्रश्न उपस्थित है। बने उतना अपना पक्ष प्रबल करना प्रत्येक हिन्दूका धर्म है। वेदोंके मन्त्रोंमेंसे ऐसे मन्त्र ढूँढ़कर जगत्के सम्मुख रखने चाहिये कि जगत् उधर ही खिंच जाय और हिन्दूसमाज प्रबल बन जाय। अन्धकारयुगकी रूढियोंको तिलाञ्जलि दे देनी चाहिये। इति प्रमिताधिकरणान्तर्गत मध्वाद्यधिकरण ॥ ३ [६]॥

(प्रमिताधिकरणान्तर्गत कम्पनाधिकरण ॥ ४ [६] ॥

(४०) पीछे कहा जा चुका है कि हृदयकी अपेक्षासे ही परमात्माको दशाङ्गुल कहा गया गया है। स्वतः तो वह विभु व्यापक है। इसी विषयको दृढ़ करनेकेलिये यह भी एक हेतु है कि उसके भयसे सम्पूर्ण विश्व कांपता है। अथर्ववेदके (४।३१।२; ४।२५।३; २०।३४।१४; २०।३४।१७; २०।३५।१४;) और ऋग्वेदके (७।५।३; २।१२।१, १०।१२१।६) इन मन्त्रोंमें कहा गया है कि समस्त विश्व परमात्मासे कांपता है, द्युलोक, भूलोक आदि उसीके भयसे दृढ हैं, पर्वत और समस्त प्राणी भी उसीकी आज्ञामें रहते हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि परमात्मा अल्प एकदेशीय नहीं है, व्यापक है। इति प्रमिताधिकरणान्तर्गत कम्पनाधिकरण ॥ ४ ॥ इति प्रमिताधिकरण ॥ ६ ॥

(४१) अथर्ववेद (२।११।५; ४।१५।३) में उस परमात्माको ज्योतिःस्वरूप कहा गया है। ज्योतिस्स्वरूप प्रधान नहीं हो सकता।

(४२) उसे आकाश भी कहा गया है। सर्वत्र सर्वरूपसे जो प्रकाशित रहे और सबको प्रकाशित करे उसे आकाश कहते हैं। ऐसा परमात्मा ही है; जड प्रधान नहीं।

(४३) जीव भी ज्योतिस्स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि अथर्ववेद (७।१०८।२) में कहा है कि "हे प्रभो सोते हुए अथवा जागते

हुए हमको जो दुःख दे उसको तुम जला दो।" इससे प्रतीत होता है कि जीव और ब्रह्ममें रक्ष्य-रक्षक भाव है। जो इतना दुःखी और निर्बल है वह जीव ज्योतिस्स्वरूप नहीं है।

(४४) सर्वत्र वेदोंमें परमात्माकेलिये पति, ईश्वर, रक्षक आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यह शब्द प्रयोग न तो जीवमें संगत हैं और न जडमें। अतः परमात्मा ही ज्योतिस्स्वरूप है।

इति सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-परमहंसपरिव्राजक-स्वामिश्रीभगवदाचार्यजी-
महाराजप्रणीतायां वेदान्तदर्शने सूत्रप्रसादिन्यां वृत्तौ
चतुर्थेऽध्याये तृतीयः पादः।

अथ प्रथम अध्याय चतुर्थ पाद

(अथ आनुमानिक अधिकरण ॥ १ ॥)

(१) कितने ही वेदानुयायियोंका यह भी मत है कि प्रधान=प्रकृति ही ब्रह्म है। परन्तु व्यासजी इसे नहीं मानते। वह कहते हैं कि वेदोंमें ब्रह्मके शरीरका रूपक वर्णन हुआ है। "ब्राह्मण ब्रह्मका मुख है, क्षत्रिय बाहु है, ऊरु वैश्य है और पाद शूद्र हैं" इत्यादि रीतिसे मुख, हस्त, ऊरु, पाद आदि अवयवोंका रूपक चेतनमें ही घट सकता है अचेतनमें नहीं।

(२) प्रधानवादी कहते हैं कि ब्रह्मको अतिसूक्ष्म कहा गया है और अतिसूक्ष्म तो प्रधान ही है। ब्रह्म तो बृहत् है। अतः सूक्ष्म प्रधान ही ब्रह्म है। इसका उत्तर। ब्रह्म वस्तुतः तो बृहत् ही है। परन्तु उसको जो सूक्ष्म कहा गया है वह तो केवल इसलिये कि वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंमें भी व्याप्त होनेकी योग्यता रखता है।

ब्रह्मको ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, ईशान आदि अनेक नामोंसे जाना जाता है। ईश्वर, ईशान आदि इसीलिये सार्थक हैं कि सब

पदार्थोंका स्वामी परमात्मा ही है। प्रधान तो जड़ है, ज्ञानहीन है वह सब पदार्थोंका स्वामी नहीं हो सकता।

(४) वेदोंमें परमात्माको ज्ञेय कहा गया है। जैसा कि "जिसने परमात्माको नहीं जाना उसका वेद पढ़ना निरर्थक हुआ (ऋ० ९।१०।१८)। प्रधानको ज्ञेय वेदमें नहीं कहा गया है अत एव भी वह ब्रह्म नहीं।

(५) प्रधानवादी कहता है कि प्रधानको भी वेदोंमें ज्ञेय कहा गया है। यथा, "पितासे उत्पन्न हुई यह सुशोभित प्रकृति प्रथम पुत्र महत्तत्त्वके लिये है (अथ० ४।१।२) इस मन्त्रमें प्रकृतिका और महत्तत्त्वका वर्णन है। इसके पश्चात् "इस महत्तत्त्वका जो अहङ्कार पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका जाननेवाला ही सब देवोंका जन्म स्पष्ट रूपसे कह सकता है" (अथ० ४।१।३) यहाँ अहङ्कारको ज्ञेय बताया गया है। "जो इन्द्रियोंके और पञ्चतन्मात्राओंके अविनाशी पिताको जानता है" (अथ० ४।१।७)। इस मन्त्रमें स्पष्ट प्रधानके जाननेका सङ्केत है। इसका उत्तर। इन मन्त्रोंमें प्रधानका उल्लेख नहीं है किन्तु प्रकरणके विचार करनेसे प्रतीत होता है कि वहाँ भी ज्ञेय परमात्मा ही है, प्रधान नहीं। वहाँका प्रकरण यह है कि सत् और असत्=चर और अचर दोनोंके मूल कारणको जानना चाहिये। यदि प्रधानको असत्=जडका कारण मान भी लिया जाय तो वह सत्=चर जगत्का कारण कैसे हो सकता है? अतः यह प्रकरण ब्रह्मका ही है।

(६) किंच, जो अथर्ववेदके मन्त्र प्रधानकेलिये बताये गये हैं वहाँ तो चित्=जीव, अचित्=प्रकृति और ईश्वर इन तीन तत्त्वोंका वर्णन है। पित्र्या (पितासे उत्पन्न हुई) शब्दसे अचित् तत्त्वका "प्र यो जज्ञे विद्वान् अस्य बन्धुः" (अथ० ४।१।३) इस मन्त्रसे चित्तत्त्वका और "स हि दिवःस पृथिव्या ऋतस्था (अथ०

४।१।४) इससे ईश्वरतत्त्वका उपदेश हुआ है। इस उपदेशके अनुसार प्रश्नोंकी भी ऐसी ही कल्पना कर लेनी चाहिये। उन्हीं कल्पित प्रश्नोंके अनुसार यह सब उत्तर समझने चाहिये ॥

(७) जिस प्रकारसे उन मन्त्रोंमें आया हुआ महत् शब्द प्रधानका वाचक नहीं हैं वैसे ही "बृहन्तो नाम ते देवाः" इत्यादि मन्त्रोंमें आया हुआ असत् शब्द भी प्रधानका वाचक नहीं है ॥ इति आनुमानिक अधिकरण ॥ १ ॥

(अथ चमस अधिकरण ॥ २ ॥)

(८) देवोंके पानपात्रको चमस कहते हैं। शुक्लयजुर्वेद-(२३।५५) में एक प्रश्न है कि "का ईमरे पिशङ्गिला = अरे, यह पिशङ्गिला कौन है ?" इसका उत्तर दिया गया कि "अजारे पिशङ्गिला" (य० २३।५६) = "यह अजा ही पिशङ्गिला है।" रूपोंको जो अपने भीतर समा ले वह पिशङ्गिला कही जाती है। वह पिशङ्गिला अजा = प्रकृति ही है। सब रूप उसीमें समा जाते हैं। जो जिसमें समा जाय वह उसका कारण होता है। इस रीतिसे अजा-प्रकृति-प्रधान ही जगत्कारण है। उसमें यह वैदिक मन्त्र प्रमाण है। व्यासजी इसका उत्तर करते हैं। याज्ञिकोंका एक पात्र चमस कहा जाता है। वेदोंमें कई स्थानमें चमस शब्द आया है। परन्तु जैसे उपासनाप्रकरणमें पात्र अर्थमें चमस शब्द निरर्थक है वैसे ही उपासना प्रकरणमें अजा शब्द प्रधान वाचक नहीं है। परन्तु तब इतना अभी शङ्कास्पद है कि उपासनास्थलसे अतिरिक्त अजाशब्द प्रधानवाचक है या नहीं ? यदि है तो वह जगत्कारण है या नहीं। इसका उत्तर इतना ही है कि वेदमें सांख्यवादियोंके तत्त्व अवश्य उपस्थित हैं। अथर्ववेदमें नवम काण्डमें बहुत स्पष्ट विवरण सांख्यमतका प्राप्त है। परन्तु जैसे सांख्यवादी ईश्वर-

निरपेक्ष प्रधानको जगत्कारण मानते हैं वैसे वेद नहीं मानते। वेदोंके मतमें ईश्वर एकतत्त्व है ही ॥

(९) वेदोंमें जिस अजाका वर्णन है वह ज्योतिरुपक्रमा है=परमात्माके अधीन रहकर ही वह अपना कार्य करती है। स्वतन्त्र-रूपसे वह कुछ नहीं कर सकती। ऐसाही अथर्ववेद (४।२।२) में वेनने कहा है ॥

(१०) कल्पन अथवा कल्पनाका अर्थ रचना=सृष्टि है। वेदोंमें सृष्टिका स्वीकार किया गया है। "यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई" (ऋ० १०।१२९।७)। सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई वही अजा है। वह अजा अनित्य है, ऐसा मानकर यह सूत्र है। वैदिक कर्मकाण्डके प्रातिपादक ब्राह्मणग्रन्थोंमें अनेक लोकविश्रुत शब्दोंके भी अन्य अर्थ किये गये हैं। उदाहरणके लिये मधु शब्दको लें। शतपथब्राह्मणमें कहा है कि "यजुःको मधु कहते हैं, त्यृचको मधु कहते हैं, रसको मधु कहते हैं" (७।४।१।४)। बर्हिका अर्थ लोकमें कुश होता है। परन्तु शतपथमें "यह लोक बर्हि है" (१।३।३।२४) ऐसा कहा है। जो मधु नहीं है उसे भी जैसे मधु कह दिया गया अथवा जो बर्हि नहीं है उसे भी बर्हि कहा गया वैसेही अजन्या न होने पर भी प्रधानको अजा कह दिया गया। कोई विरोध नहीं है।

किंच सृष्टिके उपदेश होनेसे अजाका अजात्व नष्ट नहीं होता। परमात्मा जैसे जीवका नियामक है तो भी जीव नित्य ही है वैसे ही अजा भी परमात्माकी नियाम्य होने पर भी अजा ही है। सृष्टि भले अजा न हो, सृष्टिका कारण प्रकृति तो अजा ही है। इति चमस अधिकरण ॥ २ ॥

(११) सांख्योंने २४ तत्त्व माने हैं। उनका आग्रह है कि वेदोंमें भी यही २४ तत्त्व हैं। जैसा कि यजुर्वेद (१४।२८-३१) में

एकसे आरम्भ करके ३३ संख्याओंका संग्रह किया गया है। उन तेंतीसोंसे सृष्टिका वर्णन किया गया है। एकसे स्तुति करनेपर प्रजा उत्पन्न हुई। तीनसे स्तुति करनेपर ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। पांचसे स्तुति करनेपर भूत (तत्त्व) उत्पन्न हुए। सातसे स्तुति करनेपर सप्त ऋषि हुए। नवसे स्तुति करनेपर पितर हुए। ११ से स्तुति करनेपर ऋतु हुए। १३ से स्तुति करनेपर मास हुए। १५ से स्तुति करनेपर क्षत्रिय हुए। १७ से स्तुति करनेपर ग्राम्य पशु गो, अजा इत्यादि हुए। १९ से स्तुति करनेपर शूद्र और वैश्य हुए। २१ से स्तुति करनेपर एक खुरवाले पशु हुए। २३ से स्तुति करनेपर क्षुद्र पशु हुए। २५ से स्तुति करनेपर जङ्गली पशु हुए। २७ से स्तुति करनेपर द्युलोक और पृथिवी-लोक हुए। २९ से स्तुति करनेपर वनस्पति हुए। ३१ से स्तुति करनेपर प्रजा हुई। ३३ से स्तुति करने परभूत शान्त हुए।

---

(१) एकसे = वाणीसे। (२) तीनसे = प्राण, अपान, व्यानसे। (३) पांचसे = पांच प्राणोंसे। (४) सातसे = २ कान, २ आँखें, २ नासिकाएं, १ वाक्। (५) नवसे = कान आदि सात और दो अधः प्राण। (६) ११ से = १० प्राण, १ आत्मा। (७) १३ से = १० प्राण, २ पाद, १ आत्मा। (८) १५ से = १० हस्ताङ्गुलि, २ बाहू, २ हाथ, १ नाभिका ऊर्ध्वभाग। (९) १७ से = १० पादाङ्गुलि। २ ऊरू, २ जानु, २ पाद, १ नाभिका ऊर्ध्वभाग। (१०) १९ से = १० हस्ताङ्गुलि, ९ देहच्छिद्र (११) २१ से = २० हाथ पैरकी अंगुलियां, १ आत्मा (१२) २३ से = २० अंगुलियां, २ पाद, १ आत्मा (१३) २५ से = २० अङ्गुलियां, २ हाथ, २ पैर, १ आत्मा (१४) २७ से = २० अङ्गुलियां, २ भुज, २ पाद, २ ऊरु, १ आत्मा (१५) २९ से = २० अङ्गुलि, ९ छिद्र (१६) ३१ से = २० अङ्गुलियां, १० इन्द्रिय, १ आत्मा (१७) ३३ से = २० अङ्गुलि, १० इन्द्रिय, २ पाद, १ आत्मा।

इस वर्णनमें पुनरुक्ति बहुत है। अतः मास और ऋतुको पृथक् न गिनें (क्योंकि मास बिना ऋतु बन ही नहीं सकते) तो ३३ मेंसे एक क्रम कम होगा तब ३१ संख्या रहेगी। संख्या एकसे और ३० से दो बार प्रजासृष्टि कही गयी है। इनमेंसे एक छोड़ दें तो एक क्रम कम होगा तब २९ संख्या रहेगी। २१ से एक शफवाले पशुओंकी सृष्टि कही गयी है उसे छोड़ दें क्योंकि ग्राम्य और जंगली पशुओंमें ही उनका समावेश हो जाता है। तब अब २७ संख्या रहेगी। ३३ वीं संख्यासे किसीकी उत्पत्ति नहीं कही गयी है। अतः उसे छोड़ दें तो २५ संख्या ही रह जाती है।

इस प्रकारसे सांख्योंकी २५ संख्याका संग्रह वेदोंमें होता है। इसका खण्डन व्यासजी करते हैं कि यह संख्या तो न्यूनाधिक भी हो जाती है। प्रजासृष्टिमें ही क्षत्रिय, शूद्र, अर्थकी भी सृष्टि हो गयी तब पुनः दो संख्याओंका क्यों स्वीकार करना चाहिये। तब तो संख्या और भी घटेगी। यदि प्रजाके अन्तर्गत उन्हें न मानकर संख्यारक्षण करोगे तो जिनको तुमने कम किया है, वह भी क्यों न रहें? और तब संख्या बढ़ जावेगी। अतः वेदोंमें सांख्योंके तत्त्वकी संख्या नहीं है।

(१२) और यजुर्वेदके उस प्रकरणसे प्राणादिकी उत्पत्ति तो नहीं कही गयी है। अतः प्राण, इन्द्रिय आदिकी भी उत्पत्ति कहनी चाहिये। तब तो तुमारी २५ संख्या टूट ही जायगी।

(१३) उसी प्रकरणमें यवादि अन्नकी भी उत्पत्ति कही गयी है। संख्यारक्षणके लोभसे सांख्योंने उसे छोड़ दिया। ज्योतिष्= अग्नि, सूर्य चन्द्रादिकी भी सृष्टि कहनी चाहिये। ऐसा करनेपर संख्या और भी बढ़ जावेगी। इति संख्योपसंग्रह अधिकरण॥ ३॥

(अथ कारणत्व अधिकरण ॥ ४ ॥)

(१४) ऋग्वेद (१०।१२९।२) में लिखा है कि तपसे जगत् उत्पन्न हुआ। अथर्ववेद (१३।१।१६) कहता है कि रोहितसे जगत् उत्पन्न हुआ। शुक्लयजुर्वेद (३४।२२) कहता है कि सोमसे जगत् उत्पन्न हुआ। फिर वही कहता है कि स्वयम्भूसे जगत् उत्पन्न हुआ। इस रीतिसे जगत्के कारण भिन्न २ बताये गये हैं। शङ्का करनेवाला कहता है कि सूर्य, सोम स्वयम्भू आदि जब जगत्कर्ता माने गये हैं तो प्रधानको ही जगत्कर्ता क्यों न मान लिया जाय? क्योंकि वेदमें असत्से भी जगदुत्पत्ति मानी गयी है। वह असत् प्रधान ही है। इसका उत्तर। आकाशादिमें जो कारणता कही गयी है वह तो वेदोंमें समानरूपसे ही है। अर्थात् एक मन्त्रमें जिस प्रकारकी कारणता आकाशादिमें कही गयी है, सब मन्त्रोंमें भी वही कारणता है। आकाशादिमें कारणता आकाशादिको भी ब्रह्म मानकर ही है। यह बात पीछे सविस्तर कही गयी है। अतः जिन २ मन्त्रोंमें आकाशादिको कारण बताया गया हो वहाँ २ सर्वत्र आकाशादिका अर्थ परमात्मा ही समझना चाहिये।

(१५) जहाँ २ वेदमन्त्रोंमें आकाशादि शब्दोंके अर्थमें भ्रान्ति हो वहाँ सर्वत्र ब्रह्मका आकर्षण अर्थात् अध्याहार करना चाहिये। जहाँ असत् शब्द वेदमें सृष्टिप्रकरणमें कर्ताकेलिये आया है वहाँ असत् शब्दसे भी सत्=ब्रह्मका ही ग्रहण करना चाहिये। वैदिक पद्धतिके अनुसार ही असत्के "अ" का लोप नहीं हुआ है। परन्तु अर्थ "सत्" ही है।

(१६) ब्रह्म शब्द जगद्वाचक है। विश्वेश्वरवाद के अनुसार समस्त जगत् ब्रह्मरूप है। वेद भी इसे स्वीकार करता है। अतः जगत्की उत्पत्तिके प्रकरणमें ब्रह्मकी ही उपस्थिति न्याय्य है। ब्रह्मका ही परिणाम जगत् है अतः जगत् ही ब्रह्म है।

(१७) "वेदोंमें जहाँ जीवलिङ्ग हो अथवा मुख्यप्राण-आकाश आदि लिङ्ग हों वहाँ उन्हींकी उपस्थिति योग्य है ब्रह्मकी नहीं।" इस कथनका उत्तर पूर्वमें दिया जा चुका है। उपक्रम-उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति ये छ लिङ्ग हैं जिनसे वेदके अर्थोंका निर्णय किया जाता है। जहाँ उपक्रम और उपसंहार विरुद्ध न जाते हों वही अर्थ स्वीकृत होना चाहिये। प्रकरणके अनुसार अर्थ होना चाहिये।

(१८) जैमिनिआचार्यका भी यही मत है कि सृष्टि और उपासनाके प्रसङ्गमें आये हुए कोई भी लौकिकार्थ कहनेवाले शब्द ब्रह्मको ही कहते हैं। दूसरे आचार्य भी कहते हैं कि वेदोंमें प्रश्नोत्तरोंके मननसे भी यही प्रतीत होता है कि लौकिकार्थवाचक शब्द प्रकरणके अनुसार ब्रह्मरूप अर्थको कहते हैं। जैसा कि अथर्ववेदमें प्रश्न है कि "जिसका शिर वैश्वानर है, जिसके चक्षु अङ्गिरस हैं, यातु जिसके अङ्ग हैं वह स्कम्भ कौन है, मुझे कहो।" (१०।७।१८) इस मन्त्रमें अङ्गोंकी कल्पना होनेसे यहाँ जीवलिङ्ग है। तथापि यहाँ ब्रह्मका ही बोध होता है। क्योंकि इसके आगेके ही मन्त्रोंमें कहा गया है कि "इस स्कम्भमें तप रहता है, सत्य रहता है और सब कुछ रहता है"।

(१९) उन सब वाक्योंका अन्वय ब्रह्ममें ही उचितरूपसे होता है अन्यत्र नहीं। इसलिये भी सर्वत्र ब्रह्मका ही अध्याहार होना योग्य है। इति कारणत्व अधिकरण ॥ ४ ॥

(अथ प्रतिज्ञा-अधिकरण ॥ ५ ॥)

(२०) इस अधिकरणमें शङ्का यह है कि यजुर्वेदके ४० वें अध्यायके मन्त्रमें कहा गया है "कि इस आदित्यमण्डलमें जो अन्तर्यामी पुरुष (परमात्मा) है वह मैं ही हूँ।" इससे तो जीव-

ब्रह्मका अभेदसिद्ध होता है, भेद नहीं। इसके उत्तरकेलिये व्यासजी कहते हैं—

आश्मरथ्य आचार्य कहते हैं कि अथर्ववेदमें परमात्माकी प्रतिज्ञा है कि "हे जीवो, मैं तुमारे बन्धनको काटता हूँ और जो मेरी परतन्त्रता तुमपर लदी हुई है उसे भी दूर करता हूँ" (७।७८।१)। यजुर्वेदका उपर्युक्त वचन अथर्ववेदके इस वचनकी पूर्ति है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं धनिक हूँ, मैं निर्धन हूँ, इत्यादि अज्ञान जीवमें भरे पड़े हैं। जिस जीवके यह अज्ञान परमात्मकृपासे दूर हो जाते हैं वह अपनेको स्वतन्त्र मानता है। उसपरसे विधि-निषेधका चक्र दूर हो जाता है। परमात्माकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाती है। इसी प्रतिज्ञापूर्तिका सूचक यह वाक्य है कि "सूर्यमण्डलमें जो पुरुष है वही मैं हूँ।" इसमें अभेद नहीं भेद ही प्रतीत हो रहा है। वही मैं हूँ, यहाँपर वही शब्द भी है और मैं शब्द भी है। यही बताता है कि भेद दूर नहीं हुआ है विधिनिषेधका चक्र दूर हुआ है।

(२१) औडुलोमिके मतसे आश्मरथ्यका यह आशय है कि "जैसे धनुष्से छूटा हुआ बाण अपने लक्ष्यतक पहुँचकर ही शान्त होता है वैसे ही कर्मफलसे प्राप्त हुआ शरीर भी प्रारब्ध कर्मफल भोगकर ही नष्ट होता है। अतः शरीरनाशपर्यन्त जीव यहाँ ही अजस्र होकर=सुखदुःखसे अलिप्त होकर ज्ञानदशामें रहता है।" औडुलोमि इस मतको नहीं मानते। वह कहते हैं कि ज्ञानोदयसे सभी कर्मोंका क्षय हो जाता है। प्रारब्ध भी नष्ट हो जाता है। अतः अनन्यभक्तिसे अथवा दृढज्ञानने सज्ज होकर जब शरीर छोड़नेको जीव उद्यत होता है उसी समय वह बोलता है कि "मैं वही हूँ जो आदित्यमण्डलमें है" और यह कहकर जीव मुक्त हो

जाता है। शरीरपात हो जाता है। धनुषसे छूटे हुए बाणका दृष्टान्त एकदेशी है। धनुषसे छूटा बाण अनेक बार अपने लक्ष्यतक न पहुँचकर बीचमें ही रह जाता है। कभी शत्रुके बाण ही उस बाणको काट डालते हैं। महाभारत और रामायणके कितने ही पात्रोंके बाण बीचमें ही काटे गये हैं। आश्मरथ्यके मतसे जिनके कर्मबन्धन क्षीण हो चुके हैं परन्तु प्रारब्ध अवशिष्ट है वह संसारमें सशरीर रहकर भी ब्रह्मभाव प्राप्त करते हैं। औडुलोमिके मतसे ज्ञानोदय होते ही संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध तीनों ही कर्म नष्ट हो जाते हैं और संसारमें उसे रहनेका कोई कारण अवशिष्ट नहीं रह जाता। आश्मरथ्यके मतके लोग ही जीवन्मुक्तदशाको स्वीकार करते हैं। उपनिषदोंने जब कर्मकाण्डके विरुद्ध आक्रमणका आरम्भ किया तब कर्मकाण्डी विद्वान् हताश हो गये। उनकी दृष्टिमें कर्म-प्रतिपादनके अतिरिक्त वेदोंका कोई प्रयोजन ही नहीं था। उपनिषदोंका बल बढ़ता गया। संहिताओंकी ओर अवहेलनादृष्टि हुई अतः विशुद्ध वैदिकसिद्धान्त बता सकनेमें उपनिषद् भी असमर्थ हुईं। छान्दोग्य और बृहदारण्यकने तो अन्ततक जुहूका त्याग नहीं किया। ब्रह्मसुखकी उपदेशिका उपनिषदोंने ज्ञानग्रन्थमें ज्ञानोपदेशके पश्चात् माष-तिल खिलाकर बालबच्चे पैदा करनेका भी उपाय बतानेका साहस किया। उपनिषदोंकी यह करुण दशा है। संहिता-ओंमें उपनिषदोंकी अपेक्षा उन्नतम ज्ञानका सीमाचिह्न दृष्टिगत होता है। व्यासजीने जब यह सूत्र लिखे, तो निस्सन्देह सब आचार्योंके साथ मैं भी यह मान रहा हूँ कि उनके सामने उपनि-षद् ही आदर्श थीं। परन्तु यदि उपनिषद् वेदानुयायिनी हों तो उन्हें वेदसे तनिक भी पृथक् नहीं जाना चाहिये। औडुलोमिका मत आश्मरथ्यसे उत्तम है। पूर्णज्ञानका चिह्न ही यह है कि ज्ञानोदय होते ही उसके शरीरका पात हो जाय। सूर्योदयकालमें

अन्धकार कैसे रह सकता है, यही अविज्ञेय और दुरूह है।

(२२) काशकृत्स्न आचार्यका मत है कि "योसावादित्ये पुरुषः" यह कथन उस ज्ञानीका है जो ब्रह्मभावको प्राप्त नहीं कर चुका है किन्तु ब्रह्मभावकी स्थितिमें है। जिस स्थितिमें हर्ष-शोक, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वोंकी प्रतीतिका अभाव होने लगे वह ब्रह्मभावावस्थितिकाल है। जिसमें सुख-दुःखादिकी प्रतीति ही न हो और उस प्रतीतिका साधन देह नष्ट हो जावे वह ब्रह्मभावकाल है। ब्रह्मभावकालमें "योसावादित्ये पुरुषः" बोला ही नहीं जा सकता। ब्रह्मसूत्रके चतुर्थाध्यायकी व्यवस्था उसके भाष्यमें करूँगा।

इति प्रतिज्ञा अधिकरण ॥ ५ ॥

अथ प्रकृति-अधिकरण ॥ ६ ॥

(२३) अपने आश्रित जीवोंका उद्धार करना परमात्माकी प्रकृति है। प्रतिज्ञा और दृष्टान्तसे ऐसा ही प्रतीत होता है। प्रतिज्ञा तो पीछे कही गयी है—"मैं तेरे बन्धनको काटता हूँ" इत्यादि। दृष्टान्त यह है—"मैं कौन हूँ, यह मैं नहीं जानता। कर्म अथवा अज्ञानसे बँधा हुआ मैं जहाँ तहाँ भटक रहा हूँ। जब सौभाग्यसे परमसत्य परमात्मा मुझे प्राप्त होता है तब उसके आश्वासनवचनका मैं अनुभव करता हूँ" (अथ० ९।१०।१५)। इस मन्त्रसे यह सिद्ध है कि परमात्मा जीवोंके रक्षणकी प्रतिज्ञा करके, उनमें प्रादुर्भूत होकर आश्वासन देता रहता है।

(२४) परमात्मा शरणागत जीवोंका चिन्तन करता रहता है, यह भी उसकी प्रकृति ही है। ऋग्वेद (३।५।६) में कहा है कि "मेधावी परमात्मा बिना किसी प्रमादके जीवोंकी रक्षा करता है।

(२५) जड और अजड=चेतन दोनोंका परमात्माके साथ साक्षात् सम्बन्ध भी वेदोंमें कहा गया है। अतः परमात्मा सदा अपने रक्ष्यकी रक्षामें सावधान रहता है।

(२६) परमात्माने ही जड और अजड=चराचर जगत्को उत्पन्न किया है अतः जन्यजनकभावरूप सम्बन्ध परमात्माके साथ चराचरका स्थिर है।

(२७) जिस प्रकारसे जड परमात्माका ही प्रकृतिद्वारक परिणाम है वैसे ही जीव भी परमात्माका ही परिणाम है। यद्यपि जीव नित्य है उसको परिणाम या कार्य नहीं कह सकते तथापि वह कभी देवदत्त कभी यज्ञदत्त बनता है, बालक और कभी युवा बनता है, इस प्रकारका देहद्वारकपरिणाम उसमें जो होता रहता है उसका कारण भी परमात्मा ही है। और इस रीतिसे जीव भी परम्परया=गौणरूपसे परमात्माका परिणाम कहा जाता है।

(२८) वह परमात्मा ही वेदोंमें सबकी=जड और चेतनकी योनि=उत्पत्तिभूमि कहा गया है। जडाजडके परिणामकी योनि परमात्मा ही है। इति प्रकृति-अधिकरण ॥ ६ ॥

(अथ सर्वव्याख्यान-अधिकरण ॥ ७ ॥)

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ १।४।२९ ॥

(२९) जिन शब्दोंको यहाँपर परमात्म-परक नहीं बताया गया है उन्हें भी इसी प्रकारसे प्रकरणके अनुसार परमात्माकेलिये ही समझ लेना चाहिये। स्त्रीलिङ्गमें भी यदि कोई शब्द प्रयुक्त हुआ हो और प्रकरणमें ईश्वरका ही अर्थ संगत होता हो तो उसे भी परमेश्वरकेलिये ही मान लेना चाहिये। परमात्मा तो न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है। वह सबसे पृथक् होता हुआ भी सब कुछ है। अतः सभी शब्द उसके वाचक हैं। यद्यपि परमात्मा और शब्दमें वाच्य-वाचक सम्बन्ध भी नहीं है क्योंकि वह सर्व-सम्बन्धसे रहित है। तथापि वह सबकुछ है और सबसे उसका

सर्वसम्बन्ध है। इस रीतिसे वाच्यवाचक सम्बन्ध भी उसमें मान लिया गया है॥ १।४।२९॥ इति सर्वव्याख्यान अधिकरण॥ ७॥

उपसंहार

वेदान्तदर्शनका एक अध्याय-प्रथमअध्याय यहाँ समाप्त होता है। इस अध्यायसे इसके पढ़नेवाले वा अभ्यासीको क्या उपदेश मिला या मिल सकता है, इसका संक्षेपसे विचार करना चाहिये। ब्रह्मजिज्ञासाकेलिये इस शास्त्रका आरम्भ हुआ है। अतः ब्रह्मज्ञान ही इसका फल होना चाहिये। ब्रह्मज्ञानके अनेक अर्थ साम्प्रदायिकोंने किये हैं। ब्रह्मसम्बन्धी ज्ञान अथवा ब्रह्मका परिचय यह ब्रह्मज्ञानशब्दका मुख्य अर्थ है। कितने ही दार्शनिकोंने "मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकारका ज्ञान होना ब्रह्मज्ञानशब्दका अर्थ स्वीकार किया है। मैं ही ब्रह्म हूँ, इस ज्ञानका तात्पर्य, ब्रह्मके साथ जीवका अभेद प्रतिपादन करनेमें है। जीव एक ऐसा वस्तु है जिसका सामान्यज्ञान प्रत्येक मनुष्यको है। खाता है, पीता है, सोता है, जागता है, पढ़ता है, लिखता है, इत्यादि क्रियाओंके कर्ताको जीव कहा जाता है। जीव कोई नित्य और अनादि वस्तु है, यह अभीतक, प्राचीन ग्रन्थोंके प्रमाणोंके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे सिद्ध नहीं हो सका है। वैदिक दार्शनिकोंमें अद्वैतदर्शन और विशिष्टाद्वैतदर्शन मुख्य हैं। अद्वैतदर्शन जीवको कोई स्थिर तथा सत्तत्त्व स्वीकार नहीं करता। उस दर्शनने एक अविद्या मान रखी है। उसीके ढाँचेमें जीव ढला करता है। उस अविद्याको अनादि भी मान लिया है अतः जीवभाव भी अनादि ही माना गया है। परन्तु जीवभाव प्राप्त करानेवाली अविद्या अनादि होती हुई भी अनन्त नहीं है, उसका एक दिन नाश अवश्य होता है। अतः उसके द्वारा प्रादुर्भूत जीवभाव भी अनन्त नहीं है, उसका भी एक

नियत वा अनियत तिथिमें नाश अवश्य होता है। विशिष्टाद्वैत-दर्शनने जीवको नित्यतत्त्व स्वीकार किया है। अद्वैतदर्शनने जिस प्रकारसे जीवके स्वरूपमें ही—स्वशरीरमें ही सर्वथा परिवर्तन स्वीकार किया है, विशिष्टाद्वैतदर्शनने वैसा न मानकर, उसके ज्ञानमें परिवर्तन स्वीकार किया है। उसका ज्ञान बढ़ता है, घटता है, कुमार्गमें भी जाता है, सन्मार्गमें भी जाता है। उसका एक पृथक् स्वरूप माना गया है परन्तु वह स्वरूप क्या है, इसका किसीको पता नहीं है। जीव कोई देहधारी वस्तु तो नहीं ही माना गया है। माना भी नहीं जा सकता। ज्ञान उसका विशिष्ट धर्म है। उसी ज्ञानमें परिवर्तन होता रहता है। इस रीतिसे जीवके सम्बन्धमें परिवर्तनवाद दोनोंमें समान है। एकके यहाँ जीवजात-वाद है और दूसरेके यहाँ जीवाजातवाद है। इसीका प्रतिफल यह है कि एकको स्वरूपतःजीवनाश मानना पड़ता है और दूसरेको ज्ञानद्वारा नाश मानना पड़ता है। इन दोनोंमें सत्य चाहे जो हो, परन्तु इतना तो सत्य ही है कि जीवका स्वरूप अद्यावधि स्थिर नहीं हो सका है। जैसे जीव अनिश्चित वस्तु है वैसे ब्रह्म भी अनिश्चित वस्तु है। जीवका सामान्यज्ञान तो सामान्यजनको भी होता है परन्तु ब्रह्मका ज्ञान सामान्यज्ञानियोंको भी नहीं होता। तो भी अद्वैतदर्शनने ज्ञाताज्ञातको अभिन्न मानने मनानेका बड़ा भारी प्रयास कर रखा है। विशिष्टाद्वैतवादने ब्रह्मके भी पञ्चसंस्कार किये हैं। मस्तकमें तिलकसंस्कार, गलेमें कण्ठीसंस्कार, बाहुमें आयुधसंस्कार राम, विष्णु, भगवान् आदि नामसंस्कार। मन्त्र-संस्कार तो इन्हीं चारों संस्कारोंका परिणाम है। इस प्रकारसे भगवान् यह ब्रह्मका एक नाम बना है। अपनेको भगवान्का दास मानना यही जीवस्वरूप कहा गया है। यह भी ज्ञाताज्ञातमें ही स्व-स्वामिभाव, सेव्य-सेवकभाव आदिकी कल्पना हुई है। इस

प्रकारसे भिन्नार्थस्वीकारके कारण ब्रह्मज्ञानशब्दका अर्थ भी सर्वथा अनिश्चित है। तब यह बड़ा भारी प्रश्न उपस्थित है कि व्यासजी अपने इस दर्शनसे प्रजाको क्या सिखाना चाहते हैं ?

भ्रम और भय यह दो भकार जिसके नष्ट हो गये हैं—समूल नष्ट हो गये हैं, उसके अतिरिक्त इस प्रश्नका उत्तर न कोई दे सकता है और न कोई समझ सकता है। जिन्होंने इन दो भकारोंका नाश किया है उनकेलिये निम्नलिखित उत्तर पर्याप्त है। ब्रह्म कोई स्थिर तत्त्व है या नहीं, वह कोई सत्यवस्तु भी है वा नहीं, इस विवाद-ग्रस्त विचारसे कभी किसीको लाभ नहीं है। उसके जो धर्म माने गये हैं उन धर्मोंके साथ ही जीवका सम्बन्ध है। ब्रह्मके लोकोत्तर गुणोंका अपनेमें आधान करना ही मुख्यवस्तु है। ब्रह्म सत्य है। और सब कुछ मिथ्या है; भगवान् दयालु, सत्यवादी और न्यायी है, इतना ही मान लेनेसे न तो अद्वैतदर्शनको कुछ लाभ हो सकता है और न विशिष्टाद्वैतदर्शनको ही। दोनोंको ब्रह्म और भगवान्के धर्म अपनेमें ले आने हैं। जबतक वह धर्म जीवमें नहीं आते तबतक सब कुछ निरर्थक है। व्यासजीने इस प्रथमाध्यायमें पहिला वस्तु यही बताया है कि अग्नि, वायु, वरुण (जल) पृथिवी, आकाश, इन्द्रादिदेव, सूर्य, चन्द्र, सब कुछ परमात्मा ही है, परमात्माके ही नाम हैं। सब कुछ परमात्माके ही स्वरूप हैं। पञ्चभौतिक तत्त्वोंसे बने हुए विभिन्नजातीय शरीर भी भगवान्के ही शरीर हैं। भगवान्के शरीरमें विषमतादर्शन पाप है। अतः व्यासका सर्वप्रथम उपदेश सर्ववस्तुमें, प्राणिमात्रमें, अभेददर्शन है—स्वात्मदर्शन है—ब्रह्मदर्शन है। किसीके साथ घृणा न करना, व्यभिचार न करना, वञ्चना न करनी यह अभेददर्शनके फल हैं। वीर बनना, निर्भय रहना, प्राणान्तमें भी स्वीकृत सत्यका त्याग न करना, कामक्रोधादिविकाररहित होना, समयपर दुष्टोंके

दण्डकेलिये न्याय्यमार्गका ग्रहण करना, धर्मद्रोहियोंका अन्त करना, धर्माधर्मका विचार देश-कालकी परिस्थितिके अनुसार करना, यह सब जीवब्रह्ममें अभेददर्शनके अथवा जीव और भगवान्में स्व-स्वामिभावकी कल्पनाके अन्तिम और सर्वोत्कृष्ट फल हैं। सर्वप्रकारकी परतन्त्रताओंका वीजनाश ब्रह्मज्ञानका प्रथम और अन्तिम ध्येय है। पाषण्ड परतन्त्रता है। मिथ्याप्रचार, मिथ्यास्तुति यह सबसे बड़ी परतन्त्रता है। अतः यह सब ब्रह्म और ब्रह्मविद्के लक्षण नहीं हैं। आज तो हम अंग्रेजोंकी परतन्त्रतासे छूटे हुए हैं। आज भी किसीको यदि यह न प्रतीत होता हो कि बिना किसी परीक्षापत्रके उत्तर लिखे ही रायबहादुर, दीवानबहादुर और महामहोपाध्याय आदि बनना पाप और देशद्रोह ही है तो समझना चाहिये कि वह व्यक्ति अभी केवल ब्रह्मका नाम ही जान सकी है। उसकेलिये ब्रह्मज्ञान स्वप्नका वस्तु है। यदि ब्रह्मज्ञानी भी—ब्रह्मविद् भी यह मानता हो कि अमुक स्पृश्य है और अमुक अस्पृश्य है तो अवश्य ही वह अभी महाविद्योंकी श्रेणीमें ही है। न तो वह भक्त है और न ज्ञानी है। ज्ञानीकी दृष्टिमें सर्वजगत् ब्रह्मरूप ही भासने लगता है। भक्तकी दृष्टिमें सम्पूर्ण विश्व इष्टस्वरूप प्रतीत होने लग जाता है। यही ज्ञान और भक्तिका फल है। दोनोंके यही दो लक्षण हैं। इसीलिये भागवतमें भक्तको अच्युतगोत्रवाला माना गया है। उसके अज्ञानकल्पित सभी बन्धन तिरोहित हो चुके होते हैं।

दूसरा वस्तु जो इस अध्यायसे उपदिष्ट हुआ है वह यह कि ब्रह्मजिज्ञासाका मनुष्यमात्र अधिकारी है। व्यासजीने यह कहीं नहीं लिखा कि ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी कौन है। यदि मनुष्योंका कोई अमुकवर्ग ही इस विद्याका अधिकारी होता तो वह स्पष्ट ही अवश्य अधिकारीका निर्देश करते। उन्होंने ऐसा कहीं नहीं किया

है अतः सिद्ध है कि ब्रह्मजिज्ञासाका मनुष्यमात्र अधिकारी है। किं च इसी तृतीयपादमें ३४वें और ३५वें सूत्रसे यह सिद्ध किया है कि जिस किसीको भी किसी प्रकारका दौर्बल्य प्राप्त हो और वर्णाभिमान आदि दुष्ट रोग लगे हुए हों उसे गुरुकी शरणमें जाना चाहिये। उस प्रकरणमें किसी वर्णविशेषको ही ज्ञानसम्पादन करना चाहिये, ऐसा नहीं लिखा है। उसी पादके ३९वें सूत्रसे केवल उन लोगोंकेलिये ब्रह्मजिज्ञासाका अथवा उसकेलिये आवश्यक वेदाध्ययनादिका निषेध किया है जो लोग जितेन्द्रिय नहीं हैं। जिन्हें पूर्ण वैराग्य प्राप्त नहीं हुआ है। ब्रह्मजिज्ञासाका मुख्य द्वार वेदाध्ययन नहीं है, किन्तु विवेक और वैराग्य है। वेदाध्ययन करनेवाले भी यदि धनदास और रमणीचरणदास हों तो उन्हें ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकार नहीं है। अर्थात् ऐसे लोग स्वयम् इस मार्गसे पराङ्मुख रहा करते हैं। और यदि ऐसे लोग ब्रह्मजिज्ञासाकेलिये आवें तो उपदेशक अपना व्यर्थकाल यापन न करे, उन्हें स्पष्ट कह दे कि तुम ब्रह्मचर्ययोग करो, सांसारिक विषयोंसे अलग रहनेका प्रयास करो। इतना कर लेनेके पश्चात् आवोगे तो तुम्हें ब्रह्मोपदेश करूँगा।

तीसरे वस्तुका उपदेश, इस अध्यायसे, यह हुआ है कि वर्ण और आश्रम सब कल्पित हैं। इनसे पारलौकिक लाभ कभी नहीं होता है। वर्णाश्रमके सम्बन्धमें व्यासजीने कुछ नहीं लिखा है, यही इस बातका समर्थक है कि वह वर्णाश्रमको किसी भी व्यवहारकेलिये अनावश्यक समझते हैं। यजुर्वेदमें जब 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" यह मन्त्र लिखा गया उससे पूर्व ही ब्राह्मणादिकी कल्पना हो चुकी थी। उस मन्त्रका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि ब्राह्मण ब्रह्मके मुखमेंसे पैदा हुए, क्षत्रिय भुजमेंसे, वैश्य जङ्घामेंसे और शूद्र पादमेंसे। एक तो ब्रह्मके मुखका कहीं वर्णन नहीं है।

वह अकाय है। यदि उसका मुख होगा तो वह भौतिक ही होगा। भौतिक मुख सभी लालाक्लिन्न और अशुद्ध होते हैं। कोई किसीका मुखचुम्बन इसीलिये नहीं करता कि वह अशुद्ध अङ्ग है। भुजस्पृष्ट वा पादस्पृष्ट जो वस्तु ग्राह्य होता है वही मुखस्पृष्ट होनेसे उच्छिष्ट होकर अग्राह्य हो जाता है। ऐसे निषिद्ध अङ्गसे उत्पन्न होनेवाला सर्वश्रेष्ठ हो ही नहीं सकता। ऊरुभाग भी आगे-पीछे दोनों भागोंमें अशुद्ध ही है। आगे मूत्रक्लिन्न और पश्चात् मलक्लिन्न रहता है। उससे पैदा हुआ भी कभी शुद्ध नहीं माना जाना चाहिये। इस तरहसे मुख और उसके मलिन भाग होनेसे मुखज और ऊरुज मलिन ही होंगे, निर्मल नहीं। रह गये बाहुज और पादज। यदि बाहुज बाहुमूलमेंसे पैदा हुए हों तो वह भी प्रस्वेदक्लिन्न स्थानसे ही पैदा होनेके कारण निकृष्ट ही हैं। रह गये विचारे पादज। मनुष्य-के अङ्गमें पाद ही एक ऐसी जगह है जिसे लोग अपना सेव्य और आश्रयणीय मानते हैं। "त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये" कहकर चरणोंमें ही प्रणाम किया जाता है, चरणधूरिको ही ब्राह्मणादि सभी मस्त-कपर धारण करते हैं। चरणोदक ही दिया जाता है, मुखोदक, और ऊरूदक कभी भी नहीं। चरणोंको धो धोकर पीते हुए लाखों आदमी देखे गये हैं परन्तु घँस घँसकर दांतोंसे मैल इकट्ठा करके, उसीको पानीसे कुल्ला करके उसे मुखामृत बनाकर पीता एक भी आदमी आजतक न देखा गया है और न सुना गया है। उस पवित्र पादसे पैदा हुआ अपवित्र माना जाय, यह व्यासकी बुद्धिके बाहरकी बात है। वेदोंमें या अन्यत्र यह लिखा मुझे नहीं मिला कि जो प्रथम ब्राह्मण मुखसे पैदा हुआ, जो प्रथम क्षत्रिय बाहुसे पैदा हुआ, जो प्रथम वैश्य ऊरुसे पैदा हुआ और जो प्रथम शूद्र पादसे उत्पन्न हुआ उनके नाम क्या थे और उनकी वंशपरंपरा कैसे चली। वह सब मिथुन पैदा हुए थे या अकेले ही। मिथुन थे तो

उनका विवाह किसने कराया। विवाह विना की सन्तान अप्रा-णिक सन्तान है। इत्यादि अनेक विचार हैं जो बाहरसे अवश्य हास्यास्पद लगते हैं परन्तु यही विचार हैं जो वर्णोंकी निरर्थक कल्पनाको निस्सार बना देते हैं। वर्णाभिमानने आज हिन्दू जातिको छिन्न भिन्न कर रखा है। हमारे इसी वर्णाभिमान और अज्ञानताकी क्रूर वेदी पर ९ करोड़ हिन्दुओंका बलिदान हुआ और वह मुसल-मान् बनकर आज हिन्दू जातिकी दुर्दशा कर रहे हैं। देव तोड़े गये देवालय तोड़े गये, ईश्वर मारा गया, ईश्वरके मुखज काटे गये, बाहुज तो काटनेकेलिये ही पैदा किये गये थे, ऊरुज भी कटे, पादज भी कटे। धन गया। धरणी गयी। हिन्दुस्त्रियोंका सतीत्व गया। यह सब वर्णवेदी पर ही कुर्बानियां हुई हैं। अभी भी हम नहीं चेते। अभी भी हम नहीं जगे। अभी भी हमारी आँखोंमें नींद है। अभी भी हमारे हाथ-पैर निस्तब्ध हैं। अभी भी विवेक और दूरदर्शिता हमसे दूर है। अब हमारा क्या होगा, कौन जाने? अस्तु, सत्य यही है कि ब्रह्मके मुखादि अवयवोंसे वर्णोत्पत्तिकी कल्पना ही सर्वथा मिथ्या है।

वेदान्तदर्शनने ब्रह्मजिज्ञासाका आरम्भ किया। इसके साथ ही जहां २ अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र, आकाश, इन्द्र, वरुण आदि देवी देवताओंकी उपासनाका प्रसङ्ग आया वहां सर्वत्र व्यास-जीने उनपर कठोर कुठाराघात किया है और सबको किसी विशिष्ट देवताका वाचक न मानकर उसी अखण्ड ब्रह्मका वाचक सिद्ध किया है। आर्योंके आनेसे पूर्व अनार्योंमें भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी, देवी, देवता, बलिया आदिसे डरने, भागने, प्रार्थना करने और उनके पूजनेकी जो अनार्यप्रथा थी, अनार्योंमें वह आ घुसी। आज तक पठित और अपठित, छोटे और बड़े, प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित सभी हिन्दु इस प्रथामें पड़े हुए हैं। इन सब व्यर्थकी

देवी देवताओंकी पूजासे पृथक् करना भी वेदान्तदर्शनका एक मुख्य उद्देश्य है। व्यासजीने अपने इस दर्शनमें कहीं पर भी इस प्रकारकी अनार्थ पूजाका संकेत भी नहीं किया है। लोगोंमें भेड़ियाधसान घुसा हुआ है। विवेकशक्ति मारी गयी है। लोग देखते हैं, अनुभव करते हैं कि यह देवी देवता लोगोंकी किसी प्रकारकी कोई भी सहायता नहीं करते तो भी उन्हें ही रक्षक और तारणहार मानकर मानता मानते हैं, पूजा करते हैं, विनाशकी ओर जाते हैं। इन काल्पनिक देवताओंकी पूजाका एक सबसे भयजनक परिणाम यह आया है कि लाखों हिन्दू, मुसलमानोंकी क़ब्रों, मज़ारों और ताजियोंको पूजने लग गये हैं। मुसलमान फ़क़ीरोंसे डोरा, धागा, जन्तर मन्तर कराने लगे हैं। उनके जूठे पानीको, बाल बच्चे होने या जीनेके लिये, पीने लग गये हैं। ताज़ियोंको उठानेवाले हिन्दू ही होते हैं। इन सब दुराचारोंपर प्रहार करनेकेलिये भी वेदान्तदर्शन का प्रस्थान है।

इतिश्री सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-परमहंसपरिव्राजक-स्वामिश्री-
भगवदाचार्यजीमहाराजप्रणीतायां वेदान्तदर्शने
सूत्रप्रसादिन्यां वृत्तौ प्रथमाध्याये
चतुर्थः पादः

कुछ शब्द

पाठक महानुभावो !

आपकी सेवामें यह वेदान्तदर्शनका वैदिकभाष्य उपस्थित है। स्वामी श्री भगवदाचार्यजी महाराजकी यह कृति है। केवल वेदोंकी संहिताओंसे अर्थात् वेदोंसे ही इसमें सूत्रार्थकी योजनाकेलिये मन्त्र संगृहीत हुए हैं, अतएव इस भाष्यका नाम वैदिकभाष्य रखा गया है। एक, दो स्थलों-पर ही उपनिषदोंका ग्रहण हुआ है। सर्वत्र अन्यत्र, वैदिकमन्त्र ही हैं। इस नवयुगमें, क्रान्तिके युगमें, शास्त्रार्थमें भी क्रान्ति होनी ही चाहिये। शास्त्रोंमें शास्त्रकार महानुभावोंकी अगम्य बुद्धिने सब कुछ रख छोड़ा है। महापुरुषोंको समयानुसार उन उन दिव्य अर्थोंका अनुभव हुआ करता है। उसी अनुभवकी उपज यह वैदिकभाष्य है।

इस संस्कृत-हिन्दी-संयुक्त ग्रन्थके मुद्रणादि कार्योंमें कुल १५००) व्यय हुए हैं। केवल पांच सौ प्रति ही छप सकी हैं। काग़ज़ोंका मिलना दुःशक है। छपाईका भाव आसमानमें चढ़ा हुआ है। संस्कृतविभाग गुजरातमें ही छपा है। वहां मुँहमाँगे भाव स्वीकार करके इसे छपानेका साहस किया गया है। व्ययके इन रूपयोंमेंसे केवल २८५) रू० श्रीरामानन्द साहित्य मन्दिर, अलवरके लगे हैं। शेष सभी व्यय ग्रन्थकर्ता श्री स्वामी जी महाराजके प्रबन्धसे ही प्राप्त हुआ है। साहित्य समृद्धिकेलिये और प्रजा-ज्ञान-समृद्धिकेलिये श्री स्वामीजी महाराजने इस ग्रन्थको मुद्रित कराकर श्री रामानन्दसाहित्यमन्दिर अलवरको अर्पण कर दिया है। इस महती उदारताकेलिये मन्दिरकी ओरसे मैं आपका उपकार-स्वीकार करता हूँ।

अध्यक्ष
श्री रामानन्द साहित्य मन्दिर,
अट्टा, अलवर (राजपूताना)
५—८—४७ ई०

निवेदक
महान्त श्रीकृष्णदास

यह हिन्दी विभाग

मुद्रक—बी० के० शास्त्री द्वारा;

ज्यौतिषप्रकाश प्रेस, बनारसमें मुद्रित हुआ ।